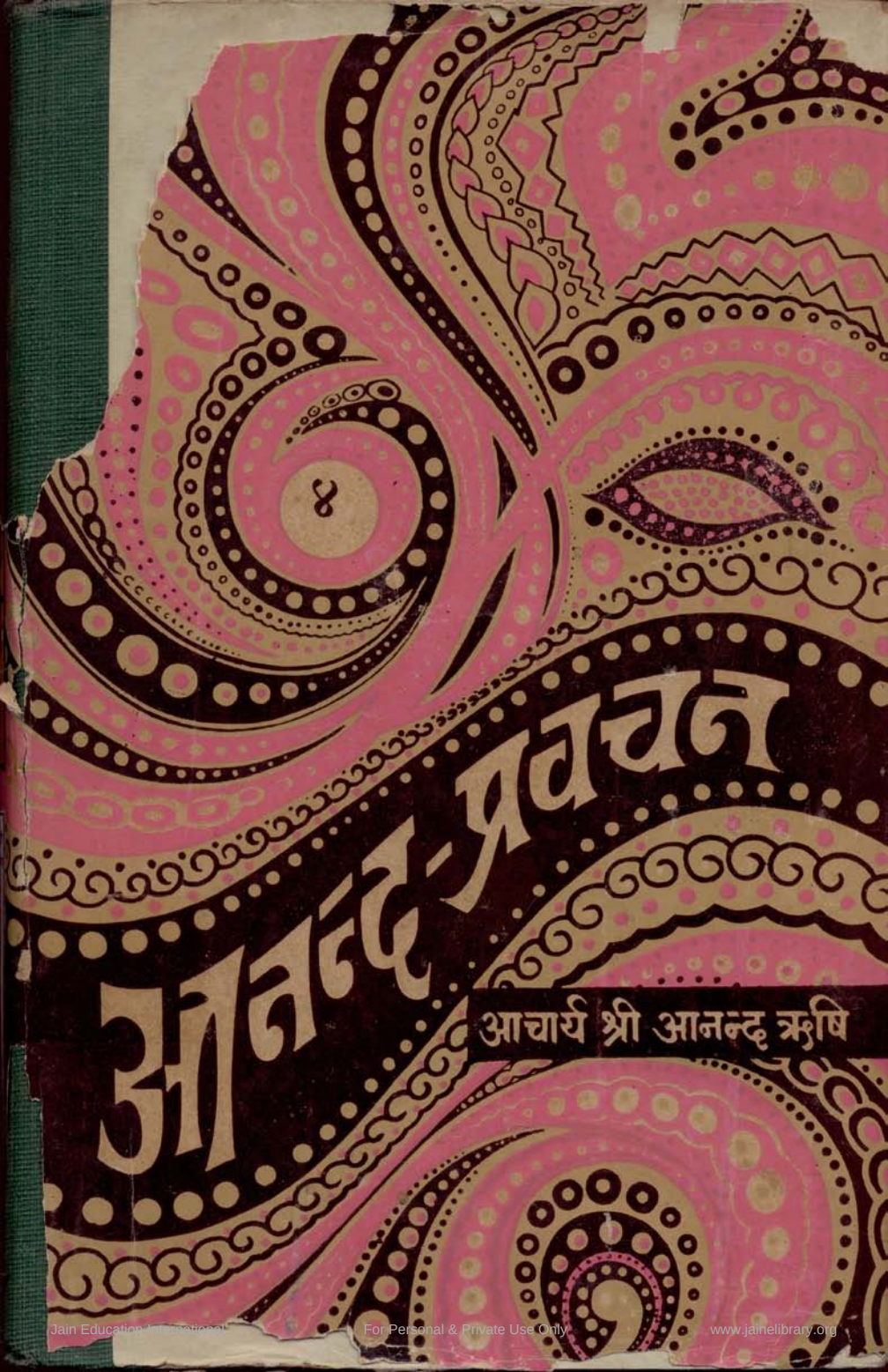

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

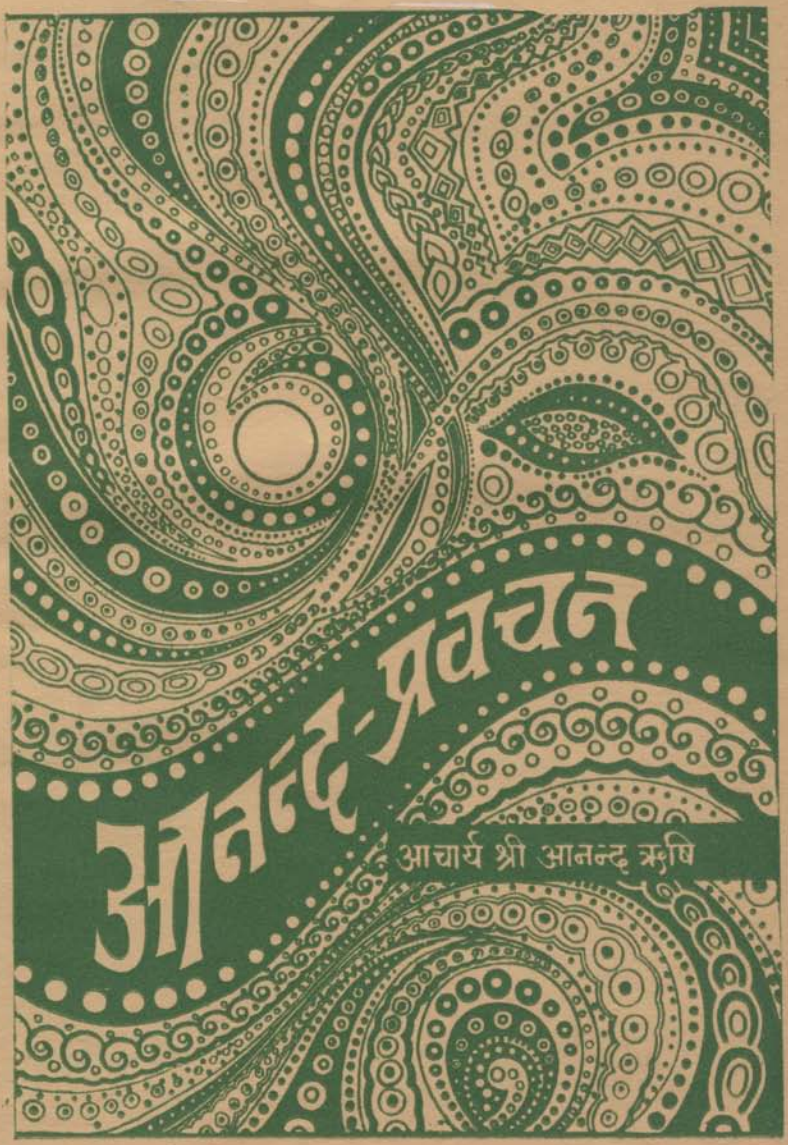

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द प्रवचन माला का चतुर्थ पुष्प

आनन्द प्रवचन

[चतुर्थ भाग]

प्रवचनकार

आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषि

संपादिका

कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

प्रकाशक :

श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री रत्न जैन पुस्तकालय का बीसवां रत्न

आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषि अमृत-महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रकाशित

संप्रेरक

श्री रतनमुनि : श्री कुन्दनऋषि

प्राप्तिस्थान—

श्री रत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी, अहमदनगर (महाराष्ट्र)

प्रथमबार

वि० सं० २०३० चैत्र
ई० सं० १९७४, मार्च

मुद्रणव्यवस्था

संजय साहित्यसंगम,
बिलोचपुरा, आगरा २ के लिए
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा २ में मुद्रित

[प्लास्टिक कवर युक्त ८) रु०]

मूल्य-बीस रुपये मात्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

अतीव हर्ष का विषय है कि हमारे श्रमण संघ के परम श्रद्धेय पूज्यपाद आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि जी म० सा० के प्रवचनों के संग्रह हम श्रद्धालु पाठकों के लिये प्रकाशित कर रहे हैं। 'आनन्द-प्रवचन' के रूप में प्रवचन माला का यह चतुर्थ पुष्प जनता के समक्ष आ रहा है।

आध्यात्म प्रेमी पाठकों की प्रेरणा से ही यह प्रकाशन प्रारम्भ किया गया था और उनकी बढ़ती हुई माँग के कारण ही यह जारी है।

पूर्व प्रकाशित प्रवचन संग्रहों को जिज्ञासु एवं धर्मप्रिय बंधुओं ने बहुत पसंद किया है, अतः इस माला के प्रकाशन में हमारी रुचि एवं उत्साह में अभिवृद्धि हो रही है। आप को भी यह जान कर हर्ष होगा कि 'आनन्द प्रवचन' का अगला पाँचवा भाग भी सम्पादित हो रहा है और वह शीघ्र ही आपको उपलब्ध हो सकेगा।

इसका सम्पादन सुश्री कमला जैन 'जीजी' एम० ए० कर रही हैं। यह संपादन अत्यन्त सफल एवं सराहनीय सिद्ध हुआ है।

आप जैन समाज के भूषण एव गणमान्य विद्वान पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल की सुपुत्री है। भारिल्ल सा० ने अपने जीवन में समाज की जो अथक सेवा की है वह चिरस्मरणीय है और अब अपनी पुत्री श्री कमला बहन को भी इस सेवा के लिये प्रेरित किया है इसके लिये हम अत्यन्त आभारी हैं।

साथ ही हम श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराणा के भी आभारी हैं जिन्होंने आनन्द प्रवचन के सभी भागों का मुद्रण अपने हाथ में लेकर पुस्तकों को अत्यन्त सुन्दर रूप प्रदान किया है।

आशा है प्रथम तीनों भागों के समान ही इस चतुर्थ भाग को भी पाठक पसन्द करेंगे और समुचित लाभ उठाएँगे।

—मंत्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

पाथर्डी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक दृष्टि

भारतीय संस्कृति को यदि सांगोपांग शरीर कहा जा सके तो निश्चय ही उसका हृदय अध्यात्म है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इस संस्कृति का सम्बन्ध मात्र व्यक्ति के साथ ही है। भारत की संस्कृति अपने आप में इतनी विराट् और व्यापक है कि वह व्यक्ति और समष्टि-दोनों को साथ लेकर चलती है। आजकल की विशुद्ध समाजवादी विचारधारा की तरह वह व्यक्ति (आत्मा) की उपेक्षा नहीं करती और न एकान्त व्यक्तिवाद के दायरे में संकुचित होती है। उसने व्यक्ति एवं समाज के समग्र जीवन को प्रशस्त आलोक प्रदान किया है। वह वर्ग, क्षेत्र और काल की सब प्रकार की परिधियों से विमुक्त है। वह गंगा का वह पावन प्रवाह है, जिसमें अनेकानेक विचारधारायें जो विभिन्न क्षेत्रों और कालों में प्रवाहित होती हैं, समाहित होती रहती हैं और अपने संस्पर्श से उनमें भी पावनता उत्पन्न कर देती है। यही कारण है कि यह संस्कृति कभी पुरानी नहीं होती नूतन ही बनी रहती है। कोई देश ऐसा नहीं और कोई काल भी ऐसा नहीं जिसके लिए भारतीय संस्कृति अनुपयुक्त सिद्ध हो सकती है। वह जीवन के शाश्वत तत्त्वों से जुड़ी हुई है।

भारतीय संस्कृति की यह एक असाधारण विशेषता है। इसका आशय यह नहीं कि उसमें कभी कोई विकार नहीं आता। गंगा के प्रवाह में कूड़ा-कचरा भी मिलता है, गंदगी भी सम्मिलित हो जाती है। फिर भी गंगा की पावनता अक्षुण्ण ही रहती है। हमारी संस्कृति में भी अनेक प्रकार के कचरे का समावेश हुआ है, गंदगी भी आई है, किन्तु वह संस्कृति का स्वरूप नहीं है।

इतिहास के पन्ने स्पष्ट साक्षी देते हैं कि भारतीय संस्कृति में जब कभी विकृति आई और वह देश-काल से प्रतिकूल प्रतीत होने लगी,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तभी कोई न कोई महापुरुष आगे आया और उसने आये हुए विकारों को दूर किया और उसमें उसकी मूलप्रकृति के अनुकूल नवीन तत्त्व का समावेश कर दिया। इस प्रकार के प्रयत्नों के द्वारा वह सदैव तरोताजा रही। उसकी उपादेयता में कभी-कमी नहीं आ पाई।

इस संस्कृति के आद्य स्रोत आदिनाथ ऋषभदेव थे। उनका काल इतना पुराना है कि वह अंक-गणना का विषय नहीं है। उस सुदूर अतीत काल से लेकर आज तक असंख्य लोकोत्तर पुरुषपुंगवों ने इस संस्कृति-धारा को आगे बढ़ाया है, सजाया है, संवारा है। उसे युगानुकूल बनाने का सफल प्रयास किया है।

भारतीय संस्कृति में यह जो विशेषता रही है, इसका मुख्य कारण यही है कि इसका निर्माण सन्तों के द्वारा हुआ है। सन्त पुरुष ही इसे अग्रसर करते रहे हैं, इसका नवीनीकरण करते रहे है। प्राचीन काल में समाज पर सन्तों का अप्रतिहत प्रभाव रहा है और वे समाज के पथप्रदर्शक ही नहीं, संचालक भी रहे हैं।

पर आज का युग सर्वथा भिन्न प्रकार का है। भौतिक विज्ञान के विस्मयजनक विकास ने समग्र प्राचीन स्थापनाओं, मान्यताओं और विश्वासों को हचमचा दिया है। एक देश का दूसरे देशों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हो गया है और इस कारण एक-दूसरे के गुणावगुण भी एक-दूसरे में आने लगे हैं। इसके अतिरिक्त आज की विचारधारा भी अधिक तार्किक एव बौद्धिक बन गई है। इन कारणों से प्राचीन संस्कृति का टिकना अत्यन्त कठिन हो जाता है। जटिल समस्या है कि प्राचीन संस्कृति के हितावह तत्त्वों की सुरक्षा कैसे की जाय?

भारतीय सन्तजन ही पुराने युग में यह सब करते आए हैं। आज भी यह उत्तरदायित्व उन्हीं पर आ पड़ा है।

इस संबंध में सन्त-समाज की ओर से जो प्रयत्न प्रारंभ हुए हैं, उसके दो प्रकार दृष्टिगोचर होते है—

(१) प्राचीन कल्याणकारी सांस्कृतिक तत्त्वों की सुरक्षा के लिए जनसाधारण को प्रेरणा और (२) परिवर्तित परिस्थितियों में प्राचीनता के स्थान पर नवीन तत्त्वों की स्थापना।

इस द्विविध उपचार के बिना संस्कृति का संरक्षण संभव नहीं है। अतएव प्राचीनता का मोह और नूतन के प्रति नफरत, इन दोनों को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्यागकर संस्कृति के प्राणभूत तत्त्व की रक्षा करना ही विवेक-संगत होगा।

सन्तों को इसके लिए उद्यत रहना है। अपने जीवन व्यवहार द्वारा और अपनी वाणी के प्रभाव द्वारा उन्हें संस्कृति संरक्षण का कार्य करना हैं। कतिपय सन्तों ने इस तथ्य को समझा है और वे यथाशक्य कर भी रहे हैं। आज सन्तों के जो प्रवचन होते हैं उनकी उपादेयता की यही खास कसौटी होनी चाहिए।

श्रमणसंघ के आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषिजी म० के प्रवचन कई भागों में प्रकाशित हो चुके हैं। उन सबको वांचने पर यह सत्य उजागर हो जाता है कि आचार्य श्री के व्याख्यानों में नैतिकता और धार्मिकता पर जो जीवन की प्रगति के लिए अनिवार्य हैं, पर्याप्त जोर दिया जाता है। इस कारण नैतिकता के घोर ह्रास के इस युग में यह प्रवचन अतीव उपयोगी हैं।

प्रवचन और निबन्ध की शैली में बड़ा अन्तर होता है। प्रवचनों को निबन्ध शैली में ढालकर उपस्थित करने का कठिन दायित्व उसके सम्पादक का है। आचार्यश्री के प्रवचनों की सम्पादिका मेरी पुत्री सुश्री कमला 'जीजी' एम० ए० ने अपने दायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वाह किया है। प्रवचनों के सुन्दर अन्तरंग में भाषा सौष्ठव ने प्राण पूरित कर दिए हैं। प्रवचन सरस, रोचक और प्रभावजनक बन गए हैं। आशा है पाठक इन प्रवचनों का पारायण करके अपने जीवन के परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे। आचार्यश्री के प्रवचन समाज को भविष्य में भी उपलब्ध होते रहें, यह आवश्यक है।

श्रमणी विद्यापीठ,
घाटकोपर, बम्बई–७७
१–१–७४

— शोभाचन्द्र भारिल्ल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

सुज्ञ बंधुओ !

असीम हर्ष की बात है कि आपके समक्ष 'आनन्द-प्रवचन' का यह चतुर्थ भाग आत्मोत्थान की विविध सामग्री लेकर प्रस्तुत हो चुका है। आशा ही नहीं अपितु विश्वास है कि समस्त मुमुक्षु बंधु इसके द्वारा भी आत्म-चिंतन एवं आत्म-साधना के मार्ग पर अपने कुछ कदम और बढ़ाएँगे।

आप अनुभव करते ही होंगे कि साहित्य के विभिन्न अंगों में प्रवचन साहित्य का भी अपना एक स्वतंत्र एवं विशिष्ट स्थान है। इसके द्वारा वक्ता के विचारों का एवं व्यक्तित्व का पर्याप्त परिचय होता है। मानव के मस्तिष्क एवं मानस में रहनेवाली गुण-सम्पदा का बोध उसकी वाणी के द्वारा ही श्रोता को हो सकता है और इसीलिये हम 'आनन्द-प्रवचन' के रूप में निर्झरित होती हुई आचार्य श्री जी की वाणी के द्वारा उनकी ज्ञान-गरिमा का अनुभव कर सकते हैं, कर रहे हैं।

आपके प्रवचन हमारे लिये जीवन-संघर्ष की घड़ियों में सहायक बन सकते हैं, उलझी हुई विकट समस्याओं को सुलझा सकते हैं, कर्तव्य-पथ पर समुचित ढंग से चलने की प्रेरणा दे सकते हैं तथा आत्मा को पवित्र एवं निष्कलुष बनाने के लिये विविध सूत्र प्रदान कर सकते हैं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि ये प्रवचन हमें वह सभी कुछ दे सकते हैं, जिनकी सहायता से आत्मा को परमात्मा बनाया जाता है। आवश्यकता केवल इसी बात की है कि इन्हें भली-भांति समझा जाय, हृदयंगम किया जाय और जीवन में उतारा जाय।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मेरा सौभाग्य है कि मुझे 'आनन्द-प्रवचन' के चारों भागों में संकलित प्रवचनों के सम्पादन का सुअवसर मिला है और इसी वजह से मैंने आपके प्रत्येक वाक्य तथा प्रत्येक शब्द की मधुरिमा तथा महत्ता को गहराई से समझा है । मेरा मन यही कहता है कि ये प्रवचन निश्चय ही व्यक्ति की आत्मिक-उन्नति में पूर्णतया सहायक बन सकते हैं ।

अंत में मैं 'आनन्द-प्रवचन' के पाठकों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करती हूँ, जिन्होंने मेरे सम्पादन कार्य की सराहना करके मेरे उत्साह को उत्तरोत्तर बढ़ाया है । आशा है भविष्य में भी उनसे मुझे इसी प्रकार प्रेरणा मिलती रहेगी और मैं अपने कार्य में सफलता हासिल कर सकूँगी ।

—कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

१	तीर्थंकर महावीर	१
२	मोक्ष का द्वार कैसे खुलेगा ?	१५
३	प्रीति की रीति	३१
४	निर्गुणी को क्या उपमा दी जाये ?	४१
५	घड़ी से, घड़ी दो घड़ी लाभ ले लो !	६०
६	सच्चे सुख का रहस्य	७३
७	भव पार करानेवाला सदाचार	८८
८	इन्सान ही ईश्वर बन सकता है	१०१
९	पाप-नाशक तप	११६
१०	तुलसी ऊँधवर के भये ज्यों बंधूर के पान	१२६
११	आज-काल कि पांच दिन जंगल होगा वास	१३८
१२	मन के मते ना चाहिए	१५२
१३	कहां निकल जाऊँ या इलाही !	१६६
१४	छः चंचल वस्तुएं	१७७
१५	मुक्ति का द्वार—मानव जीवन	१९०
१६	शास्त्र सर्वत्रगं चक्षुः	२००
१७	उत्तम पुरुष के लक्षण	११२
१८	धर्म रूपी कल्पवृक्ष	२३०
१९	विषम मार्ग मत अपनाओ !	२३८
२०	आचारः परमोधर्मः	२५१
२१	ज्ञान की पहचान	२६१
२२	सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्	२७०
२३	सच्चा पंथ कौन सा !	२८२
२४	पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी	२८९
२५	कर्म लुटेरे !	२९७
२६	शुभ फल प्रदायिनी सेवा	३११
२७	जीवन श्रेष्ठ कैसे बने !	३१९
२८	कषायों को जीतो	३३०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषि अमृत महोत्सव के उपलक्ष्य में

हमारी आगामी प्रकाशन योजना

- आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रंथ
- कविकुलभूषण श्री तिलोक ऋषि जी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- भावनायोग : एक अनुशीलन
- आनन्द वचनामृत
- कर्मग्रन्थ (तुलनात्मक शैली में नव संपादन)
- तीर्थंकर महावीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द प्रवचन

चतुर्थ भाग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१ तीर्थंकर महावीर

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

'तीर्थंकर' शब्द से प्रत्येक जैनधर्मावलम्बी परिचित होता है। आपने भी अनेकों बार तीर्थंकर शब्द पढ़ा होगा, सुना होगा तथा बोला होगा। बाल्यावस्था में ही अधिकांश जैन बालक नमोकार मंत्र तथा चौबीस तीर्थंकरों के नाम आदि थोड़ी बहुत चीजें याद कर लेते हैं। किन्तु तीर्थंकर शब्द का अर्थ क्या है, अथवा किन कारणों से तीर्थंकर शब्द का निर्माण किया गया है इस पर सभी लोग विशेष ध्यान नहीं देते। अतः सर्व प्रथम हमें इस शब्द का अर्थ समझने का प्रयत्न करना है।

तीर्थंकर किसे कहा जाता है ?

तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ जो सहज ही समझ में आता है। उसके अनुसार तीर्थ को करनेवाला यानी तीर्थ को बनाने वाला तीर्थंकर कहलाता है। पर इस अर्थ के सामने आते ही पुनः प्रश्न खड़ा होता है कि तीर्थ किसे कहते हैं ?

तीर्थ को हम तैराने वाला या तैरा कर पार उतारने वाला कह सकते हैं। और इस संसार-सागर से आत्मा को तिरानेवाला एक मात्र धर्म ही होता है अतः जैन-परिभाषा के अनुसार तीर्थ का अर्थ है 'धर्म'।

अहिंसा, सत्य एवं संयम-रूप धर्म जीवात्मा को संसार-समुद्र से पार उतारता रहता है। अतः धर्म को तीर्थ की संज्ञा देना पूर्णतः उपयुक्त है। तीर्थंकर अपने काल में संसार-सागर से पार उतारने वाले इसी धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं। अतः उन्हें तीर्थंकर कहा जाता है।

आप कहेंगे कि साधु-साध्वी, श्रावक तथा श्राविका का इन चारों को ही हमारे यहाँ तीर्थ कहते हैं, वह क्यों ? इसलिये कि, साधु, साध्वी, श्रावक एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्राविका ये चारों अर्थात् यह चतुर्विध संघ धर्म को धारण करता है तथा धर्म का आचरण करता है। अतः इसे भी तीर्थ कहा जाता है तथा इस चतुर्विध धर्म संघ की स्थापना करनेवाले महामानवों को तीर्थंकर पद से सुशोभित किया जाता है।

श्री मद्भागवत में एक स्थान पर कहा गया है—

"धर्म को धारण करने वाले संत-महापुरुष ही वास्तविक तीर्थ और देवता हैं क्योंकि इन संत महापुरुषों के दर्शन-मात्र से ही कल्याण हो जाता है।"

कहने का अभिप्राय यही है कि जिनके मानस में धर्म का स्थान बन जाता है उन महामानवों को तीर्थ कहा जाता है और जिन स्थानों पर जाने से धार्मिक भावनाएँ जागृत होती हैं उन्हें भी तीर्थ-स्थान कहते हैं। इसीलिये गंगा नदी को भी वैष्णव धर्म में तीर्थ माना गया है—

नास्ति गंगासमं तीर्थं।

तो मैं यह बता रहा था कि धर्म को धारण करने वाले साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका तीर्थ कहलाते हैं और इनके चतुर्विध संघ का निर्माण करने वाले तीर्थंकर।

तीर्थंकर की विशेषताएँ

प्रश्न उठ सकता है कि धर्म का स्थान तो उपरोक्त चतुर्विध संघ में होता है फिर तीर्थंकर में क्या विशेषताएँ हैं जो उन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण साबित करती हैं।

उत्तर यही है कि यों तो प्रत्येक आत्मा अपने शुद्ध रूप में परमात्मा ही होती है। किन्तु कर्मों के आवरणों की तरतमता उनमें अन्तर उत्पन्न कर देती है। प्रत्येक आत्मा चाहे वह गरीब की हो या अमीर की, कसाई की हो या योगी की, समान होती है, पर कर्मों का लेप उन्हें निकृष्ट और उत्कृट बनाता है। जिस आत्मा पर यह लेप प्रगाढ़ होगा वह हीन साबित होगी तथा इस संसार में जन्म-मरण करती रहेगी। किन्तु जो आत्मा तप एवं संयम के द्वारा अपने कर्मों के लेप को जितनी मात्रा में हटाती हुई हल्की और शुद्ध होती जायेगी वह उतनी ही उत्कृष्ट होती हुई अपनी स्वाभाविक अवस्था में अर्थात् परमात्म-दशा के निकट पहुँचती जाएगी।

आत्मा पर कर्मों का लेप क्यों होता है ?

हमारे जैन धर्म में आत्मा को दुर्बल बनाने वाले अठारह दोष बताए गये हैं। वे हैं—मिथ्यात्व, अज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, निद्रा, शोक, अलीक, चौर्य, मत्सर, भय, हिंसा, राग, क्रीड़ा और हास्य। संक्षेप में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन्हीं को हम विषय-कषाय कहते हैं। तो ये दोष जब तक आत्मा में रहते है, वे निरन्तर आठ प्रकार के कर्मों का बंधन करते रहते हैं और इनकी अधिकता के कारण आत्मा का शुद्ध स्वरूप दिखाई नहीं देता। यह कर्म-बंधन ही आत्मा पर कर्मों का लेप भी कहा जाता है और यह इतना प्रगाढ़ तथा चिकना होता है कि सहज ही आत्मा से छुटाया नहीं जा सकता। कभी-कभी तो इसे छुटाने के लिये अनेक जन्म भी व्यतीत हो जाते हैं। क्योंकि बंधे हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा भी है—

सकम्मुणा किच्चई पावकारी—
कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

पापात्मा अपने ही कर्मों से पीड़ित होती है, क्योंकि कृत-कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

कर्म आत्मा का एक पल भी पीछा नहीं छोड़ते और किस प्रकार आत्मा के साथ लगे रहते हैं इसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन महर्षि वेदव्यास ने महाभारत के शान्तिपर्व में किया है—

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति।
शेते सहशयानेन येन येन यथा कृतम्॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति।
करोति कुर्वतः कर्मच्छायेवानुविधीयते॥

अर्थात् जिस मनुष्य ने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्त्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजी से उसके पीछे दौड़ जाता है। जब वह सोता है तो कर्म फल भी साथ ही सो जाता है। जब वह खड़ा होता है तो वह भी पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है तो उसके पीछे-पीछे वह भी चलने लगता है। अधिक क्या कोई भी कार्य करते समय कर्म-फल उसका साथ नहीं छोड़ता। सदैव छाया की तरह पीछे लगा रहता है।

तात्पर्य कहने का यही है कि जब तक प्राणी अपने कर्मों को नष्ट नहीं कर लेता, तब तक वे उसका साथ नहीं छोड़ते चाहे कितने भी जन्म इस बीच में व्यतीत हो जायँ। और ये सभी कर्म अभी-अभी बताए गये अठारह दोषों के कारण आत्मा के साथ लगते हैं। ज्यों-ज्यों व्यक्ति इन दोषों को आत्मा में से कम करता है, त्यों-त्यों कर्मों का भार अथवा कर्मों का लेप भी कम होता चला जाता है। इसीलिये विभिन्न आत्माओं में तरतमता होती है। यानी जो जीव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने मन पर कम संयम रख पाते हैं, त्याग, तपस्या अथवा व्रतादि का पालन कम कर पाते हैं, उनकी आत्मा पर से कर्म-भार थोड़ा हटता है। और जो भव्य जीव अपनी आत्मा पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं और अहिंसा, सत्य, आदि महाव्रतों का पूरी तरह पालन करते हुए घोर तपाचरण करते हैं वे शीघ्र ही कृत-कर्मों की निर्जरा कर लेते हैं। तथा नवीन कर्मों को बंधने से रोक देते हैं।

आध्यात्मिक विकास के सर्वोच्च शिखर पर

जैन-धर्म में आध्यात्मिक विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाने वाले महा-मानवों को तीर्थंकर कहा जाता है। उनमें अनेक विशेषताएँ होती हैं। वे राग-द्वेषादि समस्त विकारों तथा कषायों से रहित होते हैं। तथा सम्पूर्ण जगत को समान स्नेहमयी दृष्टि से देखते हैं। मनुष्य तो मनुष्य, तुच्छ वनस्पति आदि स्थावर जीवों पर भी उनका वही समत्व भाव रहता है। इसीलिये उनकी धर्म सभा में सिंह के समान क्रूर और हरिण के समान भोले जीव भी समान भाव से उपस्थित रहते हैं। न सिंह के हृदय में हिंसक भावना होती है और न हरिण के हृदय में भय की भावना।

यह बात सुनकर श्रोताओं के हृदय में कुछ अविश्वास पैदा हो सकता है। क्योंकि उन्हें मृगराज और मृग का एक साथ रहना असंभव प्रतीत होता होगा किन्तु इसमें तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है। आज हम देखते हैं कि भौतिक विद्या के चमत्कार भी मानव को चकित कर देते हैं और साधारण से साधारण व्यक्ति भी जो अपने आपको योगी कहते हैं वे मनुष्य की बुद्धि को कुशलता से हतप्रभ करने में समर्थ बन जाते हैं।

तो फिर तीर्थंकरों की आध्यात्म शक्ति क्या नहीं कर सकती? सम्पूर्ण दोषों एवं विकारों से युक्त हो जाने के कारण उनकी आत्मा पूर्णतया विशुद्ध हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप उनमें असंख्य आध्यात्मिक शक्तियाँ प्रगट हो उठती हैं। उनकी ज्ञान शक्ति ही अनन्त होती हैं, केवल ज्ञान और केवल दर्शन के द्वारा वे तीन लोक और तीन काल की बातें जान लेते हैं, देख लेते हैं। स्वर्ग के सर्वोच्च देव इन्द्र भी उनके समक्ष नत होते हैं तथा अपार श्रद्धा और भक्ति के साथ उन्हें वंदन करते हैं।

ऐसे पूर्ण एवं उत्कृष्ट आध्यात्म योगी तीर्थंकर के समवशरण में क्या सिंह और मृग का एक साथ बैठना असंभव बात है? नहीं, यह तो एक साधारण सी बात है। जो अपनी शक्ति से इन्द्रासन को भी हिला सकते हैं उनके लिये क्या आश्चर्यजनक हो सकता है? कुछ भी नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर त्याग और वैराग्यपूर्ण साधना करते हुये अपने मन को काषायिक विकारों से मुक्त करते हैं तथा संसार की मोह-ममता का परित्याग करके कठिन आभ्यंतर एवं बाह्य तप करते हुए सत्य की अलौकिक ज्योति प्राप्त कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में केवल ज्ञान की प्राप्ति करते हैं।

त पश्चात् वे संसार के प्राणियों को धर्मोपदेश देकर उन्हें असत्य के मार्ग से हटाकर सत्य के मार्ग पर लाते हैं और संसार में शांति का सुखद साम्राज्य स्थापित कर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। वे अज्ञानी प्राणियों को सम्यक् ज्ञान का आलोक देते हैं तथा उन्हें भौतिक सुखों की वाञ्छा से हटाकर आध्यात्मिक सुखों के अभिलाषी बनाते हैं। इस प्रकार असंख्य प्राणियों को पतन से बचाकर वे उत्थान की ओर लाते हैं। ऐसे ही तीर्थंकर भगवान महावीर थे।

प्रकृति का नियम

अब तक के सृष्टि के इतिहास को देखने पर लगता है कि जब-जब इस पृथ्वी पर होने वाला अत्याचार अपनी सीमा लांघने लगता है, अधर्म का साम्राज्य स्थापित होने पर धर्म का अस्तित्व डगमगाने लगता है तथा जनता अधर्म को ही धर्म मानकर भ्रमपूर्ण धर्म-रहित क्रियाएँ धर्म मानकर करने लगती है, तब कोई न कोई महापुरुष समाज और देश का उत्थान करने, तथा धर्म को उसके सही स्थान पर विभूषित करने के लिये अवश्य जन्म लेता है।

भगवत्गीता में भी श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

यदा यदा ही धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

अर्थात् जब-जब धर्म की हानि और अधर्म वृद्धि होती है तब-तब मैं अवतार धारण करता हूँ। साधुओं की रक्षा के लिये, पापियों के नाश के लिये और धर्म की स्थापना के लिये मैं युग-युग में अवतार लेता हूँ।

तो भगवान महावीर के जन्म से पहले भी भारत की तत्कालीन दशा बड़ी दयनीय थी और भारत-भूमि किसी महापुरुष के अवतार लेने की बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रही थी। ठीक उसी समय मगध की राजधानी वैशाली जिसे कुण्डलपुर भी कहा जाता था, वहाँ के राजा सिद्धार्थ एवं रानी त्रिशला

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के यहाँ भगवान महावीर ने जन्म लिया। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का यह पावन दिवस भारत के इतिहास में सदा-सदा के लिये अमर हो गया।

महावीर राजकुमार थे। अतः बाल्यकाल से ही असीम ऐश्वर्य के बीच उनका लालन-पालन हुआ। युवावस्था आने पर अपूर्व सुन्दरी राजकन्या यशोदा से पाणिग्रहण भी हो गया। किन्तु उस सम्पूर्ण सुखमय गृहस्थ जीवन में भी उनका मन रमा नहीं। उन दिनों भारत का सामाजिक एवं धार्मिक पतन उन्हें अत्यन्त व्यथित किये था। जब तक वे गृहस्थ के रूप में रहे, तब तक ही वे तपस्वियों के समान साधना में लगे रहे पर उससे भी जब उन्हें सन्तोष न हुआ तो केवल तीस वर्ष की उम्र में ही वे मगध का विशाल साम्राज्य ठुकरा कर एक अकिंचन भिक्षु के रूप में चल दिये।

माता, पिता, पत्नी एवं अतुल वैभव का त्याग कर भगवान महावीर सीधे जन शून्य अरण्य में पहुँचे और बारह वर्ष तक कठोर तप-साधना करते रहे। समाज से दूर रहकर कभी निर्जन वन और कभी पर्वतों की गुफाओं में रहकर उन्होंने कठिन तपश्चर्या की और अपनी आत्मा की प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्तियों को जगाया। इस बीच आपको भयंकर उपसर्गों का और विपत्तियों का सामना करना पड़ा। किन्तु वे मेरु पर्वत के समान निष्कंप और अडोल रहे।

सत्य और अहिंसामय उग्र-साधना के कारण उनके जीवन की सम्पूर्ण मलिनता मिट गई और आत्मा की पूर्ण विशुद्धता के फल-स्वरूप उसमें रही हुई अनन्त ज्ञान-ज्योति जगमगा उठी। अर्थात् उन्होंने केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन प्राप्त किया तथा तीर्थंकर पद के अधिकारी बने। हमारा जैन-धर्म स्पष्ट कहता है कि कोई भी व्यक्ति जन्म से ही भगवान नहीं होता। उसे भगवान बनने के लिये उग्र साधना के पथ पर चलना पड़ता है तथा सदाचरण के कठोर नियमों का पालन करते हुए सम्पूर्ण आत्मिक-विकारों का नाश करना होता है। इन कसौटियों पर भली-भाँति कसा जाकर ही वह भगवत् पद का अधिकारी बनता है। इस पद पर उसे बाह्य जगत के प्राणी प्रतिष्ठित नहीं करते और न ही वह मंदिर, मसजिद, गिरजाघर या अन्य तीर्थ-स्थानों पर जाकर पूजा-पाठ अथवा नाना प्रकार की क्रियाओं के द्वारा ही भगवान बन सकता है। अपितु अपनी आत्मा में स्थित होकर उसकी सुप्त आत्म-शक्तियों को जगाकर ही वह भगवान बनता है।

'योगसार' में कहा भी है—

तित्थहिं देवलि देवणवि इम सुई केवलि वुत्तु।
देहा देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिभंतु॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थ एवं देवालय में कहीं भगवान नहीं हैं, श्रुतकेवली का वचन है। इस देह रूपी देवालय में ही भगवान हैं, यह निभ्रान्त रूप से जान लेना चाहिए।

जो लोग ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानते हैं वे ईश्वर के भिन्न-भिन्न लक्षण और उसका स्वभाव भी भिन्न-भिन्न बताते हैं। मूर्तिपूजक हिन्दू कहते हैं—ईश्वर मूर्ति पूजा से प्रसन्न होकर व्यक्ति को अपने में मिला लेता है। मुसलमान कहते हैं—अल्लाह मसजिद में पांचों वक्त नमाज़ पढ़ने से खुश हो जन्नत प्रदान करता है। और ईसाई कहते हैं गले में क्रॉस डाले रहकर गिरजाघर में प्रार्थना करने से व्यक्ति का कल्याण होता है। ऐसे व्यक्ति जैन-धर्म को, सृष्टिकर्त्ता न मानने के कारण अज्ञानवश अनीश्वरवादी तथा नास्तिक भी कह देते हैं। किन्तु वे ऐसा करके भयंकर भूल करते हैं।

जैन धर्म की मान्यता

जैन दर्शन के अनुसार जीव अनादि काल से है, अनादि काल से कर्म कर रहा है तथा स्वयं ही अपने कर्मों का फल भोग रहा है। कर्म ही जीव को बन्धन में डालते हैं और कर्म ही उसे संसार में परिभ्रमण कराते हैं। सूत्र-कृतांग में कहा भी है—

सयमेव कडेहिंगाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं।

आत्मा अपने स्वयं के कर्मों से ही बंधन में पड़ता है। कृत-कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

अभिप्राय यही है कि जब तक जीव अपने कृत-कर्मों के बंधन में पड़ा रहता है, उसे नाना योनियों में संसार परिभ्रमण करना पड़ता है। किन्तु जब उसकी ज्ञान चेतना जागकर बलवती हो जाती है तो वह नवीन कर्मों के आगमन को रोक देती है और वह तपस्या आदि के द्वारा पूर्व संचित कर्मों का भी क्षय कर देता है। अर्थात् उसे निष्कर्म दशा मुक्ति प्राप्त हो जाती है। ऐसा मुक्त जीव ही ईश्वर अथवा परमात्मा कहलाता है। पर ध्यान में रखने की बात है कि ऐसा मुक्त जीव जो परमात्मा पद को प्राप्त कर लेता है वह पुनः संसार सम्बन्धी किसी भी झमेले में नहीं पड़ता और न ही मोक्ष से लौटकर कभी इस संसार में अवतार ही लेता है। वह तो अनन्त काल तक अव्याबाध सुख और अप्रतिहत अनन्त ज्ञान दर्शन से सम्पन्न होकर लोक के अग्रभाग में स्थित रहता है।

जैन धर्म ऐसे मुक्तात्मा या परमात्मा के विषय में स्पष्ट कहता है—

"अच्चेइ जरामरणस्स वट्टमग्गं–विक्खायरए, सव्वे सरा णियट्टंति, तक्का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयण्णे न इत्थी न पुरिसे, अन्नहा, परिण्णे सण्णे उवमा न विज्जइ, अरुवी सत्ता, अपयस्स अरूवी णत्थि । से न सद्दे, न रूवे, न रसे, न गंधे, न फासे ।

—आचारांग सूत्र प्र० अ० ५ उ० ६ ।

अर्थात्—मुक्तात्मा जन्म मरण के मार्ग को उल्लंघन कर जाता है, मुक्ति में रमण करता है । उसका स्वरूप प्रतिपादन करने में समस्त शब्द हार मान जाते हैं, वहाँ तर्क का प्रवेश नहीं होता, बुद्धि अवगाहन नहीं करती, वह मुक्तात्मा प्रकाशमान है । वह न स्त्री रूप है, न पुरुषरूप है, न अन्यथा रूप है । वह समस्त पदार्थों का विशेष रूप से ज्ञाता है । उसकी कोई उपमा नहीं है । वह अरूपी सत्ता है । उस अनिर्वचनीय को किसी भी वचन के द्वारा नहीं कहा जा सकता । वह न शब्द है, न रूप है, न रस है, न गन्ध है और न स्पर्श है ।

बंधुओ ! प्रसंग वश मैंने अपने जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार बद्ध आत्मा तथा मुक्तात्मा के विषय में बता दिया है । वैसे हम भगवान महावीर के विषय में बात कर रहे थे कि वे अपने सम्पूर्ण वैभव तथा परिजनों का त्याग करके भिक्षु बन गए और भिक्षु बनते ही निर्जन वन, गुफा या कन्दराओं में जाकर घोर तपस्या करने लगे । नाना प्रकार के भयंकर संकटों की परवाह किए बिना उन्होंने निरन्तर बारह वर्ष तक घोर तप किया और आत्मा की अनन्त शक्तियों को जगाकर केवलज्ञान, केवलदर्शन हासिल किया ।

महावीर का सर्वतोमुखी जीवन

भगवान महावीर को ज्योंही कैवल्य की प्राप्ति हुई, वे अपने आपको एकान्त से हटाकर समाज में ले आए और चारों ओर फैली हुई विषमताओं को तथा सामाजिक एवं धार्मिक भ्रान्त रूढ़ियों को मिटाने में कटिबद्ध होकर जुट गये ।

जातिवाद के विरुद्ध

भगवान जातिवाद के कट्टर विरोधी थे । वे जहाँ भी गए सर्वप्रथम यही संदेश लेकर गए कि 'मनुष्य मात्र की केवल एक ही जाति है । जाति-पांति की दृष्टि से उनमें विभाग करना सर्वथा अनुचित है ।'

जातिवाद के कट्टर विरोधी होने के कारण उन्होंने जातिमद में चूर रहने वाले लोगों को बहुत फटकारा और कहा—जो जाति का अभिमान करके औरों पर जुल्म ढाते हैं, वे इस लोक में तो अपनी उच्चता खो ही देते हैं, परलोक में जाकर भी नरक तिर्यंच आदि जघन्य गतियों में घोर यातनाएँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगते हैं। अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह केवल अपने पापों को ही अस्पृश्य समझे और किसी भी मनुष्य के लिए अपने मन में अस्पृश्यता की भावना न आने दे।"

वे जन्म से किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय या शूद्र नहीं मानते थे। वे मानते थे कि कर्म के कारण ब्राह्मण शूद्र हो सकता है और शूद्र ब्राह्मण। उनका मुख्य कथन था :—

"कम्मुणा बंभणो होई,
कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होई,
सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थ यही है कि जन्म से कोई की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होकर नहीं आता। वर्ण व्यवस्था मनुष्य के अपने स्वीकृत कर्म से होती है। कर्म से ही व्यक्ति, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कहलाता है।

दलितों के प्रति उदारता

महावीर की दलितों के प्रति उदारता या सहानुभूति केवल मौखिक ही नहीं थी व्यवहार में भी वे स्वयं कदम उठाया करते थे। पोलासपुर गांव में सकडाल कुम्हार की प्रार्थना पर भगवान सहर्ष उसके यहाँ ठहरे थे। बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं को और सेठ-साहूकारों की अपेक्षा एक कुम्हार को महत्त्व देना उनकी दलितों के प्रति उदारता का परिचायक था।

सकडाल कुम्हार को भगवान ने मिट्टी के घड़ों का दृष्टान्त देकर बोध दिया और वह आपका शिष्य बन गया। आगे जाकर यही कुम्हार भगवान के प्रमुख श्रावकों में एक साबित हुआ और संघ में बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा गया। 'उपासक दशांगसूत्र' में एक स्वतन्त्र अध्याय ही इस विषय पर दिया गया है।

भगवान की शूद्रों के प्रति उदारता का एक ज्वलंत उदाहरण हरिकेशी चांडाल का रहा है, जिसके विषय में आप सभी भली-भांति जानते होंगे। हरिकेशी चांडाल कुल में उत्पन्न हुए थे किन्तु भगवान की कृपा से दीक्षित होकर मुनि बने। चांडाल कुल में उत्पन्न हुए हरिकेशी मुनि का जीवन आगे जाकर इतना त्याग और तपस्यामय बना कि बड़े-बड़े सम्राट तो क्या, देवता भी उनके चरणों में भक्ति पूर्वक नमस्कार करते थे। एक देव तो घोर तपस्वी मुनि हरिकेशी की सेवा में सतत रहने लगा था। उनकी महत्ता बताते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हुए भगवान ने धर्मप्रेमी जनता के समक्ष अत्यन्त गद्‌गद् होकर स्वयं फरमाया था—

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसई जाइ—विसेस कोई।
सोवागपुत्तं हरिएस साहुं,
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १२-३७

अर्थात्—प्रत्यक्ष में जो कुछ दिखाई देता है वह जाति का महत्व नहीं वरन तप का माहात्म्य ही दृष्टिगोचर होता है। इस महाभाग हरिकेशी मुनि को देखो! चांडालपुत्र होने पर भी इसकी कैसी महा प्रभावशाली समृद्धि है। यानी अपने गुणों के कारण यह किस महान पद पर पहुँच गया है जिसे ब्राह्मण कहलाने वाले स्वप्न में भी प्राप्त नहीं कर सकते।

इस प्रकार जातिवाद का पूर्णतया खंडन करते हुए महावीर ने उस समय जातिवाद का अस्तित्व नष्ट सा ही कर दिया था। वे जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त रहने वाली पाँच जातियां ही मानते थे—एकेन्द्रिय से लेकर पन्चेन्द्रिय तक। उन्होंने अंत्यज तो क्या अनार्यों और म्लेच्छों तक को संयम ग्रहण करने का अधिकार दिया था।

धर्म के नाम पर होनेवाले हिंसक विधि-विधानों का विरोध

भगवान महावीर के समय में वेद-मूलक हिंसापूर्ण विधि-विधानों का बड़ा बोल-बाला था। अपने आपको महापंडित और दिग्गज विद्वान मानने वाले असंख्य लोग धर्म के नाम पर हिंसक यज्ञ करते थे तथा उसकी बलिवेदी पर लाखों मूक पशु मौत के घाट उतारे जाते थे। पशु ही नहीं, मासूम मानव-शिशु और वृद्ध भी यज्ञ की बलिवेदियों पर चढ़ा दिये जाते थे।

भगवान का हृदय यह देखकर दहल उठा और उन्होंने इन हिंसक विधानों के विरोध में आवाज उठाई। उनके आचरण मूलक धर्मोपदेश, दिव्यज्ञान तथा उज्ज्वल तपःतेज का ऐसा अद्‌भुत प्रभाव उन कर्मकाण्डी ब्राह्मणों पर पड़ा कि उन्होंने सदा के लिए धर्म के नाम पर करने वाले हिंसापूर्ण यज्ञों को पुनः करने का त्याग कर दिया।

इन्द्रभूति गौतम, जो आगे जाकर भगवान के प्रिय शिष्य बने, अपने समय के धुरन्धर विद्वान और बड़े क्रियाकांडी ब्राह्मण माने जाते थे। वे पावापुर में एक विशाल यज्ञ की आयोजना में लगे हुए थे। भगवान की इनसे मुठभेड़ हुई और ऐसी हुई कि गौतम यज्ञ करना-कराना छोड़कर इनके शिष्य ही बन गए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रभूति गौतम के साथ ही चार हजार चार सौ अन्य ब्राह्मणों ने भी भगवान के पास मुनि-दीक्षा धारण कर ली।

नारी-जाति के प्रति भव्य कदम

महावीर भगवान स्त्री-जाति के प्रति भी बड़ी उदारता रखते थे तथा उसका बड़ा सम्मान करते थे। उस समय जबकि नारी को समस्त धार्मिक एव सामाजिक कार्यों के लिए अयोग्य माना जाता था और उसे किसी भी क्षेत्र में कोई अधिकार नहीं दिया था, भगवान ने बुलन्द स्वर से कहा—

"स्त्री को भी पुरुष के समान ही प्रत्येक धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भाग लेने का बराबर अधिकार है। स्त्री जाति को पुरुष जाति से हीन, पतित एवं अयोग्य समझना निरी भ्रांति है।"

भगवान ने साधु-संघ के समान ही साध्वी-संघ भी बनाया जिसकी अभि नेत्री साध्वी चंदनबाला थीं जो कि पूर्ण स्वतन्त्र रूप से अपने संघ की देख-रेख तथा उसका मार्गदर्शन करती थीं। महावीर के संघ में साधुओं की संख्या तो चौदह हजार थी किन्तु साध्वियों की संख्या छत्तीस हजार तक पहुंच गई थी।

इससे स्पष्ट झलकता है कि नारी केवल मांस-पिंड की संज्ञा ही नहीं है। वह पुरुष की अपेक्षा अधिक सहनशील, धीर और गंभीर होती है। उसके हृदय की करुणा और कोमलता उसके अंतरंग में उच्चतम विकास को साबित करती है जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे होते हैं। शायद इसीलिए 'विक्टर ह्यूगो' ने कहा है—

"Men have sight, women insight"

यानी मनुष्य को दृष्टि होती है पर नारी को दिव्य दृष्टि।

समन्वयवाद

हमारे भारतवर्ष में दार्शनिक विचारधारा का जितना अधिक विकास हुआ है उतना किसी अन्य देश में नहीं हुआ। यहाँ पर भिन्न-भिन्न दर्शनों की भिन्न-भिन्न विचार धाराएँ जन्म लेती और बढ़ती रही हैं। उन समस्त दर्शनों का उल्लेख किया जाना यहाँ संभव नहीं है पर महावीर के समय में जिन पाँच मुख्य वादों का यहाँ प्रचलन था उनके नाम हैं (१) कालवाद (२) स्वभाववाद (३) कर्मवाद (४) पुरुषार्थवाद और (५) नियतिवाद।

ये पांचों वाद अथवा दर्शन अपने आपका मण्डन और दूसरों का खण्डन करते रहे हैं। इसके कारण जनता में बड़ी भ्रांतियां पैदा हुई। भगवान महावीर ने इनके आपसी संघर्ष को बड़ी सुन्दरता से मिटाया है। उन्होंने कहा—पांचों ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बाद अपने अपने स्थान पर ठीक हैं क्योंकि कोई भी कार्य इन सबके सुमेल से से ही हो सकता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि किसी एक के द्वारा ही कार्य की सिद्धि हो जाय। महावीर का कथन यथार्थ है। उदाहरणस्वरूप हम किसी भी फसल को ले सकते हैं।

किसान अपने खेत में फसल पैदा करने के लिए बीज बोता है। यद्यपि बीजों का फसल के रूप में आने का स्वभाव है, किन्तु बोना और बोकर उसकी रक्षा करने का पुरुषार्थ किसान न करे तो क्या उसे अपने प्रयत्न का फल मिलेगा ? साथ ही बोने व रक्षा करने का पुरुषार्थ भी कर लिया पर जब तक निश्चित काल का परिपाक नहीं होगा, तब तक फसल कैसे तैयार हो जाएगी ? आज फसल बोकर कोई चार दिन बाद ही उसे काट लेना चाहे तो क्या यह संभव है ? नहीं। अब शुभ कर्म को लीजिए ! फसल बो दी, उसकी रक्षा का पुरुषार्थ भी कर लिया और काल के परिपक्व होने की प्रतीक्षा भी धैर्य के साथ की जा रही है। किन्तु अगर अशुभ कर्म का उदय है अर्थात् शुभ कर्म अनुकूल नहीं है तो फसल को कीड़ा लग सकता है, टिड्डी दल भी कभी-कभी उसे तहस-नहस कर डालता है अथवा पाला पड़ने से भी फसल खराब हो जाती है और इस प्रकार कर्म-वाद अपना प्रभाव दिखाता है। अब रहा नियति। बीज के द्वारा फल की प्राप्ति होना प्रकृति का नियम है ही अगर पुरुषार्थ, काल और कर्म अनुकूल हों तो।

इस प्रकार अनेकांतवाद के द्वारा किया जानेवाला समन्वय ही यथार्थ है और यथार्थ होने के कारण संसार को सत्य का परिचय देता है।

कुछ व्यक्ति स्याद्वाद सिद्धान्त के संबन्ध में कहते हैं कि वह एक दूसरे के विरोधी धर्मों को एक ही वस्तु में स्थापित करता है, किन्तु वे सभी परस्पर विरोधी धर्म एक ही स्थान पर कैसे रह सकते हैं ?

ऐसा मानने और कहने वालों की अज्ञानता पर खेद होता है। उन्हें समझना चाहिए कि एक ही व्यक्ति किसी का पिता, किसी का पुत्र और किसी का भाई होता है। और पितृत्व, पुत्रत्व तथा भ्रातृत्व परस्पर विरोधी होने पर भी क्या एक ही व्यक्ति में नही रहते ? रहते हैं, और निर्विरोध रहते हैं। वह व्यक्ति एक साथ ही अपने तीनों उत्तरदायित्वों का सरलता से और समीचीन रूप से पालन करता हुआ देखा जाता है।

स्याद्वाद के इस अनुपम सत्य को न समझने के कारण विश्व में विविध धर्मों, दर्शनों, मतों, पन्थों और सम्प्रदायों में व्यर्थ के विवाद खड़े हो जाते हैं। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म को असत्य और मिथ्या बतलाते हैं। वे केवल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने ही धर्म या मत को पूर्णतया सत्य मानकर अन्य धर्मों का विरोध करते हैं और संसार में धर्म के नाम पर घोर विवाद और समय-समय पर तो हत्याकांड भी हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण एकांन्तवाद ही है। एकान्तवाद यद्यपि अपूर्ण होता है किन्तु वह सम्पूर्ण होने का दावा करता है और इस झूठे दावे के आधार पर अन्य धर्मों को मिथ्या बताता है। किन्तु अगर प्रत्येक मनुष्य मत-भेद की बातों पर ध्यान न देकर अन्य धर्मों की उन बातों को ध्यान में लावे, जिनसे वह सहमत है तो विरोध और विषमतायें बहुत कम हो सकती थी।

महात्मा कबीर एक ऐसे संत हुए हैं जो जीवनभर इन धर्मों के कारण लड़ने वालों की भर्त्सना करते रहे हैं। उन्होंने जिस प्रकार हिन्दुओं को फट-कारा, उसी प्रकार मुसलमानों को भी। वे कहते थे—

हिन्दु कहै मोहि राम पियारा,
तुरक कहे रहमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मुए
सार न कोऊ जाना॥

उनका कथन यथार्थ है। धर्म को लेकर लड़ने वाले व्यक्ति सदा अपूर्ण रहते हैं और कभी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते।

कबीर ने आगे भी सार ग्रहण करने के विषय में अत्यन्त सुन्दर भाव व्यक्त किये हैं। कहा है—

एक वस्तु के नाम बहु, लीजे नाम पिछान।
नाम पच्छ ना कीजिये, सार तत्त ले जान॥

सब काहू का लीजिए, सांचा शब्द निहार।
पच्छ पात ना कीजिए, कहै कबीर विचार॥

सभै हमारे एक हैं, जो सिमरे सत नाम।
वस्तु लहो पिछान के, बासन से क्या काम॥

वास्तव में पूर्ण सत्य एक ही है, किन्तु विभिन्न मत उस सत्य के चरणों में पहुंचने के भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाते हैं और अपने-अपने मार्ग की सत्यता पर अड़कर संघर्ष को जन्म देते हैं।

इसी सत्य की एकता बताने के लिए फारसी का एक विचारक कहता है—

इख्तलाफे बजा बेदिल दरलिबासे बेरं अस्त।
वरना खूंयकसां बुबद दर पैं करे ताऊसो जाग॥

बेदिल कवि का कहना है कि आकार का भेद बाह्य रूप में ही है, अन्यथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मोर और कौवे के शरीर में रक्त का रंग समान ही होता है। इसी प्रकार सत्य सर्वत्र एक समान व्याप्त है।

भगवान महावीर ने यही कहा है कि तुम वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखो और भले ही अपने दृष्टिकोण को सत्य समझो किन्तु जो दृष्टिकोण तुम्हें विरोधी प्रतीत होता है उसकी सत्यता को भी समझने का प्रयत्न करो। तभी विषमताएँ मिटेंगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर का जीवन एकमुखी नहीं अपितु सर्वतोमुखी था। जिस क्षेत्र में भी उन्हें कोई त्रुटि दिखाई देती थी, वे जी-जान से उसे दूर करने का प्रयत्न करते थे। अपनी अलौकिक एवं अद्भुत प्रतिभा से उन्होंने समाज और धर्म का ढांचा ही परिवर्तित कर दिया था। आज भी अगर व्यक्ति उनके उपदेशों और आदेशों पर अमल करता हुआ चले तो कोई कारण नहीं है कि उसका जीवन उन्नति के चरम शिखर पर न पहुंच जाय।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२ | मोक्ष का द्वार कैसे खुलेगा ?

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

संत महापुरुषों का कथन है---'इस जीवात्मा को परमात्म पद में लीन हो जाने पर ही परम शांति प्राप्त होती है।' किन्तु परमात्म पद में विलीन कैसे हुआ जाय ? क्या हमारे चाहने से, विचार करने से और बार-बार जबान से कहने से ही ऐसा संभव हो सकता है ? नहीं। इस महान इच्छा की पूर्ति करने के लिये सर्वप्रथम हमें सद्गुणों को अपनाना पड़ेगा। इनके अभाव में परमात्म पद की प्राप्ति होना भी असंभव है। आत्मा को परमात्मा और उसके पश्चात् परमात्मा के पद पर पहुंचाने के लिये सबसे पहला सोपान सद्गुणों का होना ही है।

एक पाश्चात्य कवि 'चिलो' ने सद्गुणों का यथार्थ महत्व बड़े सुन्दर शब्दों में बताया है। कहा है—

"Virtue maketh men on the earth famous, in their graves illustrious, in the heavens imromrtal."

अर्थात्—सद्गुण पृथ्वी पर मनुष्य को प्रसिद्धि प्रदान करता है, कब्र में प्रख्यात कर देता है और स्वर्ग में अमर बना देता है।

वास्तव में ही सद्गुणों में ऐसी महान् शक्ति होती है। हम देखते हैं कि पुष्पों की सुगंध बड़ी तेजी से पवन द्वारा दूर-दूर तक पहुंच जाती है, किन्तु जबकि पुष्पों की सुगंध पवन के विपरीत नहीं जाती अर्थात् जिस दिशा की ओर पवन बहता है उसी दिशा में जाती है, वहाँ सद्गुणों की सौरभ अविलम्ब समस्त दिशाओं में व्याप्त हो जाती है। इसलिये अगर व्यक्ति को उन्नत बनना है, तो उसे सर्वप्रथम आत्मा से सद्गुणों का संचय करना होगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब प्रश्न यह है कि सद्गुणों का संचय हो कैसे ? सद्गुण ऐसी वस्तु नहीं है जो धन देकर खरीद ली जाय अथवा शारीरिक बल के द्वारा किसी से छीन ली जाय। सद्गुण आंतरिक निधि हैं और आंतरिक उच्चता, त्याग एवं संयम के द्वारा ही उन्हें अपनाया जा सकता है।

सद्गुणों की प्राप्ति में बाधाएँ कौन सी हैं ?

आप सभी जानते हैं कि कोई भी मूल्यवान वस्तु व्यक्ति को सरलता से प्राप्त नहीं होती उसके लिये बहुत परिश्रम और त्याग करना पड़ता है तथा कई बाधाओं को हटाना पड़ता है। फिर सद्गुण तो अमूल्य हैं। अतः उनकी प्राप्ति में बाधाएँ भी जबर्दस्त हो, इसमें आश्चर्य की बात नहीं है।

सद्गुण आंतरिक निधि हैं, अतः उनके मार्ग में आने वाली बाधाएँ भी आंतरिक ही हैं। सरल शब्दों में, सद्गुण आत्मा की विशेषताएँ हैं और उनके लिये बाधक आत्मा के विकार या दोष हैं। वे हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों कषाय आत्मिक गुणों की प्राप्ति में बाधक बनते हैं। इनमें सबसे मुख्य मान या अभिमान है। यह प्रथम तो सद्गुणों को आत्मा में प्रवेश ही नहीं करने देता और किसी तरह अगर वे प्रवेश कर जायँ तो उन्हें पुनः निकाले बिना नहीं छोड़ता।

रावण अनेक गुणों से युक्त था। महापंडित, तपस्वी और महान सिद्धियों का स्वामी भी था। जिनके बल पर वह सूर्य, चन्द्र तथा पवन को भी अपनी इच्छानुसार चलाया करता था ऐसा कहा जाता है। पूर्वकृत पुण्यों के उदय से उसे उच्च जाति, उच्च कुल, अतुल ऐश्वर्य और अपार शक्ति भी प्राप्त हुई थी। किन्तु साथ ही अहंकार रूपी विषधर नाग भी उसके हृदय में कुंडली मारे बैठा हुआ था।

हमारे शास्त्रों में अहंकार अथवा मद के आठ प्रकार बताए गये हैं। वे हैं—जाति मद, लाभ मद, कुल मद, ऐश्वर्य मद, बल मद, रूप मद, तप मद एवं श्रुत मद। शास्त्रों में यह भी बताया गया है कि अगर इन आठों में से एक भी मद होता है तो वह आत्मिक-गुणों का नाश कर देता है। किन्तु रावण के हृदय में तो इन आठों ने कब्जा कर रखा था और इन्हीं के परिणाम स्वरूप उसकी क्या दशा हुई। इससे शायद ही कोई व्यक्ति अपरिचित हो।

एक कवि ने उसके संबंध में कहा है—

असी क्रोड़ गजबंध, अर्व दस तुरी तुखारा,
संत्री क्रोड़ पचास, पायदल नील अठारा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सोलह सौ सामन्त सहस इक पन्द्रह राजा,
सर्व धरत हैं शंक बजत इन्द्रपुर बाजा।
टाँचै सीस तस कागले, एक दिवस ऐसो भयो।
नर नरिन्द्र मत गर्व कर, कह रावण किस दिस गयो ॥

कहा जाता है—रावण के पास अस्सी करोड़ हाथी, दस अरब घोड़े, पचास करोड़ योद्धा, अठारह नील पैदल सेना, सोलह सौ सामन्त, एक हजार पन्द्रह अधीनस्थ राजा थे जो कि सदा उसकी सेवा में तत्पर रहते थे। स्वर्ग और मृत्युलोक के सभी प्राणी उससे डरते थे। किन्तु एक दिन ऐसा आया कि उसकी लाश भी ठिकाने नहीं लग पाई तथा चील-कौवों ने उसके सदा ऊँचे रहने वाले मस्तक को जी भरकर क्षत-विक्षत किया। इसलिये कवि का कहना है—कोई भी व्यक्ति चाहे वह नर हो या नरेन्द्र, किसी भी प्रकार का गर्व न करे। क्योंकि गर्व के कारण महाबली और महा ऐश्वर्यशाली रावण भी जब कुल सहित नष्ट होकर न जाने किधर प्रयाण कर गया तो फिर साधारण मनुष्य की तो बिसात ही क्या है ?

तो बंधुओ ! मैं आपसे यह कह रहा था कि अभिमान सद्गुणों का शत्रु है अतः उसे हृदय से निकाले बिना स्नेह, प्रेम, सेवा, सहानुभूति करुणा तथा सहिष्णुता आदि सद्गुणों को नहीं अपनाया जा सकता। अभिमान के कारण व्यक्ति औरों से सहानुभूति नहीं रख पाता तथा सबसे मिल जुलकर नहीं चल सकता।

संस्कृत में एक श्लोक है—

सर्वेपि यत्र नेतारः सर्वे पंडितवादिनः।
सर्वे महत्वमिच्छन्ति, तद् वृंदमवसीदति ॥

पद्य का पहला भाग है—'**सर्वेपि यत्र नेतारः**।' जहाँ सभी अपने आपको नेता मानते हैं, वहाँ समाज का कार्य कैसे चल सकता है ? क्योंकि प्रत्येक नेता अपनी अलग विचारधारा रखता है तथा उसी के अनुसार अलग मार्ग ग्रहण करके औरों को भी उस पर चलाना चाहता है। क्योंकि अगर अन्य बहुत से व्यक्ति उसका अनुसरण न करें तो वह नेता कैसे कहलाएगा ? कोई साधारण व्यक्ति तो अपने विचार औरों से भिन्न रख सकता है, क्योंकि उसका औरों से संपर्क न रहे तो चलता है। किन्तु जिस प्रकार सेना के बिना सेनापति नहीं बना जा सकता। उसी प्रकार अपने अनुयायियों के बिना नेता भी नहीं बना जा सकता। आखिर किनका नेता कहलाएगा वह ? बड़ी हास्यास्पद बात है यह। पर यथार्थ भी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्लोक में आगे कहा गया है 'सर्वेपंडितवादिनः ।' यानी सभी अपने आपको पंडित और विद्वान् मानना चाहते हैं। ऐसा होने पर भी बड़ा गड़बड़-झाला समाज में हो जाएगा । अगर प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको पूर्ण विद्वान् समझ ले तथा अन्य किसी विद्वान् के गुणों, विचारों और विद्वत्ता से लाभ न उठाए तो क्या वह स्वयं पूर्ण गुणी बन सकेगा ? ज्ञान की तो इति कभी होती नहीं चाहे वह जीवन भर उसका अर्जन करे।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'एमर्सन' का कथन है -

Every man I meet is my superior in some way. In that I learn of him.

प्रत्येक मनुष्य जिससे मैं मिलता हूँ किसी न किसी रीति से मुझसे श्रेष्ठ होता है। इसलिये मैं उससे कुछ शिक्षा लेता हूं।

कितनी यथार्थ बात है। ऐसा विचार रखनेवाला निरभिमानी व्यक्ति ही सच्चा पंडित या ज्ञानी बन सकता है। और इसके विपरीत अपने आपको पूर्ण ज्ञानी समझने वाला अहंकारी पुरुष न तो सच्चा ज्ञानी बन सकता है और न ही अपना प्रभाव औरों पर डाल सकता है। उसका जीवन केवल औरों से तर्क-वितर्क करने में तथा अपने ज्ञान का निरर्थक डंका पीटने में ही चला जाता है।

तीसरी बात है—**'सर्वे महत्वमिच्छन्ति'** सभी व्यक्ति अपने आपको बड़ा और महत्वपूर्ण मानना चाहते हैं। पर स्वयं के चाहने मात्र से ही क्या यह संभव हो सकेगा ? व्यक्ति वही महान् होता है जिसकी महानता अथवा गुणों की अन्य व्यक्ति सराहना करें। अपनी जबान से अपनी बड़ाई करने वाला व्यक्ति तो स्वयं ही अपने आपको ओछा साबित कर लेता है।

आचार्य चाणक्य ने भी कहा है—

परस्तुतगुणो यस्तु निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्।
इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः ॥

जिस गुण का दूसरे व्यक्ति वर्णन करते हैं उससे निर्गुण भी गुणवान होता है। इन्द्र भी अपने गुणों की प्रशंसा करने से लघुता को प्राप्त होता है।

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि ऐसा क्यों ? पर यह है सही। क्योंकि अपनी प्रशंसा स्वयं न करने वाले व्यक्ति में अधिक नहीं तो नम्रता का गुण तो होगा ही जो सब गुणों में श्रेष्ठ गुण कहलाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमारे आगमों में नम्रता अथवा विनय की बड़ी महिमा बताई गई है। और तो और इसे धर्म का मूल ही माना गया है। भगवान ने कहा भी है—

"विणयओ नाणं, नाणाओ दसणं,
दंसणाओ चरणं, चरणाओ मोक्खो ।"

अर्थात् विनय से ज्ञान आता है, ज्ञान से जीव-अजीवादि तत्त्वों का बोध होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, सम्यक्त्व से आचरण प्राप्त होता है और सम्यक्चारित्र से मोक्ष उपलब्ध होता है।

इस कथन से भलीभाँति सिद्ध होता है कि विनय अथवा नम्रता जीवन का सबसे महत्वपूर्ण गुण है और जिसके अंदर वह होता है वह अन्य गुणों के न होने पर भी महान् कहलाता है।

इसके विपरीत, जिसमें बहुत किताबी ज्ञान हो किन्तु उसके साथ ही साथ अहंकार रूपी महान् दुर्गुण हो, तो वह उसकी समस्त विद्वत्ता पर पानी फेर देता है और उसके लाख चाहने पर भी महानता उससे कोसों दूर भागती है।

वस्तुतः अगर सभी व्यक्ति कहें कि मैं ही नेता हूं, मैं ही पंडित हूं या कि मैं ही महान् हूं, तो कैसे काम चल सकता है ?

पंच महाभूतों का झगड़ा

हमारे शरीर में पंच महाभूत माने जाते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। कहते हैं कि एक बार इन सबमें विवाद उठ खड़ा हुआ। सभी का कहना था कि मैं ही मुख्य हूं, मेरे न होने पर तुम में से किसी का भी काम नहीं चल सकता। सर्वप्रथम वायु ने अपना बड़प्पन बताया—'मेरे होने पर ही तुम लोगों की कुशल है, अन्यथा तुम सबकी कीमत ही क्या है ?

वायु का कथन ठीक है, क्योंकि जब तक श्वास है तभी तक शरीर टिकता है। इसे लक्ष्य में रखते हुए संत कबीर ने कहा है—

दौड़ ले दौड़, जब लग उजाला तब लग दौड़।
अंधेरा पड़ेगा, बजा कुछ न चलेगा।
एक सांस जाता है, तीन लोक का मोल,
कहना था सो कह गया, अब क्या बजाऊँ ढोल ?

अर्थात्—"हे प्राणी ! जब तक शरीर में सांस यानी प्राणवायु है तब तक परमार्थ के मार्ग पर दौड़ चल अर्थात् जो कुछ धर्माराधना और तप-त्याग कर सके तो करले। अन्यथा एक दिन आत्म-ज्योति के इस शरीर से निकल जाने पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अंधेरा हो जाएगा और फिर सिवाय भिन्न-भिन्न योनियों में भटकने के, और तेरा कुछ भी वश नहीं चलेगा।"

आगे कहा है— "तेरे शरीर में से एक-एक श्वास जो कि तीनों लोकों से भी अधिक मूल्यवान है, धीरे-धीरे चला जा रहा है। इनकी कीमत समझकर इनका उपयोग कर। मैं तो जिस प्रकार तुझे कहना चाहिये कह चुका पर तेरी समझ में कुछ आ नहीं रहा है तो अब क्या ढोल बजा-बजाकर तुझे कहूं ताकि तू सुन सके ?"

श्वास खरीदे नहीं जाते

एक-एक श्वास की क्या कीमत है यह अंतिम समय में एक अमीर व्यक्ति को मालूम हुई जो मृत्यु-शैय्या पर पड़ा था। वह चाहता था कि पाँच मिनिट के लिये भी मुझमें बोलने की शक्ति आ जाय तो मैं अपना वसीयतनामा लिखवा दूँ। किन्तु श्वास समाप्त हो रहे थे और वह असमर्थ पड़ा हुआ अपनी विवशता पर आँसू बहा रहा था। अपनी कुछ सांसों के लिये वह मुँह मांगा धन डाक्टरों को दे देना चाहता था किन्तु डाक्टरों के लाख प्रयत्न करने पर भी उस अमीर को चंद श्वास भी नहीं बढ़ सके और वह अपना मृत्यु पत्र लिखवाने की तमन्ना लिये हुए ही इस लोक से प्रयाण कर गया।

स्पष्ट है कि वायु का इस शरीर के लिये बड़ा महत्व है और उसके अभाव में शरीर का काम नहीं चलता। किन्तु जब जल ने कहा कि 'मेरे बिना किसी का काम नहीं चल सकता' तो उसकी बात भी सत्य प्रतीत हुई। आखिर जल के अभाव में भी किसी का शरीर कभी टिका है ? जल तत्त्व न हो तो केवल अग्नि के कारण वह सूखकर लकड़ी नहीं हो पाएगा क्या ? तो वायु के समान जल का भी महत्त्व है।

अब बारी आई अग्नि तत्त्व की। वह भी अकड़कर बोला—'शरीर में सारा महत्व तो मेरा है। अगर मैं न होऊं तो इसमें डाला हुआ भोज्य पदार्थ कैसे पचेगा ? और फिर खाना पचने की ही बात काफी नहीं है, मेरे अभाव में तो तुम सब शरीर अंग बर्फ होकर रह जाओगे। इस प्रकार अग्नि का महत्व भी पूरा साबित हो गया।

पर पूर्व के तीनों तत्वों की बातें सुनते ही आकाश भी भड़क गया। वह बोला—"मेरा क्या शरीर में कम महत्व है ? मैं हूं तो शब्दों का उच्चारण हो सकता है, अन्यथा नहीं। न्याय शास्त्र ने भी यही कहा है 'शब्दगुणकमाकाशं।" इस प्रकार शब्द है तो तो आपका समाज है, जीवन है। अतः मैं ही सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण हूं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वी अब तक चुप थी पर चारों की गर्वोक्तियाँ सुनकर वह क्यों पीछे रहती ? वह भी बोल पड़ी—"अरे, तुम सब किस का घमंड कर रहे हो ? आखिर इस शरीर का निर्माण तो मुझसे ही हुआ है । मिट्टी के द्वारा ही इन्द्रियाँ बनी हैं, अन्यथा तुम क्या करते ? सच केवल यही है कि सारा कार्य केवल मेरे बल-बूते पर चल रहा है ।"

इस प्रकार पाँचों ही तत्व अपने आपको महत्वपूर्ण और अनिवार्य साबित करने लगे । पर बंधुओ ! क्या आप बता सकते हैं कि इन पांचों में से कौनसा अधिक महत्वपूर्ण है और बाकी सब गौण ? आपका यही उत्तर होगा कि सभी महत्वपूर्ण है और एक दूसरे के पूरक हैं । आवश्यकता केवल उनके संगठित होकर रहने की है । क्योंकि सारा महत्व संगठन का ही है ।

भाइयो ! मैं भी आज आपको संगठन का महत्व बताने जा रहा हूं ।

संघे शक्तिः कलौयुगे

इस कलियुग में सबसे बड़ी शक्ति संगठन में है । सतयुग में इस बात का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होती थी क्योंकि व्यक्ति अपने आपको नेता नहीं मानता था, स्वयं को ही महापंडित नहीं कहता था और अपने माहात्म्य का प्रदर्शन नहीं करता था । कुछ विरले व्यक्ति ऐसे होते भी थे तो उनका पूरे समाज पर प्रभाव नहीं पड़ पाता था क्योंकि जनता जागरूक थी और वह सत्य की पहचान कर लेने के कारण उन व्यक्तियों के भुलावे में नहीं आती थी ।

किन्तु आज का समय ऐसा है कि इस जमाने में चाहे सामाजिक क्षेत्र हो, धार्मिक हो, या राजनैतिक हो । इनसे संबंध रखनेवाले अधिकांश व्यक्ति अपने आपको ही सर्वोपरि मानते हैं और जनता को अपने ही मतानुसार चलाना चाहते हैं । भला ऐसी खींचा-तान करने से समाज कैसे टिकेगा ? वह तभी टिक सकेगा, यानी उसमें तभी व्यवस्था रहेगी जबकि सभी व्यक्ति संगठित होकर रहेंगे और एक दूसरे के विचारों का आदर करते हुए उचित मार्ग खोजकर उस पर बढ़ेंगे । एक भजन में कहा भी है—

संगठन की वीणा बजने दो,
मोहे मधुर मधुर धुन सुनने दो ।

वीणा में सात तार होते हैं और वे अलग-अलग होने पर भी जब बजते हैं तो बेसुरे नहीं होते कि किसी का स्वर कान को फाड़ दे, किसी का सुनाई न पड़े, किसी का प्रिय न लगे या किसी का लय में न चले । हम देखते हैं कि अलग-अलग तार होने पर भी जब वीणा बजती है तो उससे इतनी मधुर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और लयबद्ध स्वर-लहरी उठती है कि सुननेवालों का मन झूम उठता है, व्यक्ति मंत्र मुग्ध हो जाता है। इसका कारण क्या है ? केवल यही कि वीणा के सम्पूर्ण तार संगठित होकर बजते हैं एक भी इधर-उधर नहीं होता।

जब वीणा के जड़ तार भी एक-दूसरे के सहायक होकर झंकृत होते हैं तथा लोगों को अपनी मधुर ध्वनि से मोहित कर लेते हैं तो फिर चैतन्य मानव ऐसा क्यों नहीं करते ? क्या वे भी संगठित होकर अपने समाज और देश में ऐसा आकर्षण पैदा नहीं कर सकते जिससे विश्व के अन्य देश भी प्रभावित हो जाँय ? अवश्य कर सकते हैं, किन्तु संगठित होना ही बड़ी बात है। आज का व्यक्ति तो केवल अपनी ही ख्याति चाहता है, भले ही समाज में फूट पड़े या देश रसातल को चला जाय।

इसीलिये में आप लोगों से कहता हूँ कि आप चाहे राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करते हों, सामाजिक क्षेत्र में करते हों या धार्मिक क्षेत्र में कर रहे हों संगठित होकर ही जो करना हो वह करिये। क्योंकि अकेले आप किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो पाएँगे। एक कहावत भी है—'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता।' इसी प्रकार एक व्यक्ति समाज की गाड़ी को भी चला नहीं सकता।

एक फैक्टरी है। उसकी मशीन के सभी पुर्जे अगर बराबर काम करते हैं तो पूरी फैक्टरी चालू रहती है किन्तु फैक्टरी को चलाने वाली मशीन का एक पुर्जा भी अगर खराब हो जाता है या एक कील भी निकल कर गिर जाती है तो मशीन काम नहीं करती और सम्पूर्ण फैक्टरी का काम ठप्प हो जाता है। इसलिये मुख्य मशीन के सभी पुर्जे सलामत होने चाहिये। कोई भी एक पुर्जा यह नहीं कह सकता कि मैं ही सर्वेसर्वा हूँ। मेरे कारण ही मशीन चल रही है।

इसी प्रकार समाज का प्रत्येक सदस्य समाज की शोभा है और उसे उन्नत बनाने का हकदार है। समाज का कोई भी व्यक्ति यह नही कह सकता कि मेरे अभाव में समाज की कोई कद्र नहीं है। अगर वह ऐसा कहता है तो यह उसका थोथा अहंकार मात्र है। व्यक्ति का महत्त्व स्वयं उसके कहने से नहीं बढ़ता अपितु ओरों के कहने से बढ़ता है।

एक जाट अपनी पत्नी से बोला—"तू मुझे पटेल कहा कर।" जाटनी समझदार थी अतः मुस्कराती हुई अपने पति से बोली—"अजी, पटेल क्या कहूँ, मुझे ही कहना है तो फिर मैं तुम्हें राजा क्यों न कहा करूँ ?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्त्री की बात सुनकर जाट बड़ा शर्मिन्दा हुआ। वह समझ गया कि 'अपने मुँह मियाँ मिठ्ठू' बनने से कोई लाभ नहीं होता। व्यक्ति तभी ऊँचा कहलाता है जब उसकी योग्यता को देखकर संसार स्वयं ही उसे ऊँचा कहे। और ऐसा तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति समाज में सबसे मिल-जुल कर रहे और अपने सद्व्यवहार से लोगों का हृदय जीत ले।

कवि ने आगे कहा है--

अब नया जमाना आया है, संदेश प्रेम का लाया है।
टूटे हुए दिल को मिलने दो; संगठन की वीणा बजने दो॥

आशय है—आज का नवीन युग अपने साथ प्रेम का संदेश लेकर उपस्थित हुआ है। यह अपील करता है कि सब प्रेम पूर्वक रहो, प्रेम से अपने कर्तव्यों का पालन करो और प्रेम का ही एक दूसरे से व्यवहार रखो। इसी में मानव की महत्ता है।

कबीर ने भी सीधे-सीधे शब्दों में कहा है--

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥

वस्तुतः अहंकारी विद्वान् की अपेक्षा एक अज्ञानी किन्तु नम्र और स्नेह शील व्यक्ति अधिक अच्छा होता है।

जिसके हृदय में स्नेह का स्रोत प्रवाहित होता है वह अपने विरोधियों और कट्टर दुश्मनों को भी अपना बना लेता है। किन्तु इसके विपरीत जो अहंकारी और क्रोधी होता है वह अपनों को भी अपना बैरी बनाकर छोड़ता है। क्योंकि क्रोधावेश में वह भान भूल जाता है तथा जो नहीं कहना चाहिये वह कहता है तथा जो नहीं करना चाहिये वह कर बैठता है।

अंग्रेजी में एक कहावत है—

An angry man opens his mouth and shuts his eyes.

अर्थात्—क्रोधी व्यक्ति अपने मुँह को खोल लेता है किन्तु आँखों को बन्द कर लेता है।

आप कहेंगे कि क्रोध में आँखें बन्द कहाँ होती हैं ? वे तो और बड़ी तथा लाल हो जाती हैं। आपका विचार गलत नहीं है। किन्तु यहाँ आशय मनुष्य के चर्म-चक्षुओं से नहीं, अपितु ज्ञान-नेत्रों से है। इसलिये ही यह कहा गया है। यह सत्य है कि जिस समय मनुष्य क्रोध में होता है, नहीं ध्यान रखता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कि उसके सामने उसके माता-पिता हैं या मालिक, अथवा बहू है या बेटी। वह तो गुस्से के मारे अनर्गल गालियाँ या कटुवाक्य कहता चला जाता है। क्रोध की आग उसके अन्तर में रहे हुए स्नेह को भस्म कर देती है।

इसीलिये कवि को कहना पड़ा है कि आज का नवीन युग प्रेम का संदेश लाया है। प्रेम और संगठन के अभाव में न घर सुरक्षित रह सकता है, न समाज और न ही देश। उदाहरणस्वरूप-हमारे देश में भले ही अनेक पार्टियाँ थीं किन्तु जब चीन ने आक्रमण किया था, उस समय सभी ने संगठित होकर शत्रु का मुकाबला किया था और उस संगठन के परिणामस्वरूप उसे मुँह की खानी पड़ी थी।

अभिप्राय यही है कि संगठन और प्रेम के बिना कहीं भी काम नहीं चलता और किसी भी कार्य में सफलता हासिल नहीं होती। अपने हाथ में पाँच अंगुलियाँ हैं। पर अगर इनमें एकता न हो तो क्या ये कोई भी कार्य सम्पन्न कर सकती हैं? नहीं। भोजन का ग्रास पाँचों अंगुलियों से बनाया और मुँह में डाला जाता है। अगर वे एक दूसरे से अलग रहकर कार्य करना चाहें तो यह कैसे संभव हो सकता है? कौन सी एक अंगुलि भोजन का ग्रास मुँह तक ले जाने में समर्थ है? एक भी नहीं।

पद्य में आगे कहा है—'टूटे हुए दिल को मिलने दो।' शब्द सरल हैं किन्तु भाव कितना सुन्दर है? इसमें बताया है—किसी का भी दिल तोड़ो मत वरन प्रेम से और मधुर वचनों से उसे जोड़ने का प्रयत्न करो।

एक फारसी के कवि ने भी बड़ी सुन्दर बात कही है:—

अज़ बराए नरम गुफ्तन शुद जबां बे उस्तखां।
सरत-तंगो तुरश गुफ्तन नेस्त कोर आकिलां॥

अर्थात्—जिह्वा में हड्डी इसीलिये नहीं रखी गई है कि यह कोमल शब्दों का उच्चारण करे। कटु और कठोर शब्द बोलना अक्लमंदों का कार्य नहीं है।

वस्तुतः कटु वचन रूपी बाण बड़े तीखे होते हैं और उनका आघात छुरी तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्रों के आघात की अपेक्षा बहुत गहरा और दीर्घ काल तक दिल में चुभने वाला होता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह कटु वचनों से किसी का दिल तोड़ना नहीं, वरन मधुर वचनों से टूटे हुए दिलों को जोड़ना सीखे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे कहा गया है:—

वीणा यह तान सुनाती है, संगठन का पाठ पढ़ाती है।
मुरझी हुई कलियाँ खिलने दो, संगठन की वीणा बजने दो।

प्रस्तुत पद्य की लाइनों में मुख्य बात यह कही गई है कि—"हे भाई! वीणा के तारों से संगठन और स्नेह की शिक्षा लेकर तुम भी उन कलियों को, जो शीघ्र ही मुरझाने वाली हैं पुनः खिलाओ और उनमें नव-जीवन का संचार करो।"

बन्धुओ, मुरझाने वाली कलियों के पुनः खिलाने की बात शायद आपके गले से नहीं उतरी होगी। आप सोचते होंगे, यह माली का कार्य है, हमें इतना समय कहाँ कि इन व्यर्थ की बातों में उन्हें बर्बाद करें। पर यहाँ कलियों से आशय बगीचे में पैदा होने वाली फूल की कलियों से नहीं है। अपितु हमारे समाज में उत्पन्न होने वाली कलियों से है।

आपने कभी तो ध्यान दिया होगा कि हमारे समाज में कितनी विषमता है? इसमें आप जैसे लोग कम ही हैं जो धन में खेलते हैं तथा किसी वस्तु का अभाव क्या और कैसा होता है इसका अन्दाज भी नहीं लगा सकते। किन्तु अगर ध्यान पूर्वक देखें तो आप पाएँगे कि इसी समाज में अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें भरपेट रोटी भी कभी नहीं मिलती, अनेकों आश्रयहीन विधवाएँ हैं जो पराया काम करती हैं ताकि उन्हें पेट में डालने को दो ग्रास रोटी के और लज्जा ढकने को थोड़ा सा वस्त्र उपलब्ध हो सके। इसी समाज में अनेकों बालक अनाथ और असहाय हैं जो अपने पढ़ने की उम्र होने पर भी पढ़ नहीं सकते क्योंकि उनके पास पैसा नहीं है। और पैसा तो क्या पेट भरने को अन्न भी नहीं है, अतः वे जैन बालक होटलों में काम करते हैं, पैसे वालों के यहाँ छोटे-मोटे कामों के लिये नौकर हो जाते हैं या मजदूरी करने लगते हैं।

क्या वे सब समाज रूपी बगीचे के मुरझाये हुए फूल या असमय में ही मुरझा जानेवाली कलियाँ नहीं हैं? अवश्य हैं, और इन्हें पुनः खिलाने का कर्त्तव्य आप लोगों का है। किन्तु समाज इतना वृहत् है और अभावग्रस्त प्राणी उसमें इतने अधिक हैं कि चंद व्यक्तियों के किये यह कार्य नहीं हो सकता। जब आप लोग संगठित होकर समाज के उन श्री-हीनों की स्थिति सुधारने का बीड़ा उठाएँगे, तभी यह संभव हो सकेगा। किसी की सहायता केवल पैसे से ही नहीं की जाती। जिसके पास पैसा है, वह पैसा खर्च करे, जिसके पास पैसा नहीं है वह अपने शरीर से सेवा-कार्य करे और जिसके पास ये दोनों नहीं हैं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो वह अपने स्नेह और मधुर व्यवहार के द्वारा ही दुखी, चिन्तित और शोक-ग्रस्त प्राणियों के दुखों पर सान्त्वना का मलहम रखकर उन्हें जीने की शक्ति प्रदान करे। सारांश कहने का यह है कि केवल धन से ही नहीं वरन् तन और मन से मानव-सेवा करना भी कम महत्व नहीं रखता। बल्कि धन की अपेक्षा मन से सेवा करना अधिक उत्तम है। धन तो हाथ का मैल कहलाता है, उसे कोई भी फेंक कर दे सकता है, किन्तु आंतरिक प्रेम से किसी की सेवा करना बड़ा कठिन और दुर्लभ होता है। संत तुलसीदास जी का कथन भी है :

'सेवा धरम कठिन जग जाना।'

अर्थात्—सेवा करना सबसे बडा धर्म है पर कठिन भी है। आज हम सामायिक, प्रतिक्रमण, व्रत, उपवास, देव-दर्शन, पूजा आदि अनेक धर्म-क्रियाएँ करते हैं किन्तु इन सबसे बड़ा धर्म जो प्राणी की सेवा करना है उसकी ओर ध्यान नहीं देते। परिणाम यह होता है कि सेवा धर्म के अभाव में अन्य समस्त धर्म-क्रियाएँ फीकी पड़ जाती हैं। सच्चे धर्म का प्रारम्भ ही मानव-सेवा से हो सकता है, इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिये।

बड़ों की सेवा

एक ग्रामीण व्यक्ति बड़ा श्रद्धालु था और धर्म करके अपना जीवन सफल बनाने की इच्छा रखता था। किन्तु उसे यह नहीं सूझता था कि धर्म किस प्रकार करें, क्योंकि वह अपढ़ और धर्म कैसे किया जाता है इस बात से अन-भिज्ञ था। किन्तु एक बार संयोगवश उसके गाँव में संत आए और वह श्रद्धालु व्यक्ति उनका धर्मोपदेश सुनने के लिये गया।

संत उस समय कह रहे थे—'जो बड़ों की सेवा करता है वह जन्म-मरण के चक्कर से सदा के लिये छूट जाता है और उसका मानव-जीवन सार्थक होता है। क्योंकि सेवा करना सबसे महान् धर्म है।"

संत का यह उपदेश ग्रामीण व्यक्ति को बहुत पसन्द आया। वह सोचने लगा—"धर्म का यह काम तो मैं बखूबी कर लूँगा।" वह उसी वक्त गाँव के मुखिया के पास गया और बोला "पटेल जी, मैं आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ।" पटेल यह बात सुनकर चकित हुए और उन्होंने इन्कार भी किया किन्तु वह व्यक्ति माना नहीं और उनकी सेवा में रह गया।"

पर एक दिन उस गाँव मे थानेदार आ गया। अतः पटेल ने कहा—"भाई! आप खाना जल्दी तैयार कर देना। थानेदार साहब की हाजिरी में जाना है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उस व्यक्ति ने चौंककर पूछा—"क्या थानेदार आपसे भी बड़ा है ?" पटेल ने हँसकर उत्तर दिया—"हाँ वह हमारे अफसर हैं !"

ग्रामीण व्यक्ति यह सुनकर थानेदार की सेवा में पहुंच गया क्योंकि वह तो बड़ों की सेवा करना चाहता था। पर जब उसने थानेदार को अपने से बड़े अधिकारी का हुक्म मानते देखा तो वह उस अधिकारी के पास चल दिया।

इस प्रकार बड़े से बड़े की सेवा करने की इच्छा रखने के कारण वह उस देश के राजा के पास पहुँचा और तन-मन से राजा की सेवा करने लगा। अपनी निःस्वार्थ सेवा-भावना के कारण वह कभी किसी को अप्रिय नहीं लगा था और इसीलिए शीघ्र ही राजा का भी प्रिय बन गया।

काफी समय गुजर जाने के बाद एक दिन उसे लेकर राजा जंगल में शिकार खेलने गया। पर शिकार की खोज में भटकते-भटकते रात हो गई, अतः उस जंगल में ही एक पेड़ के नीचे दोनों ने रात्रि व्यतीत करने का निश्चय किया। सेवाभावी ग्रामीण ने कहा—"महाराज ! आप सो जाइये, मैं जागता रहूँगा ताकि कोई वन्य-पशु आकर हमें कष्ट न पहुँचाए।" राजा ने यही किया, वह सो गया। किन्तु ठीक अर्ध-रात्रि के समय कुछ आहट पाकर राजा जाग उठा और उस व्यक्ति से बोला—"भाई ! कोई भूतों का झुंड इधर आता हुआ दिखाई देता है। चलो जल्दी से पेड़ पर चढ़ जाएँ नहीं तो ये हमें मार डालेंगे।"

वह व्यक्ति चकित हुआ और पूछ बैठा—"महाराज ! आप डर क्यों रहे हैं ? क्या ये आप से भी बड़े हैं ?" राजा बोला—"ये मेरे से ही क्या, मेरे पुरखों से भी बड़े हैं। चलो जल्दी करो पेड़ पर चढ़ जाँय।"

पर सेवा धर्म अपनाने वाला व्यक्ति फिर कहाँ ठहरता ? वह बोला—"महाराज, अब मैं आपकी चाकरी नहीं करूँगा। मुझे तो बड़ों की ही सेवा करनी है।" ऐसा कहकर उसने राजा को तो पेड़ पर चढ़ा दिया और स्वयं निर्भीकता से उधर ही आने वाले उस टोले के नायक भैरवनाथ के समीप पहुँचा तथा उनसे कहने लगा—

"आप राजा से बड़े हैं अतः मुझे आपकी सेवा में रहना है।"

भैरवनाथ उसे देखकर चकित हुए किन्तु उसके भोलेपन पर प्रसन्न होकर उन्होंने उसे अपने साथ ले लिया और आगे चल दिये। किन्तु थोड़ा ही आगे बढ़े थे कि एक मन्दिर दिखाई दिया जिसमें भगवान विष्णु की मूर्ति स्थापित थी। भगवान की मूर्ति देखकर भैरवनाथ काँप गए। यह देखते ही ग्रामीण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति उनसे पूछ बैठा -- "क्या ये तुमसे भी बड़े हैं ?" उत्तर मिला --"हाँ ये हम सबसे बड़े हैं ।"

यह सुनते ही व्यक्ति ने भैरवनाथ का साथ छोड़ दिया और मन्दिर में आकर बैठ गया । पर वहाँ सेवा किसकी करता, अतः चुपचाप बैठा रहा । कुछ समय पश्चात् संयोगवश एक व्यक्ति वहाँ आया और पूछने लगा--

"तुम यहाँ क्यों बैठे हो ?"

"मैं इनकी सेवा करना चाहता हूँ इसलिए बैठा हूँ ।" व्यक्ति ने मूर्ति की ओर इंगित करते हुए उत्तर दिया ।

आगंतुक बुद्धिमान था । वह कुछ देर सोचता रहा और बोला —"कुछ समय बाद भगवान के इस मन्दिर के पास ही एक बड़ा मेला लगेगा । हजारों लोग यहाँ आएँगे, तुम अगर मनुष्यों की सेवा करोगे तो तुम्हें भगवान के दर्शन हो जाएँगे ।"

श्रद्धालु व्यक्ति वहीं एक कुटिया बना कर रहने लगा और मन्दिर में आने-जाने वालों की सेवा में जुट गया । वह लोगों को नदी के इस पार से उस पार भी पहुँचा देता था । कुछ समय बाद वहां मेला भर गया और उस व्यक्ति का काम भी बढ़ गया । दिन-रात वह लोगों की सेवा करता था ।

एक दिन वह बहुत रात बीते,थककर चूर हुआ लेटा ही था कि किसी ने कुटिया का द्वार बजाया । वह तुरन्त उठा और देखा तो एक बालक वहाँ खड़ा था । बालक ने कहा—"क्या तुम अभी मुझे नदी के उस पार पहुँचा सकते हो?"

"हाँ, हाँ क्यों नहीं ?" कहता हुआ व्यक्ति फुर्ती से उस बालक को लेकर नदी के उस पार पहुँचा तो उसे लगा कि उस बालक का रूप मंदिर में स्थापित मूर्ति के समान हो गया है । आश्चर्य से उसकी आँखें फटी सी रह गईं । यह देखकर मुस्कराते हुए बाल-रूप भगवान ने कहा—

"भाई ! तू जिस मंदिरवाले की सेवा करना चाहता है, वह मैं ही हूँ । पर अगर तू मेरी सेवा करने की इच्छा रखता है तो दीन-दुखी, अनाथ, असहाय एवं जरूरतमंदों की सेवा कर, क्योंकि उनकी सेवा करना ही मेरी सेवा करना है । मानव-सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है ।"

बंधुओ ! हमें भी बड़ी-बड़ी धर्म-क्रियाएँ करने से पहले धर्म के मूल सेवा-कार्य को अपनाना चाहिए । क्योंकि इस मूल के मजबूत होने पर ही तप-रूपी प्राचीरें और क्रिया-रूपी छत सुरक्षित रह सकेंगी । और धर्म के ऐसे सुदृढ़

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवन में ही ज्ञान की समुज्ज्वल ज्योति कषाय-रूपी आँधी से बची हुई आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त करेगी। पर यह सेवा-कार्य हो कैसे ? तभी, जबकि प्रत्येक समाज के व्यक्ति में प्रेम की भावना और संगठित होकर कार्य करने की लगन हो।

समाज के प्रत्येक सदस्य को चाहे वह बालक हो, युवक हो और वृद्ध हो, सभी को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करना होगा। अपनी-अपनी ढफ़ली और अपना अपना राग।' बजाने से तो सामाजिक व्यवस्था सुधारने की बजाय और भी बिगड़ जायगी। हमारा जैन-धर्म एक विश्व-प्रसिद्ध धर्म है तथा संसार इसका आदर व सम्मान करता है। किन्तु आज इसी के अनुयायी इसे टकड़ों में बाँटकर स्वयं धर्म गुरु बनना चाहते हैं। इससे क्या लाभ होगा ? सभी बिखर जायेंगे और अशक्त बनकर औरों से टक्कर लेने की क्षमता खो बैठेंगे। एक कहावत भी है—"बंधी मुट्ठी लाख की और खुल गई तो खाक की।"

अर्थ स्पष्ट है कि एक होकर रहने में ही लाभ है और समाज तथा धर्म का गौरव है। इसके विपरीत अपनी इच्छानुसार धर्म के विभिन्न रूप बनाकर उन्हें अपना-अपना मानने तथा एक दूसरे की खमियों का प्रदर्शन करने से धर्म के नाम पर ही धब्बा लगता है, जिस विशेष व्यक्ति के लिए कहा जाय वह तो गौण ही रह जाता है।

हमारे प्राचीन धर्माचार्य और धर्म प्रचारक तो संसार के अन्य धर्मों का भी अपने धर्म के समान ही आदर करते रहे हैं। आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर का कथन इस बात का प्रमाण है—

उदधाविव सर्वसिंधवः,
समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते,
प्रविभक्तासु सरित्स्ववोदधिः॥

—चतुर्थद्वात्रिंशिका, श्लोक १५

अर्थात्—हे नाथ ! जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र में पहुँचकर सम्मिलित होती हैं उसी प्रकार विश्व के समस्त दर्शन आपके शासन में सम्मिलित हो जाते हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों में समुद्र दिखाई नहीं देता; उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनों में आप दिखाई नहीं देते, फिर भी जैसे नदियों का आश्रय समुद्र है, उसी प्रकार समस्त दर्शनों का आश्रयस्थल आपका शासन ही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कितनी उदारता थी उन महापुरुषों की अन्य दर्शनों के प्रति ? किन्तु आज ? आज हम अपने एक धर्म को भी अलग-अलग रखकर उसे अलग-अलग बाने पहनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इससे केवल हानि ही हो रही है। लाभ कुछ भी नहीं। कितना अच्छा हो कि हम सब इन बातों के चक्करों को छोड़ कर अहिंसा, संयम और तप रूप महान् धर्म की उसके शुद्ध रूप में ही आराधना करें।

पर इसके लिए हमें अपने अहं का त्याग करना होगा। अपनी प्रसिद्धि, अपनी प्रतिष्ठा और अपने नेतापने की आकांक्षा को तिलांजलि देनी होगी संगठित होकर भगवान महावीर के आदर्शों पर पूर्ण रूप से चलना पड़ेगा। वीतराग पुरुषों द्वारा प्रदर्शित साधना-मार्ग को जब-हम ग्रहण करेंगे तभी हम अपनी मंजिल तक पहुँचेंगे और मुक्ति का भव्य द्वार हमारे लिये खुल सकेगा।

● ●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३ | प्रीति की रीति····

धर्म प्रेमीबन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने संगठन की महत्ता पर विचार किया था और यह भी समझाया था कि संगठन की आधारशिला प्रेम है। जब तक समाज के सदस्यों में एक दूसरे के प्रति प्रेम-भाव नहीं होता तब तक वे सभी संगठित होकर किसी उद्देश्य के लिए प्रयत्न नहीं कर सकते। इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अन्य सभी प्राणियों के प्रति प्रेम, सद्भावना और उदारता हो। संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है—

'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।'

यानी जिसका चित्त उदार है उसके लिये तो केवल अपना परिवार, समाज या देश ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व ही कुटुम्ब के समान है। संसार के प्रत्येक प्राणी को वह अपना कुटुम्बी समझता है।

वास्तव में अन्तःकरण ऐसा ही उदार और विशाल होना चाहिए। जिस व्यक्ति का अन्तःकरण उदार और प्रेमानुभूति से आप्लावित होगा, उसका जीवन संपूर्ण संसार के लिये आकर्षण का केन्द्र बन जाएगा।

प्रेमोत्पत्ति के सहायक कारण

अब हमें यह देखना है कि अन्तःकरण में प्रीति की उत्पत्ति और उसका वर्धन कैसे हो सकता है। क्योंकि 'प्रेम बढ़ाओ !' यह कहने मात्र से तो किसी के हृदय में प्रेम जगाया नहीं जा सकता। उसके लिये अपने व्यवहार में परिवर्तन करना पड़ेगा। और वह किस प्रकार किया जा सकता है यह हमें एक संस्कृत का श्लोक बताएगा—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ददाति, प्रतिगृण्हाति, गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुंक्ते, भोजयते चैव, षड्विधं प्रीति लक्षणम् ॥

श्लोक में प्रेमवर्धन के छः कारण या प्रेम के छः लक्षण बताए हैं। इनमें से पहला है—

(१) **ददाति** ददाति यानि देना। देने से प्रेम बढ़ता है। आप अपने किसी भी सुहृद-संबंधी को अपने हाथ से उपहार देंगे तो उसका आपके प्रति-प्रेम बढ़ेगा। हम देखते भी हैं कि एक व्यक्ति जिसके बगीचे में आम, अनार या अमरूद, कोई भी वस्तु पैदा होती है तो वह समय-समय पर उन्हें अपने मित्रों या सगे-संबन्धियों के यहाँ भेजता है। इसका क्या कारण है ? क्या जिनके यहाँ वे फल अथवा अन्य कोई वस्तु भेजी जाती है, उन्हें वह प्राप्त नहीं होती ? नहीं, कभी उसके यहाँ भी कुछ नहीं है किन्तु व्यक्ति एक-दूसरे के यहाँ ये वस्तुएँ स्नेह-संबंध बढ़ाने के लिए भेजते हैं।

देने के महत्त्व का आप सभी को भली-भांति अनुभव है। क्योंकि आप आए दिन किसी के जन्मदिन की या शादी-विवाह में दी जाने वाली पार्टियों में सम्मिलित होते हैं। और उनमें जाते समय कुछ न कुछ उपहार लेकर ही जाते हैं, चाहे वह आभूषण हो, वस्त्र हो, पुस्तक, पैन या कोई भी छोटी-बड़ी वस्तु हो। वह आप क्यों देते हैं ? जो व्यक्ति अपनी लड़की के विवाह पर हजारों रुपये खर्च करता है उसे चन्द रुपयों में खरीदी हुई आपकी वस्तु की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु वह उसे प्रेम का उपहार समझकर ग्रहण करता है। सिर्फ इसलिए कि उसका आपके साथ मधुर सम्बन्ध कायम रहे। वह उपहार की कीमत नहीं देखता, देखता है उसके पीछे रहे हुए आपके स्नेह को। क्योंकि देने वाले का हृदय उपहार को अत्यन्त प्रिय और मूल्यवान बना देता है।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को देने का महत्व समझकर उससे स्नेह-प्राप्ति का लाभ उठाना चाहिए।

(२) **प्रतिगृण्हाति**—इसका अर्थ है—बदले में लेना। आप सोचेंगे यह भी कोई प्रेम बढ़ाने का साधन है ? लेने से तो उलटा प्रेम घटता है। पर नहीं, ऐसी बात नहीं है। प्रेम उस लेने से घटता है जो किसी से जबर्दस्ती लिया जाता है। जैसे चोरी करके, छीन करके, ब्याज या कर के रूप में लेकर के या फिर हैसियत न होने पर भी दहेज आदि की मांग करके। संक्षेप में, कोई देना न चाहता हो, फिर भी उससे लिया जाय तो अवश्य प्रेम घटता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु स्नेह और सम्मानपूर्वक जो किसी के द्वारा दिया जाता है, उसे लेने से प्रेम घटता नहीं वरन बढ़ता है, और उसे लेने से अगर इन्कार किया जाय तो न लेने वाला व्यक्ति अहंकारी साबित होता है।

आपको ज्ञात होगा कि सुदामा जब श्रीकृष्ण से मिलने द्वारिका गए तो उनकी पत्नी ने केवल कुछ मुट्ठी चावल श्री कृष्ण को भेंट में देने के लिए अपने पति सुदामा के दुपट्टे में बाँध दिये। किन्तु तीन खंड के राजा श्रीकृष्ण को मुट्ठी भर चावलों की भेंट देने की हिम्मत सुदामा की नहीं पड़ी। भले ही कृष्ण उनके बचपन के मित्र थे किन्तु उस समय वे महाराज थे और उन्हें चावलों की तुच्छ भेंट देने का साहस सुदामा को कैसे होता ?

पर कृष्ण अन्तर्यामी थे और जान गए थे कि अत्यन्त दरिद्रावस्था होने पर भी ये चावल सुदामा की पत्नी ने अत्यन्त प्रेम से भेजे हैं और मेरे मित्र ने लाए हैं। अतः उस भेंट की वस्तु को सप्रेम ग्रहण करने के लिए वे अपने बाल-मित्र से बोले—

कछु भाभी हमको दियौ, सो तुम काहे न देत ?
चांपि पोटरी कांख में, रहे कहौ केहि हेत ?
आगे चना गुरु मातु दए ते लए तुम चाबि हमें नहिं दीने।
स्याम कह्यो मुसकाय सुदामा सों चोरी की बानि में हौ जु प्रवीने॥
पोटरी कांख में चांपि रहे तुम खोलत नाहिं सुधारस भीने।
पाछिली बानि अजौं न तजी तुम तैसेई भाभी के तन्दुल कीने॥

प्रेम की तुच्छ भेंट ग्रहण करने के लिए ही कृष्ण बड़ा मधुर उपालम्भ देते हुए सुदामा से कहते हैं—"मित्र ! मेरी भाभी ने मेरे लिए कुछ भेजा होगा, उसे क्यों नहीं देते हो ? तुम्हारी बगल में यह पोटली दिखाई तो दे रही है पर उसे निकालते क्यों नहीं ?

आगे और वे मुस्कराते हुए कहते हैं –"देखो मित्र ! बचपन में जब हम साथ-साथ पढ़ते थे, एक बार हमारी गुरु-माता ने चने दिये थे। किन्तु वे भी तुम ही खा गए थे मुझे नहीं दिये थे तुमने। लगता है कि आज भी तुमने अपनी वह पुरानी आदत छोड़ी नहीं है और उन चनों के समान ही भाभी द्वारा भेजे हुए चावलों की दशा की है। अन्यथा बताओ यह पोटली तुम खोलते क्यों नहीं हो ?"

बंधुओ ! इसे लेना कहते हैं। गरीब सुदामा अपनी छोटी सी भेंट देने में संकोच का अनुभव न करें तथा शर्मिन्दा न हों, इसलिये कृष्ण उन्हें मीठे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपालम्भ देकर स्वयं ही वह भेंट ले लेते हैं और प्रेम-वश चावल कच्चे ही खाने लग जाते हैं । कथा बड़ी है अतः प्रसंगानुसार थोड़ा सा मैंने बताया है।

सारांश यही है कि इस प्रकार स्नेहपूर्वक किसी का दिया हुआ लेने पर परस्पर प्रेम की वृद्धि होती है ।

(३) **गुह्यमाख्याति**—प्रेम-वृद्धि में तीसरा कारण है अपने मन की गुप्त बात कह देना । जिस व्यक्ति पर विश्वास हो उससे मन की न बतानेवाली बात कहने से सुनने वाले का स्नेह बढ़ता है और उसे प्रसन्नता होती है कि मुझे विश्वास के योग्य माना है । दूसरे, कहते हैं कि मन की व्यथा कहने से मन हलका हो जाता है और कभी-कभी सुननेवाले के द्वारा किसी समस्या का हल भी निकल आता है ।

किन्तु ऐसी गुह्य बातें कहने से पहले, सुनने वाले को खूब ठोक-बजा लेना चाहिये । अगर वह ओछे दिल वाला हुआ तो कहने वाले को संसार के सामने उपहासप्रद या अपमानित बनाकर छोड़ेगा और ऐसे व्यक्ति से कुछ कहना खतरे से खाली नहीं होगा । एक दोहे में कहा गया है:—

कपटी मित्र न कीजिये, पेस-पेस बुध लेत ।
पहले ठांव बताइ के पीछे गोता देत ।।

यानी कपटी मनुष्य जो मित्रता का दम भरते हैं, वे भुलावा देकर किसी व्यक्ति के मन का भेद तो निकाल लेते हैं, किन्तु फिर उसे प्रकाशित करके व्यक्ति को संसार के सामने मुँह दिखाने लायक भी नहीं रखते । ऐसे धूर्त व्यक्ति ऊपर से तो नम्रता, पवित्रता और मित्रता का दावा करते हैं किन्तु उनके अन्तर में कपट का विष भरा होता है ।

किसी कवि ने सत्य ही कहा है:—

मुखं पद्मदलाकारं, वाचा चन्दन-शीतला ।
हृदयं कर्त्तरीतुल्यं, धूर्तस्य लक्षण त्रयम् ।।

तात्पर्य यह कि—धूर्त व्यक्ति के तीन लक्षण होते हैं प्रथम धूर्त का मुख कमल के पत्ते के समान कोमल होता है । दूसरे, उसकी वाणी चन्दन के समान शीतल होती है । तीसरे, उसका हृदय कैंची के समान होता है ।

इसलिये ऐसे व्यक्तियों से भूलकर भी मन की गुप्त बातें नहीं कहना चाहिये अन्यथा लेने के बदले देना पड़ सकता है ।

(४) **पृच्छति**—यह अभी बताए गए तीसरे कारण का उलटा है । अर्थात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रेम बढ़ाने का तीसरा साधन था मन की गुप्त बात कहना और यह चौथा कारण है दूसरे के मन की बात पूछना। पढ़ने और सुनने में यह बात छोटी लगती है किन्तु महत्त्व की दृष्टि से कम नहीं है।

किसी दुखी और चिन्ताग्रस्त व्यक्ति को हम देखते हैं तो स्पष्ट महसूस होता है कि उसके दिल पर दर्द का मानों पहाड़ ही खड़ा है। किन्तु जब हम सहानुभूतिपूर्वक उससे उसके दुःख का हाल सुन लेते हैं, उसे सान्त्वना देते हैं और बन सके तो उसके दुख-निवारण का कोई उपाय बता देते हैं तो वह व्यक्ति अपने आपको बड़ा हलका मससूस करता है और हमारे प्रति प्रेम व्यक्त करता हुआ कृतज्ञता प्रदर्शित करता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपनी ही हांके जाते हैं, औरों की कुछ नहीं सुनते। ऐसे व्यक्ति से सुनने वाला उकता जाता है और उससे पीछा छुड़ाने का प्रयत्न करता है। किन्तु जो व्यक्ति अपनी कहता है, उसी प्रकार प्रेम से दूसरे की भी सुनता है वह सभी का शीघ्र ही प्रिय-पात्र बन जाता है। इसलिये आवश्यक है कि अगर अपनी दूसरों से कहो तो दूसरों की भी अवश्य सुनो। तभी आपस में प्रेम बढ़ सकता है।

(५) **भुंक्ते**—प्रेम बढ़ाने का पांचवाँ कारण है खाना। खाने से यहाँ आशय अपने घर में बैठकर अपना ही भोजन करने से नहीं है वरन् औरों के द्वारा प्रेम से खिलाये जाने वाले भोजन से है।

भले ही आप श्रीमंत हैं किन्तु आपका कोई गरीब मित्र या संबंधी अपनी किसी खुशी के अवसर पर आपको आमंत्रित करके आपके सामने अपनी हैसियत के अनुसार रूखा-सूखा भोजन रखता है तो बिना नाक-भौंह सिकोड़े हुए प्रेम से उसे ग्रहण करना चाहिये। अनेक व्यक्ति तो यही मानकर निद्यम ले लेते हैं कि सामने आए हुए अन्न का कभी अनादर नहीं करूँगा भले ही उसमें से एक ही ग्रास क्यों न खाऊँ क्योंकि अन्न हमारे लिये देवता के समान पूज्य है।

आज के अधिकांश व्यक्ति जो कि अमीर होते हैं, वे गरीब के घर खाने तो क्या जाएँगे, उनसे बात करने में भी अपनी हेठी समझते हैं। वे भूल जाते हैं कि जिस धन का हम गर्व करते हैं उसका अन्त क्षय या वियोग ही है। और कोई भी लाभ उससे होने वाला नहीं है।

बाल्मीकि रामायण में कहा भी है:—

सर्वेक्षयान्ता निचयाः पतनान्ता समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता, मरणान्तं च जीवितं॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सभी संग्रहों का अन्त क्षय है, बहुत ऊँचे चढ़ने का अन्त नीचे गिरना है। संयोग का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है।

बुद्धिमान और विशाल हृदय वाले व्यक्ति इन बातों को सदा स्मरण में रखते हुए धन, जन अथवा किसी भी अन्य संयोग का गर्व नहीं करते। न वे इन संयोगों के कारण अपने आपको उच्च समझते हैं और न इनके अभाव में अन्य व्यक्तियों को नीचा।

श्रीकृष्ण ने अपने भक्तों पर अन्तर का सम्पूर्ण स्नेह उड़ेलते हुए भी कैसा मधुर उपालम्भ दिया है—

दुर्योधन की छोड़ मिठाई,
साग विदुर घर खायो ···
भक्तों ने मोहे नाना भांति नचाओ।

कितनी प्रेम पूरित झिड़की है? कहा है—"इन भक्तों के मारे तो मेरे नाक में दम हो गया है। कितना नचाते हैं ये मुझे। इन महात्मा विदुर के कारण मुझे राजा दुर्योधन के बढ़िया पकवान छोड़कर इनकी पत्नी के हाथ से रूखा साग खाना पड़ा। कहते हैं कि एक बार विदुर की पत्नी ने प्रेम-विह्वल हो जाने के कारण केले छीलते वक्त अन्दर का गूदा तो एक ओर फेंक दिया तथा छिलकों का ढेर कृष्ण के आगे लगा दिया। पर कृष्ण उन्हें ही खा गए। पर उसी समय संयोग वश विदुर आ गए और यह सब देखकर महान् आश्चर्य से पत्नी को झिड़कते हुए बोले—

"अरी भागवान्! यह क्या कर रही है?"

"क्यों क्या हुआ?" पत्नी उनकी बात पर ध्यान न देते हुए केले छीलती हुई बोली।

"जरा देखतो सही, तू खिला क्या रही है इन त्रिलोकीनाथ को?"

तब चौंककर पत्नी ने देखा तो उसे मालूम पड़ा कि वह कृष्ण को छिलके देती जा रही है, और वे खाते जा रहे हैं। अपनी भूल पर अत्यन्त शर्मिन्दा होती हुई वह भगवान के चरणों पर झुक गई।

किन्तु कृष्ण क्या वे छिलके नाराजी से खा रहे थे? नहीं, उन्हें तो अपार प्रेम से खिलाये हुए छिलके अमृत तुल्य महसूस हो रहे थे।

राम के जीवन की भी एक ऐसी ही प्रसिद्ध घटना है। वन में घूमते-घामते एक बार वे किन्हीं ऋषियों के आश्रम की ओर बढ़े। उनके आगमन की सूचना पाकर सभी ऋषि अत्यन्त प्रसन्न हुए और स्वागत की संपूर्ण तैयारियाँ करके भगवान की प्रतीक्षा करने लगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसी आश्रम के पास शबरी नामक एक भीलनी रहती थी। उसने भी राम के आने का समाचार सुना। सुनते ही वह भी राम के स्वागत की तैयारी करने लगी। पर वह गरीबनी क्या तैयारियां करती ? उसके पास महर्षियों के समान सुरुचिकर कंद, मूल, फल कुछ भी नहीं थे। केवल एक टोकरीभर बेर थे। किन्तु पूर्ण विश्वास और भक्तिपूर्वक उसने उन्हीं बेरों को चखना शुरू कर दिया। जो खट्टे होते उन्हें एक ओर रखती जाती, और मीठे लगने पर भगवान को खिलाने के लिए अपनी टोकरी में रख देती।

उसका यह कार्य देखकर आश्रमवासी हंसने लगे और बोले—"इस भीलनी के जूठे बेर खाने के लिए तो भगवान जरूर आएँगे भला और कौन उनका ऐसा स्वागत कर सकता है ?"

पर भीलनी भी थी कि उसने किसी भी व्यक्ति के उपहास पर ध्यान नहीं दिया और चख-चखकर मीठे बेर छाँटती रही। जब उन्हें छाँट चुकी तो अपनी साड़ी के आंचल से ही झोपड़ी के सामने की सारी जगह बुहार दी और वह भी भगवान की प्रतीक्षा करने लगी।

समय होते ही राम आश्रम में प्रविष्ट हुए और ऋषियों ने भक्तिपूर्वक उन्हें अपने-अपने यहाँ पधारने का आग्रह किया। किन्तु सब ठगे से खड़े रहे, यह देखकर कि राम सीधे शबरी की झोंपड़ी की ओर जा रहे हैं।

प्रेम के आंसू बहाती हुई शबरी दौड़ी आई और राम को हाथ पकड़ कर अपनी झोंपड़ी के बाहर ले आई। एक आसन पर उन्हें बिठा दिया और बार-बार उनके चरणों से अपना मस्तक छुआने लगी। उसके पश्चात् ही वह टोकरी उठा लाई और एक-एक करके अपने चखे हुए बेर राम को खिलाने लगी। वे जूठे बेर खाकर राम ने अत्यन्त तृप्ति का अनुभव किया और उसके पश्चात् ही अन्य आश्रम निवासियों का आतिथ्य ग्रहण किया।

कहने का अभिप्राय यही है कि महत्त्व खाने की वस्तु का नहीं है वरन् उसके पीछे रहे हुए स्नेह का है। अतः उसका अनादर कभी नहीं करना चाहिए। और अत्यन्त स्नेहपूर्वक जो भी रूखा-सूखा किसी के द्वारा उपस्थित किया जाय उसे खिलाने वाले के स्नेह के समान ही स्वयं भी स्नेह से ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करने पर ही आपसी प्रेम की वृद्धि हो सकती है।

(६) भोजयते—प्रेम की वृद्धि का छठा साधन है - खिलाना। स्नेह खाने से जिस प्रकार बढ़ता है उसी प्रकार खिलाने से भी बढ़ता है। यह नहीं कि किसी के यहाँ स्वयं तो अनेक बार खा आएँ अपनी श्रीमंताई का और उच्चता का एहसान करने के लिए और सामने वाले को कभी ठंडे पानी के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिए भी न पूछें। अभी मैंने सुदामा के विषय में आपको बताया था कि वे किस प्रकार अपनी तुच्छ भेंट लेकर कृष्ण के पास गये और कृष्ण ने किस प्रकार उस भेंट को अपार स्नेह के साथ स्वीकार किया।

उन्हीं सुदामा के द्वारिका जाने से पहले की बात है, उनकी पत्नी उन्हें कृष्ण के पास जाने का आग्रह कर रही थी तो अपनी घोर दरिद्रावस्था से भी पूर्ण संतुष्ट यानी संतोषी ब्राह्मण सुदामा ने पत्नी को समझाते हुए कहा—

तें तो कही नीकी सुनि बात हित ही की यही—
रीति मित्रई की नित प्रीति सरसाइए।
मित्र के मिले तें चित्त चाहिए परसपर,
मित्र के जो जेंइए तो तो आपहु जेंवाइए॥

सुदामा ने अपनी पत्नी से क्या कहा? यही कि—"अरी बावली! तूने कृष्ण के यहाँ जाने के लिए बार-बार कहा सो तो ठीक है, किन्तु यह तो सोच कि मित्रता निभाने की रीति क्या है, जिससे प्रेम सदा बना रहे, वह यही है कि मित्र से मिलने पर उसके समान हमें भी स्नेह देना चाहिये और अगर उसके यहाँ हम खाएँ तो हमें भी खिलाना चाहिये।

कितनी सुन्दर बात है? यद्यपि सुदामा गरीब थे किन्तु इस बात को भली-भाँति महसूस करते थे कि समान व्यवहार करने से ही मित्रता निभ सकती है और परस्पर प्रेम बना रह सकता है।

बंधुओ, आप संत मुनिराजों के दर्शन करने के लिये अनेक शहरों में जाते हैं, चाहे वे मारवाड़ मेवाड़, राजस्थान, मालवा, पंजाब या महाराष्ट्र कहीं के भी हों, वहाँ का संघ और संघ के व्यक्ति आपका इतना सत्कार करते हैं, और प्रेम-पूर्वक भोजन कराते हैं कि हृदय गद्‌गद् हो जाता है। उसी प्रकार आप भी अपने यहाँ आने वाले दर्शनार्थियों की सेवा में तन-मन से जुट जाते हैं। पर अगर आप ऐसा न करें तो? क्या आपके शहर का, संघ का और व्यक्ति का महत्व कम नहीं होगा? अवश्य ही होगा।

इसीलिए मेरा कहना है कि प्रेम बढ़ाने के लिये खाने के साथ ही खिलाना भी आवश्यक है। यद्यपि मैं जानता हूँ कि आप केवल उन्हें ही नहीं खिलाते, जिनके यहाँ खा चुके हैं अपितु जिन्हें कभी देखा नहीं और जिनसे कोई पूर्व-परिचय नहीं, ऐसे भी अपने समस्त अतिथियों का आप पूरा सत्कार करते हैं। पर मैं नीति की दृष्टि से बात कह रहा हूँ कि अगर और कुछ अधिक न कर सकें तो हमें आये हुए अतिथि को रूखा-सूखा खिलाकर ही ठंडा पानी अवश्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिलाना चाहिए। आपके यहाँ से खाकर जाने वाला व्यक्ति कभी आपको भूल नहीं सकता।

एक बार एक बरात एक गाँव से दूसरे गाँव जा रही थी। मार्ग में उसे चोरों ने लूट लिया सयोगवश चोरों के सरदार ने एक व्यक्ति से बरात के मालिक का नाम पूछ लिया।

जिससे पूछा गया था उस व्यक्ति ने डरते-डरते बता दिया कि अमुक सेठ के लड़के की बरात जा रही है।

नाम सुनते ही चोरों का मुखिया चौंक पड़ा और बोला—"ओह! मैंने तो एक बार उनके यहाँ भोजन किया है, उनका नमक खाया है। फिर किस प्रकार उनके लड़के की बारात को लूट सकता हूँ?"

यह विचार आते ही उसने अपने साथियों को आदेश दिया कि—'लूट का सब माल वापिस कर दो।' इस प्रकार उस चोर ने लूटा हुआ माल वापिस कर दिया और अपनी ओर से भी दूल्हे को उपहार दिया। यह क्यों हुआ? इसलिए कि चोर को सेठ ने कभी भोजन कराया था।

तो बंधुओ! आपस में प्रेम बढ़ाने के ये छः साधन आपके सामने रखे गए हैं। अगर प्रत्येक व्यक्ति इनका उपयोग करे तो परिवार में और समाज में कभी अशांति और आपसी तनाव की स्थिति उत्पन्न न हो। यद्यपि अभी बताए हुए ये सभी साधन सुनने में सरल और सहज लगते हैं किन्तु इन पर अमल करना उतना सरल नहीं है। फिर भी जो व्यक्ति इन पर अमल करेंगे उनका जीवन निश्चय ही सुन्दर बनेगा तथा वह अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के मन को मुग्ध कर लेगा।

आप जानते ही होंगे कि मन का मिलना बड़ा कठिन है और उनका फटना कितना सरल है। मन मिलने में तो बहुत समय लग सकता है किन्तु उनके टूटने में क्षण भर भी नहीं लगता। एक दोहे में कहा गया है —

"दूध फटा, घी कहां गया? मन फटा गई प्रीति।
मोती फटा कीमत गई, तीनों की एक ही रीति॥

पद्य में बताया गया है—'दूध के फटते ही उसमें से घी विलीन हो जाता है, मन के फटते ही प्रीति नष्ट हो जाती है और मोती के फटते ही उसकी कीमत समाप्त हो जाती है। इन तीनों की एक ही रीति है।

इसीलिये बंधुओ अपने आपसी संबंधों को बिगड़ने मत दो अन्यथा प्रेम नष्ट हो जाएगा और एक बार जो प्रेम नष्ट हो गया तो फिर उसे पुनः जागृत करना कठिन होगा। इस विषय में भी कवि रहीम ने कहा है —

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रीति प्रीति सबसों भली, वैर न हित मित गोत ।
रहिमन याही जनम की, बहुरि न संगति होत ।।

अर्थात्—सबसे प्रेम-भाव रखना ही उत्तम है, इससे मन शांत, निर्मल और निश्चिन्त रहता है । और इसके विपरीत अगर अपने हितैषी या मित्रों के साथ बैर बांध लिया जाय तो प्रथम तो अपना मन ही प्रसन्न और हलका नहीं रह सकता दूसरे एक बार क्रोध की अग्नि के जल जाने पर धीरे-धीरे सभी सद्गुण उसमें भस्म हो जाते हैं और अनेकानेक कर्मों का बंध होता है ।

पद्य में आगे कहा गया है कि हम सब मानव जो इस जन्म में एक-दूसरे से मिले हैं, पुनः इस प्रकार कभी नहीं मिल सकेंगे । क्योंकि मनुष्य पर्याय बार-बार नहीं मिलती । जो जीव जैसे कर्म करेगा उसे उन्हीं के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेना पड़ेगा ।

इस संसार में जो भी संयोग हमें मिले हैं उनका वियोग होना ही है । वाल्मीकि रामायण का एक श्लोक हमें बताता है—

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे ।
समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कञ्चन ।
एवं भार्याश्चपुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च ।
समेत्य व्यवधावन्ति, ध्रुवो ह्येषां विनाभवः ।।

अर्थात्—जिस प्रकार महा-सागर में बहते हुए दो काष्ठ के टुकड़े कभी एक-दूसरे से मिल जाते हैं और मिलकर कुछ काल के बाद एक-दूसरे से विलग हो जाते हैं उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, मित्र, कुटुम्बी तथा धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं । इनका वियोग अवश्यंभावी है ।

इसीलिये महापुरुष हमें बार-बार कहते हैं—किसी से बैर मत बांधो, क्योंकि जीवन का अल्प समय पलक झपकते ही व्यतीत हो जाएगा किन्तु बैर से बंधे हुए कर्म अनेक जन्मों तक दुःख देंगे । और इसके विपरीत अगर मानव-मानव से प्रेम करेगा तो उसका यह जन्म तो सुखमय बनेगा ही, अगला जन्म भी शुभ-कर्मों के फलस्वरूप सुखद हो सकेगा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४ निर्गुणी को क्या उपमा दी जाय ?

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

आज हमें इस बात पर विचार करना है कि मनुष्य जीवन कितना महत्त्व पूर्ण है, और कैसे व्यक्ति इस महिमामय जीवन का भी लाभ न उठाकर इसे निरर्थक खो देते हैं ?

मानव जीवन की दुर्लभता

इस संसार में लाखों प्रकार के प्राणी हैं जो चौरासी लाख योनियों में बंटे हुए हैं। चौरासी लाख की संख्या छोटी नहीं है। इस पर शीघ्रता से विश्वास भी नहीं किया जा सकता। किन्तु दीर्घ दृष्टि से देखा जाय तो इसे संख्या के लिये आश्चर्य भी नहीं होता। क्योंकि हम अपनी आंखों से भी न जाने कितनी प्रकार के जीव-जन्तुओं को देखते हैं। उनमें से अनेक आकाश-गामी हैं, अनेक भूमि पर विचरण करने वाले, और अनेकों जल में अपनी जिन्दगी बिताते हैं। वर्षा काल में असंख्य प्रकार के कीड़े, मकोड़े, मक्खी, मच्छर, पतिंगे तथा डांस आदि जीवों से भूमि पट जाती है। इसके अलावा केवल पृथ्वी पर ही सारा संसार सीमित नहीं है, अपितु इसके ऊपर स्वर्ग और नीचे नरक भी है। अनन्तानन्त तिर्यंच जीव भी यहाँ निवास करते हैं।

इस प्रकार विचार करने पर हमारी समझ में सहज ही आ जाता है कि इस जीव-जगत का प्रकार कितना अधिक और जीवों की चौरासी लाख योनियां होना भी कोई बड़ी बात नहीं है।

तो अब मैं यह बताने जा रहा हूं कि इस संसार में जो लाखों प्रकार के प्राणी हैं उनमें से एक प्रकार का प्राणी मनुष्य भी है और वह अन्य समस्त प्राणियों से श्रेष्ठ है। यह इसलिये कि मनुष्य में अन्य समस्त प्राणियों की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षा असाधारण मस्तिष्क, विशिष्ट विवेक और चमत्कारिक बुद्धि है। उसका विशाल अन्तःकरण है और उसमें अपना भला-बुरा सोचने की शक्ति है। इतना ही नहीं, इस भूतल पर जन्म लेनेवाले अन्य समस्त प्राणियों की अपेक्षा उसे स्पष्ट वाणी प्राप्त हुई है, जिसके द्वारा वह अपनी बात औरों से भली-भाँति कह सकता है। सारांश यही कि संसार की अन्य असंख्य योनियों से बचकर मनुष्य योनि प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है और यह अनन्त पुण्यों के फल-स्वरूप प्राप्त होती है। और तो और देवता भी मनुष्य पर्याय पाने के लिये लालायित रहते हैं।

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि 'देवता मनुष्य जन्म पाने के लिए तरसते हैं आपका आश्चर्य करना और विचार करना उचित है। क्योंकि हम रात-दिन पढ़ते और सुनते भी हैं कि पुण्य-संचय करने से स्वर्ग प्राप्त होता है। और जब मनुष्य स्वर्ग की प्राप्ति करने का प्रयत्न करता है तो फिर देवता क्यों मनुष्य जन्म पाने की इच्छा करते हैं ?

हमारे आगम इसका कारण आध्यात्मिक दृष्टिकोण से बताते हैं। वीतराग प्रभु का कथन है कि मनुष्य और देवताओं की सृष्टि भिन्न है तथा सांसारिक सुखों के मुकाबले में तो देवताओं के पास असीम ऋद्धि होती है तथा वे मनुष्य की अपेक्षा अनेक गुना अधिक सुख भोगते हैं। किन्तु आध्यात्मिक विकास, साधना और उसकी सिद्धि का जहाँ सवाल आता है, वहाँ देवता मनुष्य से बहुत नगण्य साबित होते हैं। क्योंकि देवता अधिक से अधिक केवल चार गुणस्थानों तक पहुंच सकते हैं, किन्तु मनुष्य चौदहों गुणस्थानों को पार करके संसार-मुक्त हो जाता है। अर्थात् परमात्म पद की प्राप्ति कर सकता है। अब आप ही बताइए कि देवयोनि श्रेष्ठ हुई या मनुष्य-योनि ? निश्चय ही मनुष्य योनि श्रेष्ठ है। और इसीलिये देवता मनुष्य जीवन प्राप्त करना चाहते हैं।

हमारे स्थानांग सूत्र में कहा भी है—

तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा

माणुसं भवं, आरिए खेत्ते-जम्मं, सुकुल पच्चायातिं ॥

देवता भी तीन बातों की इच्छा करते हैं—मनुष्य जीवन, आर्यक्षेत्र में जन्म और श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति।

स्पष्ट है कि मानव जीवन बड़ा महिमामय और दुर्लभ है। इसकी प्राप्ति भी अनन्त पुण्यों के फलस्वरूप होती है। किन्तु जो बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं वे इस जीवन का सम्पूर्ण लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं तथा अपनी संयम-साधना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के द्वारा ऐसा कर भी लेते हैं। पर जो विवेकहीन और अदूरदर्शी व्यक्ति होते हैं, वे इसे पाकर भी निरर्थक खो देते हैं।

तो किनका मनुष्य जन्म निरर्थक जाता है ? और उनके विषय में क्या कहा जा सकता है ? इस विषय में भर्तृहरि ने एक बड़ा सुन्दर श्लोक लिखा है—

येषां न विद्या, न तपो न दानम्,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुविभारभूताः
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

– जिन व्यक्तियों में विद्या, तप, दान, ज्ञान एवं शील आदि गुण नहीं हैं तथा उनके मानस में धर्म का अस्तित्व भी नहीं है, वे इस मृत्युलोक की भूमि पर भारभूत ही साबित होते हैं तथा जिस प्रकार वन में मृग अर्थात् हरिण केवल अपना पेट भरते हुए निरर्थक जीवन यापन करते हैं इसी प्रकार गुण-हीन व्यक्ति भी हरिणवत् केवल अपना पेट भरते हुए अपनी जिन्दगी निरर्थक व्यतीत कर देते हैं।

जहाँ न पहुँचे रवि, तहाँ पहुँचे कवि

बन्धुओं, यह बात सुनकर आप लोगों को बड़ा अटपटा लगा होगा कि इस समय महाराज ने किस प्रसंग में ऐसी बात कह दी। पर मैं आपके समक्ष इसी बात को खुलासा करने जा रहा हूं कि अभी मुझे कवियों का ध्यान कैसे आया ?

बात यह है कि 'भर्तृहरि' ने निर्गुणी पुरुषों को हरिण की उपमा अपने श्लोक में दी है। निर्गुणी को हरिण की उपमा देना सभव है अनेक व्यक्तियों को अच्छा न लगा होगा। किन्तु वे इस बात का विरोध नहीं कर सके। पर आप जानते हैं कि कवि किसी से नहीं डरते। वे निर्भय होकर अपनी कल्पनाओं के द्वारा आकाश, पाताल, सूर्य चन्द्र और अधिक क्या, सृष्टि के प्रत्येक कोने तक दौड़ लगाया करते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक शेक्सपियर ने भी कवि के विषय में बड़े सुन्दर ढंग से कहा है—

The Poets eye in fine frenzy rolling. Doth glance from heaven to earth and earth to heaven.

अर्थात्—सौन्दर्य के मद में झूमती हुई कवि की दृष्टि स्वर्ग से पृथ्वी तक और पृथ्वी से स्वर्ग तक विचरण करती रहती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः कवि सृष्टि के सौन्दर्य का मर्मज्ञ होता है। वह ऐसा यन्त्र है जिसके द्वारा ही संसार का सौन्दर्य देखा जा सकता है।

पर ध्यान देने की बात है कि कवि केवल बाह्य जगत का ही सौन्दर्य नहीं देखता, वह अन्तर्जगत की उपासना भी करता है। और हम यह कह सकते हैं कि बाहरी सौन्दर्य का वर्णन करने वाला जहां कवि कहलाता है, वहां अन्तर्मन के सौन्दर्य का वर्णन करने वाला महाकवि होता है।

ऐसे ही महाकवि हमारे पूज्य पाद श्री तिलोक ऋषि जी महाराज हुए हैं, जिन्होंने केवल मानव के मानस का ही सौन्दर्य और महत्व नहीं देखा अपितु मूक पशु हरिण के मन का महत्त्व भी समझा तथा उसकी ओर से भर्तृहरि जी को उत्तर दिया है। उन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा बताया है कि हरिण को निर्गुणी की उपमा तनिक भी पसंद नहीं है। वह कहता है—

कहत कुरंग वे, खान कस्तूरी की हूं मैं,
करत तिलक हरी, सुगंधित भारी है।
लोचन की उपमा सो, लागत हमारी शुभ,
बाजत है शृंगी तब, नाद हो प्यारी है।
मांस ही सो काम आवे, रहूँ मैं जंगल बीच,
खाल के संन्यासी जोगी, बिछावे जहारी है।
और भी अनेक गुण मोय में नराधिपत,
निर्गुणी की उपमा न, लागत हमारी है।

कवियों की लीला भी न्यारी ही है। जिस प्रकार सभी वकील चतुर एवं होशियार होते हैं और कानून के जानकार भी। किन्तु फिर भी वे कोर्ट में परस्पर विरोधी व्यक्तियों का पक्ष लेकर दोनों को ही सच्चा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

उसी प्रकार कवि भी यहां एक दूसरे का विरोध कर रहे हैं। एक कहता है—निर्गुणी व्यक्ति हरिण के जैसा है, तो दूसरा कहता है नहीं, हरिण में अनेक गुण हैं उसे निर्गुण नहीं कहा जा सकता।

तो हम यहां पद्य के आधार पर हरिण की बात सुन रहे हैं जो कहता है—

मुझे निर्गुणी मनुष्य के समान मत बनाओ ! क्योंकि मुझमें तो अनेक गुण हैं। उनमें से प्रथम यह है कि मैं कस्तूरी की खान हूं। मेरी नाभि से अमूल्य कस्तूरी प्राप्त की जाती है। क्या निर्गुणी व्यक्ति कभी कस्तूरी का निर्माण कर सकता है ? मेरे द्वारा प्रदत्त कस्तूरी की कीमत कोई आंक नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकता क्योंकि इसी कस्तूरी के द्वारा 'हरि' अर्थात् कृष्ण का राजतिलक किया गया था। इसकी सुगंध भी अवर्णनीय है जो कि शब्दों के द्वारा नहीं बताई जा सकती। तभी तो कहा गया है—

आमोदेन हि कस्तूर्याः, शपथेन विभाव्यते।'

आशय यही कि कस्तूरी की सुगंध का परिचय शपथ खाकर देने की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं ही अपना परिचय दे देती है।"

हरिण अपना दूसरा गुण बताता है—मेरे नयन इतने सुन्दर और आकर्षक होते हैं कि कवियों और विद्वानों को नारी के नेत्रों की उपमा देने के लिए मेरी आंखों का उल्लेख करने की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि सौन्दर्य के अलावा मेरे मन की सरलता, पवित्रता और भोलापन भी मेरी आंखों में झकलता है।

लोग कहते हैं कि जो बात वाणी प्रकट नहीं कर पाती वह बात आंखें आसानी से कह देती हैं। आंखें आन्तरिक भाव को ग्रहण करने में इतनी पटु हैं कि लज्जाजनक बात देखते ही झुक जाती हैं, आनन्द का भान होते ही चमक उठती हैं, रोष का उदय होते ही जलने लगती हैं और करुणा का उद्रेक हुआ नहीं कि नम्र हो जाती हैं और बरस पड़ती हैं।

तो, चूंकि नारी का हृदय भी सरल, कोमल एवं करुण होता है और इसीलिये उसके नेत्रों में सहज सौन्दर्य अपना स्थान बना लेता है। स्पष्ट है कि समान गुण होने के कारण नेत्रों में समानता होती है और मेरे भी नेत्र गुणवती नारी के नेत्रों के सदृश होने के कारण उन्हें काव्यरसिक और शृंगार प्रेमी व्यक्ति 'मृगाक्षी', 'मृगनयनी' एवं 'मृगलोचनी' कहा करते हैं।"

इस प्रकार दो गुण तो मैंने बता दिये। अब तीसरा गुण बताता हूं कि—मेरे सींग भी कम महत्त्व नहीं रखते। उनके द्वारा 'शृंगी' नामक वाद्य का निर्माण होता है, जिसकी मधुरध्वनि लोगों के मन को मुग्ध कर देती है। मनुष्य के पास तो ऐसी कोई वस्तु है नहीं, फिर उसकी तुलना मुझ से क्यों की जाती है।

आगे हरिण कहता है—मैं मनुष्यों की बस्ती से दूर वन में रहता हूं। किसी को भी कोई हानि नहीं पहुंचाता। फिर भी शिकारी वहाँ आ पहुंचते हैं और मुझे मारकर मेरा मांस खाने के लिये लालायित रहते हैं। एक श्लोक में कहा भी है—

मृग मीन सज्जनानाम्,
तृण जल संतोष निहित वृत्तीनाम्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लुब्धक, धीवर, पिशुना,
निष्कारणवैरिणोः जगति ॥

पद्य में कहा गया है—हरिण, मछली और सज्जन ये तीन प्राणी हैं जो क्रमशः तृण यानी घास, जल और संतोष के द्वारा ही अपना जीवन शांति पूर्वक व्यतीत करते हैं किन्तु फिर भी हरिण के पीछे शिकारी, मछलियों के पीछे धीवर और सज्जनों के पीछे दुर्जन व्यक्ति पड़े ही रहते हैं।

तो हरिण कह रहा है—मैं किसी का कभी अहित नहीं करता फिर भी मुझे मारकर मेरा मांस लोग खाते हैं, और इस प्रकार मेरा मांस भी निरर्थक नहीं जाता। जबकि मनुष्य का मांस किसी काम नहीं आता।

अब नम्बर आता है मेरी खाल का ! सींग और मांस जिस प्रकार काम आते हैं, उसी प्रकार मेरी खाल भी व्यर्थ नहीं जाती। अमीर व्यक्ति मेरी खाल को अपने ड्राइंग रूप में सजाकर रखते हैं तथा योगी और संन्यासी मृगचर्म को बिछाते हैं। यह बात 'जहारी' अर्थात् जगत प्रसिद्ध है। विद्वद्वर्य पं० शोभा चंद्र जी भारिल्ल ने भी कहा है—

गाय भैंस पशुओं की चमड़ी, आती सौ सौ काम।
हाथी दांत तथा कस्तूरी, बिकती मंहगे दाम॥
नर तन किन्तु निपट निस्तार, हंस का जीवित कारागार।

पद्य में बताया है कि गाय, भैंस आदि पशुओं की चमड़ी जूते, बेल्ट आदि सैकड़ों वस्तुओं के निर्माण में काम आती है, हाथी के दांतों द्वारा स्त्रियों की चूड़ियाँ तथा अनेक अन्य कलापूर्ण कृतियां बनाई जाती हैं। मृग आदि में रही हुई कस्तूरी भी अनेक रोगों के लिए संजीवनी का काम करती है तथा बड़ी मँहगी बिकती है। किन्तु मनुष्य के शरीर की एक भी वस्तु किसी काम नहीं आती। मनुष्य शरीर वास्तव में पूर्णतया निस्सार है केवल आत्मा के लिये कारागार अवश्य है।

इसलिए हरिण का कहना है कि मुझमें अनेक गुण हैं अतः मेरी तुलना निर्गुणी से करना उचित नहीं है।

निर्गुणी गाय जैसा ही सही

बंधुओ ! अभी मैंने आपको बताया था कि जो व्यक्ति यह दुर्लभ मानव-जीवन पाकर विद्या हासिल नहीं करता, तपश्चरण नहीं करता, दान नहीं देता, शील का पालन नहीं करता, और आत्म-ज्ञानप्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता ऐसे धर्महीन तथा गुणहीन मनुष्य को श्री भर्तृहरि ने पृथ्वी पर भारभूत और मनुष्य के रूप में हरिण के समान बताया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु उसके विरोध में पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी म० ने हरिण के मन की बात अपनी लेखनी के द्वारा बताते हुए प्रकट किया है कि हरिण कभी भी अपने आपको निर्गुणी व्यक्ति के समकक्ष नहीं रखना चाहता और इसीलिये उसने अपने अनेक गुण बताते हुए भर्तृहरि के विचारों का खंडन कर दिया है।

तो अब पुनः यह समस्या सामने आ गई कि फिर निर्गुणी मनुष्य की उपमा किससे दी जाय ? आखिर किसी न किसी के जैसा तो वह होगा ही। तो किसी मन चले कवि ने राजा भर्तृहरि के कथन में थोड़ा सा परिवर्तन करते हुए कह दिया--

येषां न विद्या न तपो न दानम्,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्यु लोके भुविभारभूताः,
मनुष्य रूपेण धेन्वश्चरन्ति ॥

आशा है श्लोक में किया गया थोड़ा सा परिवर्तन आपकी समझ में आ गया होगा। वह यही है कि जिस गुणहीन व्यक्ति में विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील तथा धर्म आदि कोई भी विशेषता नहीं है, वह पृथ्वी पर भारभूत है तथा मनुष्य के रूप में गाय के समान है।

तो भाई ! अब निर्गुणी को गाय के समान बना दिया। किन्तु मैंने अभी कहा था न, कि कवि निडर और जिद्दी होते हैं। पूज्यपाद त्रिलोक ऋषि जी म० ऐसे ही तो कवि थे। उन्होंने गाय पर लगाया हुआ आरोप उसे जाकर बता दिया और गरीब गाय ने अत्यन्त दुखी होकर जो जवाब दिया उसे ज्यों का त्यों अपनी कविता में गूँथ दिया। वही मैं आपको बताने जा रहा हूँ कि निर्गुण कह देने पर गाय क्या कहती है ?

सुरभि कहत तृण, खाय के उदर भरूँ,
मालिक को देऊं खीर, अमृत जहारी है।
दधि लूणी घृत आदि, होत है अनेक रूप,
पंचेन्द्रिय पुष्ट होय, खावे नर नारी है।
छाना ही से होत है रसोई पुनि लीपे घर,
पुत्र मुझ खेती करे, भार पाड़े भारी है।
और भी अनेक गुण, भोय में नराधिपत,
निर्गुणी की उपमा न, लागत हमारी है ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बंधुओ, आप और हम सभी जानते हैं कि गाय अत्यन्त सरल और सीधी होती है। वह न कभी किसी का बुरा सोचती है और नहीं कभी किसी को कटु वचन कहती है। किन्तु निर्गुणी कहलवाना तो उसे भी प्रिय नहीं लगा। वह कहने लगी—"भाइयो ! मेरे लिये निर्गुणी की उपमा तो नहीं लगाई जा सकती। अर्थात् मैं निर्गुण व्यक्ति के समकक्ष नहीं हो सकती। मुझ में कई गुण हैं जो निर्गुणी में नहीं पाये जाते।"

सारा जगत जानता है कि मैं केवल घास-फूस खाकर अपना गुजारा करती हूँ। यद्यपि दुनियाँ के लोग बड़े स्वार्थी हैं। वे जब तक गाय दूध देती है, तब तक तो उसे थोड़ा बहुत दाना देते भी हैं किन्तु ज्यों ही वह दूध देना बन्द कर देती है, उसके सामने बैलों और घोड़ों आदि का बचा-खुचा गंदा घास सुखा-सुखू कर डालने लगते हैं। फिर भी गाय गिला नहीं करती और अपने भविष्य के दुःख का विचार किये बिना ही जब तक वह दूध दे सकती है देती रहती है। तो गाय कहती है—मैं केवल घास खाकर ही पेट भरती हूँ फिर भी दूध जो शरीर के लिये अमृत का काम करता है, वह लोगों को प्रदान करती हूँ।

संस्कृत साहित्य में अमृत चार प्रकार का माना गया है--

अमृतम् शिशिरेवह्निः, अमृतम् क्षीरभोजनम्।
अमृतम् राजसम्मानम्, अमृतम् प्रियदर्शनम्॥

प्रथम प्रकार का अमृत है—सर्दी में आग का समीप होना। जब कड़ाके की सर्दी पड़ती है तब अगर अग्नि का इन्तजाम न हो तो शरीर मानों जमने लगता है। हम आये दिन अखबारों में पढ़ते हैं कि दिल्ली आदि बड़े-बड़े शहरों में अनेक गरीब और फुटपाथ पर रहने वाले व्यक्ति सर्दी से ठिठुर-ठिठुर कर मर गये। तो पहला अमृत शीत में वह्नि हुआ।

दूसरा अमृत भोजन के साथ दुग्ध का होना है। दूध के द्वारा ही आप खीर, श्री खंड तथा मावे की नाना प्रकार की मिठाइयाँ बनाते हैं तथा उसे जमाकर दही और दही से मक्खन निकालते हैं। घर में केवल दूध हो तो आप अपने मेहमानों को भाँति-भाँति की चीजें बनाकर खिला सकते हैं तथा उनका पूर्ण सत्कार कर सकते हैं।

तीसरा अमृत बताया गया है—राज सम्मान। प्राचीन काल में राजाओं का राज्य होता था। और राजाओं के विषय में प्रसिद्ध ही था कि वे अगर रुष्ट हो जाते तो व्यक्ति को नेस्तनाबूद कर देते, और अगर तुष्ट हो जाते तो उसे मालामाल करके छोड़ते थे।

राजा भोज के दरबार में एक धनपाल नामक बड़े विद्वान् पंडित थे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने वर्षों के परिश्रम के बाद बाणभट्ट की कादम्बरी का प्राकृत में अनुवाद किया। जब अनुवाद पूरा हो गया तो उन्होंने उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया।

राजा यश-लोलुपी थे। उन्होंने धनपाल से कहा—"इस ग्रन्थ के साथ मेरा नाम जोड़ दो तो मैं तुम्हें इच्छित स्वर्ण मुद्राएँ दूँगा।" किन्तु धनपाल धर्मात्मा थे अतः उन्होंने ऐसा गलत काम करने से इन्कार कर दिया था।

बस फिर क्या था ? राजा आग बबूला हो गया और यह सोचकर कि मेरा आश्रित पंडित ही मेरी बात नहीं मानता, उसने वर्षों के परिश्रम से तैयार किया हुआ अनुवाद अपने कर्मचारियों के द्वारा अग्नि की भेंट चढ़ा दिया।

इसी प्रकार बादशाह अकबर ने भी सुप्रसिद्ध कवि गंग को हाथी के पैरों-तले कुचलवा दिया था, क्योंकि कवि ने अकबर को अपनी कविता में सर्वोपरि बताने पर भी ईश्वर के पश्चात् अर्थात् दूसरा दर्जा दे दिया था। इसीलिये लोग कहा करते थे—"भगवान के घर का तेड़ा (बुलावा) भले ही आ जाय पर राजा के घर का न आये।"

पर सदा ही ऐसा नहीं हुआ करता था। राजा दयालु भी होते थे और वे अपनी प्रजा के लिये अपनी उदारता का प्रयोग भी दिल खोलकर करते थे।

एक बार महाराजा रणजीतसिंह की सवारी शहर से गुजर रही थी कि अचानक एक मिट्टी का ढेला उनके मस्तक पर आ लगा। कर्मचारी इधर-उधर दौड़े और एक बुढ़िया को पकड़ लाए, जिसने वह ढेला फेंका था।

पूछने पर उसने कहा—"हुजूर ! मेरा लड़का तीन दिन से भूखा था अतः मैंने इस वृक्ष पर से एक फल तोड़ने के लिये ढेला फेंका था, आपको मारने के लिये नहीं।"

बुढ़िया की बात सुनकर महाराज ने अपने कर्मचारियों को आज्ञा दी—"इस वृद्धा को खजाने से एक हजार रुपये और आज के लिये तैयार रसोई दिलवा दो।"

लोगों के आश्चर्य प्रकट करने पर वे बोले—

"जब यह मन-हीन वृक्ष भी ढेला फेंकने वाले को पका फल प्रदान करता है तो क्या मैं इससे भी गया-बीता हूँ जो ढेला मारने वाले को उलटा दंड दूँ ?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार अनेक राजा अपने दरबार में रहने वाले विद्वानों को तथा कवियों को नाना-प्रकार से पुरस्कृत किया करते थे। राजा जयसिंह कवि बिहारी को उनके एक-एक पद्य पर एक-एक मोहर पुरस्कार के रूप में दिया करते थे।

भर्तृहरि ने भी राजा की राजनीति पर एक श्लोक में लिखा है:—

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च,
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्ययाप्रचुर नित्य धनागमा च,
वेश्याङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा॥

राजा की नीति वेश्या के समान अनेक प्रकार से व्यवहार में लाई जाती है। कहीं झूठी, कहीं सत्य, कहीं कठोर और प्रिय भाषिणी होती है, कहीं हिंसक और कहीं दयालु होती है; कहीं कृपण और कहीं उदार होती है। कहीं अधिक द्रव्य व्यय करने वाली और कहीं बहुत संचय करने वाली होती है।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि राजा के द्वारा सम्मान प्राप्त होना भी अमृत-प्राप्ति के समान है जो कि बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है।

अब आता है चौथे प्रकार का अमृत। वह है प्रिय-दर्शन यानी लम्बे समय के वियोग के पश्चात् पिता, पुत्र, भाई अथवा पत्नी, किसी का भी मिलन होना।

आत्मीयों के वियोग में घंटे महीनों के और दिन वर्षों के समान व्यतीत होते हैं। कबीर ने कहा है—

हिरदे भीतर दव बरें, धुआं न परगट होय।
जाके लागी सो लखै, की जिन लागी होय॥

परदेश में या देश में भी दूर रहने वाले आत्मीयों के लिये मन जितना दुखी होता है, उस दुख का अनुभव वही कर सकता है, जिसने वियोग का अनुभव किया है या जो कर रहा है। और ऐसे वियोग के पश्चात् प्रियजनों का मिलन अत्यन्त सुखद और अमृत के समान ही अमूल्य महसूस होता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि इस संसार में अमृत चार प्रकार के माने गए हैं और उनमें से एक दुग्ध होता है जो कि गाय के द्वारा प्राप्त किया जाता है।

इसीलिये गाय कह रही है—"मुझे निर्गुण मत कहो! क्योंकि मुझमें अनेक गुण है, जिसमें प्रथम यह गुण है कि मैं घास-फूस खाकर भी दूध रूपी अमृत प्रदान करती हूँ, जिससे दही, मक्खन और घी प्राप्त होता है तथा इन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सब चीजों से भिन्न-भिन्न प्रकार के पौष्टिक पदार्थ बनते हैं, जो शरीर को स्वस्थ और सबल बनाते हैं।

दूसरा गुण गाय अपना यह बताती है कि 'मैं गोबर प्रदान करती हूँ जिसके द्वारा घर के फर्श तथा रसोई आदि को लीपकर शुद्ध व साफ किया जाता है तथा उसे सुखाकर उपले बनाते हैं जो भोजन बनाने के लिये जलाये जाते हैं। गोमूत्र भी अनेक दवाइयों में काम आता है तथा गंदे स्थानों पर उसे छिड़ककर स्थान की शुद्धि भी की जाती है। किन्तु क्या निर्गुण मनुष्य का मल मूत्र इस प्रकार किसी कार्य में व्यवहृत हो सकता है ? नहीं, फिर भाई, कैसे निर्गुणी के लिये मेरी उपमा देते हो ?"

आगे भी वह कहती है—"अभी तक तो मैंने अपनी विशेषताएँ बताई हैं, अब मेरे पुत्र की बात भी सुनो ! मेरा पुत्र बैल खेतों में हल चलाता है, जिसकी मेहनत से लोगों को पेट भरने के लिये अन्न मिलता है। वह कुए पर रहट खींचता है जिससे शाक-भाजी और फूल-फुलवारी सींचे जाते हैं। मेरा पुत्र बैलगाड़ी के द्वारा नित्य मनों बोझ इधर से उधर ले जाता है। अगर बैल न हों तो मनुष्य के अनेक कार्य सम्पन्न होने कठिन हो जाँय। कांग्रेस भी बैल का ही चित्र अपने चुनाव चिह्न में लेती है, क्योंकि बैलों को धोरी कहा जाता है यानी कि सम्पूर्ण बोझ को उठाने वाला। क्या मेरे पुत्र बैल की बराबरी मनुष्य कर सकता है ? नहीं, तो फिर निर्गुणी की उपमा भी उससे नहीं दी जा सकती।"

वस्तुतः गाय को उपयोग की दृष्टि से बड़ा लाभदायक और धार्मिक दृष्टि से पूज्य माना जाता है। महाभारत में वेद व्यास जी ने कहा है—

गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किञ्चिदिहाच्युत !
कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव।
गवां प्रशस्यते वीर सर्व-पाप-हरं शिवम् ॥

अर्थात्—मैं इस संसार में गायों के समान दूसरा कोई धन नहीं समझता। गायों के नाम और गुणों का कीर्तन-श्रवण, गायों का दान तथा उनका दर्शन-इनकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। यह समस्त कार्य सम्पूर्ण पापों को दूर करके परम कल्याण को प्रदान करने वाले हैं।

तो बंधुओ, निर्गुणी पुरुष को गाय की उपमा देना भी निरर्थक और गलत हो गया। पर आखिर उसे किसी न किसी के समान तो बताना ही है अतः कवि लोगों ने फिर किसी को उसकी उपमा देने के लिये खोज करना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आरम्भ किया। और इस बार जिसे हम सबसे निकृष्ट प्राणी कहते हैं तथा दिन भर में सैकड़ों बार दरवाजे पर से दुत्कार कर भगाते हैं उस श्वान यानी कुत्ते को ही निर्गुणी की तुलना में लाकर खड़ा कर दिया। और भर्तृहरिजी के श्लोक में पुनः परिवर्तन किया।

येषां न विद्या न तपो न दानम्
ज्ञानम् न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुविभारभूताः,
मनुष्य रूपेण श्वानो भवन्ति॥

क्या निर्गुणी श्वान से भी गया-बीता है ?

बंधुओ ! आप देख ही रहे हैं कि कवि लोग गुणहीन व्यक्ति की उपमा देने के लिये कितने परेशान हो रहे हैं ? पहले वे हरिण को इस कार्य के लिये लाये। किन्तु जब सही तर्क देते हुए उसने इससे स्पष्ट इन्कार कर दिया तो फिर उन्होंने गाय को चुना। पर गाय ने भी अपने अनेक गुण बताते हुए अपनी उपमा निर्गुणी व्यक्ति के लिए देने से मना किया तो वे खोज-खोजकर कुत्ते को लाए हैं। यह सोचकर कि कुत्ता तो संसार में सबसे निकृष्ट प्राणी माना जाता है और इसीलिये किसी को अत्यन्त तुच्छ साबित करने के लिये कुत्ता कहकर गाली देते हैं। तो अब वे सोच रहे हैं कि निर्गुणी व्यक्ति कम से कम कुत्ते से गया—बीता तो नहीं होगा। तभी कहा है—

'मनुष्य रूपेण श्वानो भवन्ति।'

यानी निर्गुणी मनुष्यों के रूप में श्वान के सदृश होते हैं।

पर कवि के ऐसा कह देने से क्या होता ? कुत्ता गाय नहीं था जो अपने आप को निर्गुण कहने पर शांति से उत्तर देता। वह तो यह बात सुनते ही भड़क उठा—

श्वान तो कहत भक्त, स्वामी को हूं निशदिन,
निंदरा अलप मोहे, अधिक हुशारी है।
चार ही अंगुल टुक, रोटी खाय काढ़ूं दिन,
संतोष करूं मैं मन, चोर करूं जारी है।
उद्यमी मैं निशदिन, आलस न मुझ अंग,
पोंच देखी काम करूं, अधिक लाचारी है।
और भी अनेक गुण मोय में नराधिपत्,
निगुणी की उपमा न लागत हमारो है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो पूज्यपाद कविकुलभूषण श्री तिलोक ऋषि जी म० की लेखनी के द्वारा श्वान बोला–"मेरे लिए हरगिज़ निर्गुणी की उपमा नहीं दी जा सकती। क्योंकि मैं अपने स्वामी का अनन्य भक्त बनकर रहता हूं। एक बार जो मुझे अपना लेता है, प्राण देकर भी उसकी रक्षा रात-दिन करता हूं। अपने मालिक के प्रति मेरी भक्ति भगवान के भक्त से कदापि कम नहीं है।"

"मैं जानता हूं संसार से भगवान के अनेकानेक भक्त हुए हैं। मीराबाई ने भक्ति के बल पर ज़हर का प्याला हंसते-हंसते पी लिया था, सेठ सुदर्शन भक्ति के बल पर ही हत्यारे अर्जुनमाली के समक्ष बेधड़क चले गये और सूली पर ही निर्भय होकर चढ़ गये थे। हनुमान जी मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त और सेवक थे तथा इसी कारण आज हमें रामचन्द्रजी के मंदिरों की अपेक्षा हनुमान जी के मंदिर अधिक दिखाइ देते हैं। इसका कारण यही है कि वे वफ़ादार सेवक थे। और सेवक निम्न श्रेणी का होने पर अधिक महत्त्व रखता है।

मनुष्य के चरण शरीर में सबसे नीचे होते हैं किंतु संपूर्ण शरीर का बोझ वे ही उठाते हैं तथा पत्थर कांटे या अन्य नुकसान पहुंचाने वाले पदार्थों से भरे हुए मार्ग पर वे ही सम्पूर्ण शरीर को सुरक्षित ले जाते हैं। कहने का अर्थ यह है कि चरण पूरे शरीर की दिलोजान से सेवा करते हैं अतः लोग प्रणाम करते समय अपना मस्तक अपने से बड़े व्यक्तियों के चरणों पर झुकाते हैं। यद्यपि शरीर में मस्तक सबसे ऊपर होता है। किन्तु वह गर्व से तना रहता है अतः कोई भी मस्तक को प्रणाम नहीं करता। वह क्यों ? इसीलिए कि शरीर की सेवा चरण करते हैं। अनेक कष्ट सहकर भी वे अपने कार्य से कभी पीछे नहीं हटते। तुलसीदास जी का कथन भी है—

"सब तें सेवक-धर्म कठोरा।"

तो श्वान कह रहा है कि मैं तो दिन-रात अपने स्वामी की सेवा करता हूं क्या इससे बड़ा और उत्तम गुण संसार में और भी होता है ? फिर मुझे निर्गुणी की उपमा क्यों ?

आगे भी वह कह रहा है—मैं अपने मालिक की रक्षा के लिए इतना तत्पर रहता हूं कि निद्रा भी अत्यल्प लेता हूं और वह भी ऐसी कि रंचमात्र आहट पाते ही जागरूक होकर चोर-डाकू या अन्य किसी भी अजनबी को पुनः घर से निकाले बिना नहीं छोड़ता चाहे मेरी कोई जान ही क्यों न ले ले।

दूसरे, आप लोग तो अपनी पेट पूर्ति के लिये नाना प्रकार के स्वादिष्ट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोजन बनाते हैं तथा हजारों रुपयें घी, दूध, मिठाई आदि में खर्च करते हैं पर मैं रूखी-सूखी कौर-दो कौर की रोटी खाकर भी अपने कार्य में तत्पर रहता हूँ तथा बासी या जूठा जो भी मिल जाता है उसी में परम संतोष का अनुभव करता हूँ। जैसा कि कबीर ने कहा है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सोई साहंसाह॥

तो मैं ऐसा ही शाहंशाह हूँ जो अन्य किसी भी सांसारिक झंझट में नहीं पड़ता और जो मिले वही खाकर अपने स्वामी की सुरक्षा में रत रहता हूँ। इसके अलावा मुझमें और भी एक बड़ा भारी गुण है। वह यही कि मैं आलस्य तनिक भी नहीं करता। पलक झपकने में तो फिर भी देर लगती है, किन्तु मुझे अपनी ड्यूटी पर तत्पर होते देर नहीं लगती। इसके अलावा उदर पूर्ति के लिये मैं चन्द समय में ही एक घर से दूसरे, तीसरे या चौथे, चाहे जितने घर घूम आता हूँ। मुझ में उद्यम की तनिक भी कमी नहीं है। निर्गुणी पुरुष तो आलसी होता है पर मैं सदा चुस्त रहता हूँ पर इतना जरूर है कि मैं समय सूचक भी हूँ। अवसर देखकर और अपनी पहुँच देखते हुए ही काम करता हूँ। अगर मुझ से ताकतवर कोई मेरे सामने आ जाये तो मैं झुक भी जाता हूँ। इस प्रकार मुझ में नम्रता भी है।"

वस्तुतः नम्रता एक बड़ा विशिष्ट गुण है। एक घटना हमारी आँखों देखी है। दो श्रावक थे अपने ही। उनमें से एक अमीर और दूसरा गरीब था। आवश्यकता के कारण निर्धन श्रावक ने दूसरे से कुछ रुपया उधार लिया था।

किन्तु किसी समय तकाजा करते हुए अमीर श्रावक ने अपने बड़प्पन के गर्व में आकर कर्जदार को कुछ कटु शब्द कह दिये और सुनने वाले ने कह दिया—"ठीक है मैं अब तुम्हें पैसा दूँगा ही नहीं, अपने घर पर 'तुलसी पत्र' रख दूँगा। उसने यही किया भी।

मैंने उसे अवसर पाकर समझाया भी कि 'भाई! जिसका लिया है, उसका वापिस लौटाना भी चाहिये।' किन्तु वह नहीं माना। कहने लगा—'उसने मुझे ऐसे शब्द कहे ही क्यों? मैंने तो अपने घर 'तुलसी पत्र' रख ही दिया है।' परिणाम यह हुआ कि देखते ही देखते वह कर्जदार निर्धन तो था ही, पूरी तरह बरबाद भी हो गया।

यह सब नम्रता के न होने का परिणाम था और गुणहीनता की निशानी थी। तो श्वान कह रहा है—'मुझ में नम्रता का भी बड़ा भारी गुण है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिये जैसा समय देखता हूँ वैसा कर लेता हूँ। अतः गुण-हीन के लिये मेरी उपमा मैं कदापि नहीं देने दूँगा।'

तो बंधुओ, अब क्या किया जाय ? एक कुत्ता भी तो अपने आपको गुण-हीन कहलवाना पसंद नहीं करता। फिर क्या मनुष्य को गुणहीन रहकर कुत्ते से भी बदतर कहलवाना चाहिये ? नहीं, उसे अपने दुर्लभ मानवजीवन का पूर्ण लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिये।

अभी हमने कवियों की बातें सुनी। यद्यपि हरिण, गाय और श्वान बोलते नहीं हैं, किन्तु इन रूपकों के द्वारा उनमें रहे हुए गुण कवि ने अपनी भाषा में दिये हैं और यह इसलिये कि मनुष्य अपने आपको गुणवान् बनाए। अपनी काव्य-कला के द्वारा कवि ने अभी बताए हुए तीनों पशुओं के माध्यम से मानव को सीख देकर अपना कर्तव्य पूरा किया है। क्योंकि कहा भी जाता है—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिये।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिये॥

जिस प्रकार माता-पिता अपने बालक को खेल के माध्यम से भी अनेक अच्छी बातें सिखा देते हैं, इसी प्रकार कवि भी अपनी कला की सुन्दरता से अज्ञानी पुरुषों का मनोरंजन करते हुए भी उन्हें अपनी आत्मा को ऊँचा उठाने वाली शिक्षा प्रदान करते हैं।

यही हमारे आज के विषय के माध्यम से बताया गया है कि अनन्त काल से मनुष्य नाना योनियों में भ्रमण करता रहा है और असंख्य पुण्यों के परिणामस्वरूप जबकि उसे यह दुर्लभ मानव पर्याय मिली है तो वह पशु के समान खाने और सोने में ही उसे व्यतीत न करके ज्ञान सहित तप, दान और शील रूप धर्म का आचरण करते हुए सार्थक बनाए।

तप का महत्त्व

हमारे उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

तवेणं भंते ! जीवे किं जणयई ?
तवेणं वोदाणं जणयई।

प्रश्न है—'हे भगवान ! तप करने से क्या लाभ होता है ?' उत्तर है, तप करने से ही आत्मा बंधे हुए कर्मों का क्षय करता है।

हमारी आत्मा एक शुद्ध और प्रकाशमय तत्त्व है किन्तु उस पर अनादि-काल से कर्मों की मलिनता चढ़ी हुई है। उस मैल को तप के द्वारा ही भस्म किया जा सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुछ व्यक्तियों का कथन है कि तप करना निरी मूर्खता है। क्योंकि पाप तो आत्मा करती है और तप करने वाले शरीर को दुःख देते हैं ? शरीर को भूखा-प्यासा रखने से आत्मा को क्या लाभ होता है ? लाभ तो तब हो सकता है जबकि केवल आत्मा को ही तपाया जाय।

ऐसा विचार करने वाले अज्ञानी कहलाते हैं। वे भूल जाते हैं कि जिस प्रकार मक्खन में से छाछ अलग करके घी निकालने के लिये उसे बर्तन में डालकर अग्नि पर चढ़ाना पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा में से कर्मों को अलग करके उसकी शुद्धता प्राप्त करने के लिये भी आत्मा के आश्रयभूत शरीर को तपाना पड़ता है।

जो व्यक्ति आयंबिल, उपवास, नवकारसी, पोरसी आदि तप करते हैं उनका शरीर भले ही कृश हो, किन्तु आत्मा अत्यन्त दृढ़, निर्मल और सशक्त बनती है। और शरीर के कृश होने पर भी नुकसान कुछ नहीं होता क्योंकि इस शरीर को तो वैसे भी एक दिन नष्ट होना ही है। इसलिये क्यों न तप करके आत्मा को लाभ पहुँचाया जाय ? कहा भी है:—

अध्रुवे हि शरीरे यो, न करोति तपोऽर्जनम्।
सपश्चात्तप्यते मूढ़ो, मृतो गत्वात्मनो गतिम्॥

यह शरीर तो क्षण भंगुर है; इसमें रहते हुए जो जीव तप उपार्जन नहीं करता, वह मूर्ख मरने के पश्चात् जब उसे अपने कुकर्मों का फल मिलता है। तब बहुत पश्चात्ताप करता है।

इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु को आंतरिक एवं बाह्य तप के द्वारा अपने कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिये।

दान की महिमा

भर्तृहरि के श्लोक में कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने जीवन में दान के महान् गुण को नहीं अपनाता वह भी पशु के समान ही अपना जीवन निरर्थक बिताता है।

दान के विषय में संत तुकाराम जी कहते हैं—

ने दा तरी हे हो, न का देऊ अन्न,
फुकाचे जीवन, तरी पाजा।
नका घालु दूध, तुपामध्ये सार,
ताकाचे उपकार, तरी करा॥

अर्थात्—तुम्हारे पास अगर अन्नदान करने की शक्ति नहीं है, तुम किसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को अन्न नहीं खिला सकते तो कम से कम उसे प्रेमपूर्वक ठंडा पानी तो पिलाओ जिसके लिये पैसे भी नहीं देने पड़ते।

और अगर तुम किसी को दूध नहीं दे सकते क्योंकि उसमें सार है, मलाई के रूप में, तो कम से कम मक्खन निकाली हुई छाछ तो उसे प्रदान करो।

मंदसौर में एक श्रावक गौतम जी वाघ्या रहते थे। उनके घर की स्थिति अच्छी थी यानी वे धन से सम्पन्न थे। पर पैसे के साथ ही उनमें उदारता भी बहुत थी। कभी उनके घर कोई तपस्वी बहन छाछ मांगने आती और वे जान लेते कि यह तपस्विनी है तो कहते--"बहन, आज छाछ नहीं बची दूध ही ले जाओ।" कभी कहते तुम्हारा बर्तन छोटा है, बड़ा ले आओ और छाछ देते तो चुपके से उसमें मक्खन की टिकिया भी डाल देते। ऊपर से जरूरत के अनुसार रुपये भी दिया करते थे।

ऐसे उदार और गुणवान व्यक्ति अगर समाज में अधिक संख्या में हों तो हमारा समाज अति श्रेष्ठ और उन्नत बन सकता है। समाज का कोई सदस्य भूखा व वस्त्रहीन नहीं रह सकता।

सर्वश्रेष्ठ गुणशील

इस संसार में मानव के आचरण को दूषित करने वाले नाना प्रकार के प्रलोभन होते हैं। धन को प्राप्त करने के लिये वह अनेक पाप करता है, पुत्र-पौत्र, पत्नी तथा अन्य परिजनों के मोह वशात् वह भांति-भांति की बिडम्बनाएँ सहता है तथा प्रसिद्धि और कीर्ति प्राप्त करने के लिये भी आकाश और जमीन के कुलाबे मिलाता रहता है। अभिप्राय यह है कि इन प्रलोभनों के वश में होकर वह अनेक कुकर्म करने से नहीं चूकता।

किन्तु इन समस्त प्रलोभनों से भी बड़ा जो प्रलोभन है, वह है काम-विकार। यह विकार मनुष्य के जीवन को पतन की ओर ले जाता है तथा वरदान बनने के बदले घोर अभिशाप बन जाता है।

सिक्खों के धर्मग्रन्थ में कहा गया है --

यां ते काम मूल मन जान,
ऊपर विकार कोड़ फल जान।
जब ही मूल को देहि उखेर,
साखा पत्र न फलिहें फेर॥

अर्थात् यह काम विकार एक विकारवृक्ष की जड़ के समान है। अन्य विकार इसी की शाखाएँ और पत्ते हैं। यदि इस मूल को उखाड़ दिया जाय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो शाखाएँ और पत्ते स्वयं ही सूख जाते हैं। पुनः नहीं फलते। यानि काम के नाश हो जाने पर अन्य विकार स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

वास्तव में, शील जीवन का अमूल्य धन है और इसके तेज से जीवन में ऐसा विलक्षण सौन्दर्य और अनेकानेक सद्गुणों की सौरभ भर जाती है कि वह देवताओं के लिये भी ईर्ष्या का कारण बन जाता है। इस महान व्रत की महत्ता शब्दों से नहीं बताई जा सकती। भगवान ने स्वयं सूयगडांग सूत्र में फरमाया है—

"तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं॥"

ब्रह्मचर्य सभी तपस्याओं में उत्तम तपस्या है।

महिमामय ज्ञान

ज्ञान से हमारा तात्पर्य यहाँ लौकिक ज्ञान से नहीं है, जिसमें हिन्दी, गणित, व्याकरण, खगोल और भूगोल आदि नाना विषयों को पढ़ाया जाता है। इन सब का ज्ञान यद्यपि अनावश्यक नहीं है क्योंकि लौकिक सफलता के लिए ये सहायक हैं। किन्तु आत्मा के उद्धार का जहाँ प्रश्न आता है, वहाँ ये सब किसी काम नहीं आते।

इसलिये लौकिक ज्ञान के साथ ही मनुष्य को लोकोत्तर ज्ञान हासिल करना चाहिये। इसके द्वारा वह जीव, अजीवादि तत्वों के विषय में तथा स्वर्ग, नरक और मोक्ष के विषय में जान सकता है तथा यह भी जान सकता है कि मोक्ष प्राप्ति के साधन क्या हैं और उन्हें किस प्रकार आचरण में उतारा जा सकता है?

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एय मग्गमणुपत्ता, जीवा गच्छन्ति सुग्गई॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इन चारों की अनुक्रम से आराधना करके जीव मोक्ष रूपी सुगति को प्राप्त कर सकता है।

इस गाथा से स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही जीवादि तत्वों की जानकारी होगी, दुःख के कारणों को समझा जा सकेगा और जिन महान गुणों को ग्रहण करना चाहिये उन्हें ग्रहण किया जा सकेगा। और सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्दर्शन से चारित्र तथा तप जीवन में उतरेंगे जो मोक्ष को प्रदान करने वाले हैं।

तो बन्धुओ, आज के विषय को आप भली-भांति समझ गये होंगे, जिसका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सार यही है कि मनुष्य ने यह अमूल्य जीवन प्राप्त कर लिया है तो वह सद्-गुणों का संचय करे जिससे उसकी आत्मा शुद्ध होती हुई उन्नत बने तथा अपने समस्त कर्मों का क्षय करके संसार से मुक्त हो सके ।

किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब कि वह ज्ञान हासिल करे तथा शील का पालन करते हुए दान देवे और यथाशक्य तपश्चरण करे । इन समस्त गुणों का संचय किये बिना तो उसका जीवन पशु की कोटि में भी नहीं रहेगा । अभी-अभी आपने सुना ही है कि गुणहीन अर्थात् निर्गुणी व्यक्ति को तो हरिण और गाय क्या, श्वान तक भी अपनी तुलना में नहीं रखने देता । तो क्या मनुष्य को संसार की चारों गतियों में से सर्वश्रेष्ठ योनि प्राप्त कर लेने पर भी पशुओं से बदतर जीवन बिताना चाहिए ? नहीं, उसे समस्त श्रेष्ठ गुणों का संचय करके पाँचवीं या सर्वोत्कृष्ट गति मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए तभी उसका मानव पर्याय सार्थक हो सकेगा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५ घड़ी से, घड़ी दो घड़ी लाभ ले लो !

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज हमें यह देखना है कि समय कितना मूल्यवान है और उसका सही हिसाब रखते हुए घड़ी हमें किस प्रकार शिक्षा देती है ?

यद्यपि इस संसार में सूर्य और चन्द्र दोनों ही हमें समय की गति बताते हैं। सूर्य प्रातःकाल उदित होकर शाम को अस्त होता है तथा एक दिवस का व्यतीत होना बताता है और उसके पश्चात् नभमंडल में चन्द्रमा उसका स्थान लेता है तथा आकाश के एक छोर से दूसरे छोर पर पहुंचकर रात्रि के समाप्त होने का संदेश देता है। किन्तु इन दोनों के संकेतों से भी प्रत्येक घंटे, प्रत्येक मिनट और प्रत्येक सैकिंड का बिलकुल सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता। यह कार्य एक मात्र घड़ी ही करती है। वही समय के प्रति सैकिंड, प्रति मिनट और प्रति घंटे का पूरा और सही हिसाब देती है। कहीं भी कोई भूल नहीं करती।

घड़ी कभी एक पल का भी विराम नहीं लेती और अपनी टिक-टिक की ध्वनि से मनुष्य को प्रति पल समय के व्यतीत होने तथा सजग रहने की चेतावनी भी देती रहती है। इसलिए कवि श्री चंदन मुनि ने अपनी लेखनी के द्वारा बताया है—

यह शिक्षा सुनहरी सुनाती घड़ी है।
समय बीतता है बताती घड़ी है ॥

घड़ी हमें अमूल्य शिक्षा देती है कि समय एक-एक पल करके बीतता जा रहा है अतः इसे व्यर्थ न जाने दो तथा इसका सदुपयोग करो। भले ही आत्मा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अमर है किन्तु यह मानव-शरीर तो अमर नहीं है, कभी भी यह नष्ट हो सकता है। संसार में देखा जाता है कि कोई व्यक्ति हास-परिहास में निमग्न है किन्तु क्षण भर में ही वह जमीन पर लुढ़क जाता है और उसकी आत्मा इस देह से कूच कर जाती है। कोई साधारण सी ठोकर लगते ही उस सड़क पर पुनः चलने के बजाय किसी अदृश्य दिशा की ओर गमन कर जाता है। अगणित मनोरथों को पूरा करने का जोड़-तोड़ करता हुआ व्यक्ति किसी भी पल अपने संकल्पों को सदा के लिए त्याग करने को बाध्य हो जाता है तथा इस बात को सार्थक करता है—

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं।
सामान सौ बरस का पल की खबर नहीं॥

मृत्यु तो मनुष्य को एक पल का भी अवकाश नहीं देती। अपनी अथाह सम्पत्ति, और अनेकानेक स्वजनों को छोड़कर उसे काल के एक संकेत मात्र से अकेले ही अपने कर्मों का भार लादकर चल देना पड़ता है।

आशय यही है कि मनुष्य को मृत्यु ध्रुव यानी अनिवार्य है। तथा उसके आने का समय भी निश्चित नहीं है अतएव प्रत्येक विवेकशील प्राणी को अपने जीवन की महत्ता तथा उसकी नश्वरता को समझकर समय से पूर्व ही जाग जाना चाहिए। कवि ने कहा भी है—

जो गफलत की नींद में सोए हैं इन्सां।
अलार्म से उनको जगाती घड़ी है।

प्रमाद मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु होता है, जो उसकी समस्त इच्छाओं और गुणों पर पानी फेर देता है और जीवित प्राणी को मृतक के समान बनाकर छोड़ता है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु को गफलत की अथवा प्रमाद की निद्रा का त्याग करके प्रबुद्ध हो जाना चाहिए।

भगवान महावीर स्वामी का आदेश भी यही है—

जो पुव्वरत्ता वररत्तकाले, संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि।
किं मे परो पासइ किं च अप्पा, किं वाहं खलियं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबन्ध कुज्जा॥

—दशवैकालिक, चूलिका २-१२-१३

अर्थात्—साधक को चाहिये कि वह रात्रि के प्रथम एवं अंतिम प्रहर में स्वयं आत्मा का निरीक्षण करे और विचारे कि मैंने कौन से कर्त्तव्य कार्य किये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं, कौन सा कार्य करना अवशेष है और क्या क्या करने योग्य अनुष्ठानों का मैं आचरण नहीं करता हूं। दूसरे लोग मुझ में क्या दोष देख रहे हैं ? मुझे स्वयं अपने आप में क्या दोष दिखाई देते हैं ? क्या मैं इन दोषों का त्याग करने के लिए प्रयत्न कर रहा हूं ?

इस प्रकार के विचार वही व्यक्ति कर सकता है जो गफलत की निद्रा से जाग जाय। प्रमाद आत्मा के लिए घोर निद्रा है और अप्रमाद जागरण। घड़ी का अलारम ऐसे ही धर्म-जागरण के लिए प्रेरित करता है।

आगे कहा गया है—

समय जा रहा है न आएगा वापिस,
सबक रोज सबको सिखाती घड़ी है।

बीता हुआ समय पुनः कभी लौटकर नहीं आता। भक्ति तथा प्रार्थना आदि से परमात्मा को तो बुलाया जा सकता है किन्तु कोटि प्रयत्न करने पर भी गये हुए समय को पुनः नहीं लाया जा सकता। इस प्रकार समय को हम परमात्मा से भी शक्तिशाली और महान कह सकते हैं। हमारा बिगड़ा हुआ जीवन पुनः सुधर सकता है, बिसरी हुई विद्या याद आ सकती है, छिना हुआ राज्य भी फिर प्राप्त हो जाता है तथा अनन्त पुण्य कर्मों के फल-स्वरूप पाया हुआ मनुष्य जन्म भी खो जाने पर कदाचित दुबारा मिल सकता है किन्तु कभी भी दुबारा जो प्राप्त नहीं हो सकता वह केवल समय ही है अतः उसे व्यर्थ न खो कर एक-एक क्षण का हमें लाभ लेना चाहिए यही घड़ी कहती है।

साधारणतया हम देखते हैं कि व्यक्ति क्षणों का कोई महत्त्व नहीं मानते और एक-एक क्षण करके ही जीवन की अनेकानेक सुनहरी घड़ियाँ व्यर्थ गंवा देते हैं। वे भूल जाते हैं कि लक्ष्य-सिद्धि के लिए प्रत्येक क्षण अपनी बड़ी भारी कीमत रखता है तथा किसी भी शुभ कार्य के लिए शुभ घड़ी या शुभ मुहूर्त खोजना व्यर्थ है। जिस समय भी व्यक्ति अपना उद्देश्य बनाए वही क्षण उस कार्य के प्रारम्भ के लिए शुभ है। अन्यथा भगवान महावीर गौतम स्वामी से पुनः पुनः क्यों कहते—'**समयं गोयम ! मा पमायए।**'

यानी हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो। आगे पद्य में कहा है—

न जाने सफर पेश आ आ जाये किस दम,
सदा कूच नौबत बजाती घड़ी है।

कवि का कहना है कि घड़ी की आवाज़ केवल आवाज़ ही नहीं है जो इस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कान से सुन ली और उस कान से निकाल दी। अगर गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह जीवात्मा के परलोक की ओर कूच करने की नौबत है जो एक-एक क्षण के व्यतीत होते ही बज जाती है कि मनुष्य को प्रत्येक क्षण सतर्क और सावधान रहना चाहिए, क्योंकि कहा नहीं जा सकता किस पल में सफ़र का पैगाम आ जाये।

अभी मैंने बताया था कि व्यक्ति एक दिन का ही नहीं वरन् महीनों और वर्षों के प्रोग्राम बनाता है जबकि उसे अपने अगले पल का भी पता नहीं रहता कि उस पल भी मैं जीवित रहूंगा या नहीं।

परमात्मा हंस पड़ता है

कहते हैं कि ईश्वर दो अवसरों पर हंसता है। प्रथम तो तब, जबकि वैद्य या डॉक्टर रोगी के माता-पिता से कहते हैं—'फ़िक्र मत करो, हम तुम्हारे पुत्र को अवश्य ठीक कर देंगे।'

उस समय ईश्वर मुस्कराते हुए मन में कहता है—"मैं इस रोगी के प्राण लेने वाला हूं और ये कहते हैं हम इसे बचा लेंगे।"

यह तो ईश्वर के एक बार हंसने का कारण हुआ। दूसरी बार वह तब हंसता है जब कि लोग आपस में बड़ी भयंकरता से धन, मकान, जमीन आदि के लिए झगड़ते हैं। ईश्वर उस समय सोचता है—"सम्पूर्ण विश्व तो मेरा है, लेकिन ये मूर्ख संसार की इन तुच्छ वस्तुओं को ही मेरी-मेरी कह रहे हैं, ऐसा अन्य ग्रंथों में देखने को आया है।

अभिप्राय यही है कि मनुष्य चाहे संसार की समस्त संपत्ति को अपने अधिकार में कर ले और उसके बल पर चाहे जितने मंसूबे क्यों न बाँधे पर जिस दिन मौत का नगारा बजेगा उसे सब छोड़-छाड़ कर उसी दिन कूच कर जाना पडेगा। घड़ी यही हमें बताती है।

कविता में आगे दिया गया है—

ये दुनिया सरा है और तू है मुसाफ़िर।
चला चल, चला चल ये गाती घड़ी है॥

अर्थात्—ये दुनिया एक सराय है और प्राणी मुसाफिर। सब जीवात्माएँ यहाँ अपने अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेती हैं और कुछ काल पश्चात् अपना-अपना समय पूरा करके चल देती हैं।

पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने अपनी 'भावना' नामक पुस्तक में भी लिखा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है संसार सराय जहाँ हैं पथिक आय जुट जाते।
लेकर टुक विश्राम राह में अपनी-अपनी जाते॥
जो आये थे गये सभी जो आये हैं जायेंगे।
अपने अपनेकर्मों का फल सभी आप पाएँगे॥

जिस प्रकार स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वप्न काल में राजा बन जाता है और अपने अपार वैभव को देखकर फूला नहीं समाता किन्तु नींद खुलते ही अपनी टूटी झोंपड़ी और फटी गुदड़ी देखकर अपनी सही स्थिति का ज्ञान करता है इसी प्रकार संसारी जीव धन-वैभव पाकर स्वप्न काल के राजा की भाँति अपने आपको अनन्य सुखी मानता है किन्तु जब काल का बुलावा आ जाता है तो समस्त धन-वैभव और स्वजन-परिजन उसके सामने से विलीन हो जाते हैं तथा उसका निजी धर्म केवल 'कर्म' ही उसके सामने बचते हैं।

इसीलिये घड़ी कहती है—'तू इस संसार रूपी सराय में केवल एक मुसाफिर है यहाँ रहना तेरा अन्तिम लक्ष्य नहीं है। कितना भी भौतिक सुख तुझे क्यों न प्राप्त हो जाय एक दिन तो तुझे सब छोड़कर जाना ही होगा। अतः क्यों न पहले ही उत्तम करनी करके तू अपने भविष्य को संवार ले।'

प्याऊ पर कब तक रुकोगे ?

हम कल्पना कर सकते हैं कि एक मुसाफिर एक शहर से दूसरे शहर की ओर रवाना होता है। किन्तु मार्ग में निर्जन और गहन बन आता है, जिसमें वह मार्ग भूल जाता है। भटकते-भटकते सूर्यास्त होने को होता है और वह घबराया हुआ मुसाफिर थोड़ी दूर पर किसी झोंपड़ी में जलते हुए चिराग की मंद रोशनी देखकर उस ओर बढ़ जाता है।

जिस स्थान पर वह राहगीर पहुँचता है वहाँ एक प्याऊ होती है, जिसमें से एक वृद्ध व्यक्ति मुसाफिर को आते हुए देखकर उठता है तथा अत्यंत प्रसन्न होकर उसे ठंडा पानी पिलाता है, रूखा-सूखा कुछ खाने को देता है तथा रात्रि को सोने के लिये भी इंतजाम कर देता है।

मुसाफिर तीव्र धूप और गर्मी में सारे दिन मार्ग खोजता हुआ भटका था अतः भूख-प्यास के मारे उसका हाल बेहाल हो रहा था। दूसरे रात्रि के करीब आ जाने से उसे वन के भयानक जन्तुओं का भय भी बुरी तरह से सता रहा था।

ऐसी स्थिति में बड़ी भूख और प्यास मिटाने के लिये जल व भोजन का मिलना तथा मृत्यु से बचने के लिये सुरक्षित स्थान का मिल जाना कितनी बड़ी बात है ? मुसाफिर को ऐसा महसूस हुआ मानों मरते हुए को संजीवनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त हो गई हो । वह आनन्दपूर्वक उदरतृप्ति करके निर्भयतापूर्वक सो गया ।

किन्तु बन्धुओ, क्या वह मुसाफिर सदा के लिये वहीं डेरा डाल लेगा ? नहीं, उसके मन में प्रतिपल यह भावना रहेगी कि मुझे प्रातःकाल होते ही अपने नगर में अपने घर पहुँचना है । यह प्याऊ मेरे लिये अस्थायी स्थान है । मैं चाहने पर भी सदा यहाँ नहीं रह सकता और इन्हीं विचारों के अनुसार वह प्रातःकाल उठते ही वहाँ से अपने नगर की ओर चल देता है । वहाँ ठहरे रहने की उसकी स्वतः ही इच्छा नहीं होती, उलटे उसे लगता है कि कब मैं यह अस्थायी स्थान छोड़ूँ ।

ठीक इसी प्रकार यह संसार एक गहन वन है तथा जीवात्मा एक मुसाफिर । सही मार्ग भूल जाने के कारण वह अनन्तकाल तक नाना योनियों में भटकता रहा है और बड़ी कठिनाई से इसे मानव-जन्म रूपी प्याऊ मिली है जहाँ यह कुछ समय चैन से रह रहा है । किन्तु क्या यह स्थान ही इसका अन्तिम लक्ष्य है ? क्या यहाँ पर यह सदा के लिये रह सकेगा ? नहीं, यह मानव जन्म रूपी स्थान इसका गंतव्य नहीं है । आत्मा का निर्दिष्ट और सही घर मोक्ष में है और आत्मा वहाँ पहुँचने के लिये ही छटपटाती है ।

इसलिये प्राणी को प्रत्येक पल यहाँ से चल देने के लिये तैयार रहना चाहिये । यहाँ के वैभव-विलास प्याऊ पर मिलने वाले शीतल जल के समान हैं जिनसे भले ही थोड़ी देर के लिये सुख की प्राप्ति हो जाय पर उसे आखिर छोड़ना तो पड़ता ही है । ठीक इसी प्रकार सांसारिक सुख भी अस्थायी हैं और एक दिन छूट जाने वाले हैं अतः उनमें ममत्व रखना मूर्खता है ।

विवेकवान पुरुष यही विचार करता हुआ संसार की किसी भी वस्तु पर आसक्ति नहीं रखता, किसी संबंधी में मोह नहीं रखता तथा अपनी आत्मा को उन्नति की ओर अग्रसर करता चला जाता है । जैसी कि घड़ी भी सदा बढ़ते रहने की ही प्रेरणा देती है । वह भी यही कहती है—'रुको मत, आत्मोन्नति के मार्ग पर बढ़े चलो ।'

अब देखिये आगे क्या कहा गया है ?—

घड़ी से घड़ी दो घड़ी लाभ ले लो,
सत्संग में तुम को बुलाती घड़ी है ।

कितनी सुन्दर बात है ? कहा है—'अरे भोले मानव ! दिन और रात के चौबीसों घन्टे अर्थात् आठों प्रहर तुम सांसारिक भोगोपभोगों में व्यतीत करते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो। क्या ये सब तुम्हारी आत्मा का कुछ भला कर सकेंगे ? कुछ भी तो नहीं, उलटे उसे पतन की ओर ले जाएँगे तथा कर्मों के भार को बढ़ाएँगे।

अतः अच्छा हो कि इस घड़ी के द्वारा ही सामायिक, प्रतिक्रमण आदि कुछ धर्म-क्रियाएँ करके घंटे दो घंटे परमार्थ का ही साधन करो। अधिक नहीं तो घड़ी दो घड़ी तो इसके लिये निकालो ही।

बंधुओ, आप जानते ही होंगे कि मानव को दो प्रकार की व्याधियाँ पीड़ित करती हैं। एक होती है शारीरिक व्याधि और दूसरी मानसिक। इन दोनों ही व्याधियों का उपचार करना आवश्यक होता है।

शारीरिक व्याधियों को दूर करने के लिये तो आज कदम-कदम पर अस्पताल बने हुए हैं, जिनमें असंख्य डॉक्टर और वैद्य मरीजों की बीमारियों को मिटाने का प्रयत्न करते रहते हैं। देश में प्रतिदिन नवीन औषधियों का आविष्कार एवं निर्माण होता है, जिनके द्वारा गंभीर और सांघातिक रोग भी निर्मूल होते हुए देखे जाते हैं।

मानव की दूसरी व्याधियाँ होती हैं मानसिक। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग द्वेषादि विकार इस श्रेणी में आते हैं। पर इनका इलाज दवा की गोलियों और इंजेक्शनों से नहीं होता। इन्हें मिटाने के लिये संत-समागम या सत्संग करना अनिवार्य होता है। संत-पुरुष ही धीरे-धीरे मनुष्य के इन रोगों को दूर कर सकते हैं।

यद्यपि मानव के मन में अच्छे और बुरे दोनों ही तरह के संस्कार होते हैं पर उसे जिस प्रकार की संगति मिल जाती है, उसी प्रकार के विचार उभर आते हैं। जैसे चोर, डाकू जुआरी तथा व्यभिचारी लोगों की संगति होने पर हृदय के अच्छे संस्कार नहीं पनपते और बुरे पनप जाते हैं, उसी प्रकार संत महात्माओं की संगति प्राप्त होने पर कुविचार दबे रहते हैं तथा सुविचार उदित होकर आचरण में उतरते हुए जीवन को उन्नत बनाते हैं।

संस्कृत के एक श्लोक में बताया गया है—

निधानं सर्वरत्नानां हेतुः कल्याण-संपदाम्।
सर्वस्या उन्नतेर्मूलं महतां संग उच्यते॥

अर्थात्—महान् पुरुषों का सत्संग समस्त उत्कृष्ट अमूल्य पदार्थों का आश्रय, कल्याण संपत्तियों का हेतु और सभी प्रकार की उन्नति का मूल कहा जाता है।

किन्तु इसके विपरीत अगर मनुष्य को बुरे व्यक्तियों की संगति प्राप्त हो जाय तो उसके सुगुण भी दुर्गुण बन जाते हैं तथा वह पतन की ओर अग्रसर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होता हुआ भयानक कर्मों का बंध करके जन्म-जन्म तक उन्हें भोगने के लिये बाध्य हो जाता है। इसलिये मनुष्य को नीच पुरुषों की संगति से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिये पर जो ऐसा नहीं करते और कुसंगति के कारण अपने जीवन में कुविचारों का विष घोलते हैं उनके लिये कवि वृंद कहते हैं—

आप अकारज आपनो, करत कुसंगति साथ।
पांय कुल्हाड़ा देत है, मूरख अपने हाथ॥

वास्तव में यह कथन सत्य है कि मनुष्य बुरे व्यक्तियों की संगति अपनाकर अपने पैरों में मानो ही कुल्हाड़ी मारता है, अर्थात् अपना घोर अहित करता है। किन्तु वही व्यक्ति अगर संत-पुरुषों का समागम अल्प समय के लिये भी कर लेता है तो अपने जीवन को शुद्धि की ओर ले जाता है।

डाकू अंगुलिमाल ने भगवान बुद्ध के तनिक से संपर्क से ही अपने कुख्यात जीवन को त्यागकर उच्च जीवन जीने का संकल्प कर लिया। छः व्यक्तियों की प्रतिदिन हत्या करने वाला अर्जुनमाली सेठ सुदर्शन के क्षणिक संसर्ग से ही भगवान महावीर स्वामी के समीप पहुँचकर मुनि बन गया। सत्संग का ऐसा ही अद्भुत् प्रभाव होता है।

इसीलिये घड़ी कहती है कि दुनियादारी के प्रपंचों में लगे होने पर भी कम से कम घड़ी दो घड़ी संत-जनों का समागम किया करो। थोड़ा सा समय भी चिंतन-मनन, कीर्तन अथवा धर्मोपदेश सुनने में बिताया करो ताकि उस सब के प्रभाव से अगर कभी कुसंग हो भी गया तो वह निष्फल चला जाएगा यानी सत्संग से मन पर जो सुविचारों का असर होगा, उनके कारण कुविचार अपना स्थान नहीं बना सकेंगे।

कवि सुन्दरदास जी ने भी दुर्जनों की संगति का घोर विरोध करते हुए कहा है—

सर्प डसे सु नहीं कछु तालक,
बीछु लगै सु भलौ करि मानो।
सिंह हु खाय तो नाहिं कछू डर,
जो गज मारत तो नहिं हानौ॥
अग्नि जरौ जल बूड़ि मरौ, गिरि,
जाई गिरो, कछु भै मत आनौ।
सुन्दर और भले सब ही यह,
दुर्जन-संग भलौ नहिं जानौ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा है—'अगर तुम्हें साँप-बिच्छू काट खांय तो भी कोई दुर्ज मत समझो। आग में जलने, जल में डूबने और पहाड़ से गिरने में भी कोई हानि मत मानो किन्तु दुर्जनों की संगति को कभी अच्छा मत समझो।'

आप सोचेंगे कि ऐसा क्यों ? सर्प डस जाय, शेर खा जाय या अग्नि में जलकर मर जाय तो उसे भी भला क्यों मानना, जबकि कुसंगति करने पर भी प्राण-हानि तो नहीं होती। इसका उत्तर पाने के लिये हमें दूर दृष्टि से देखना होगा। वह यही है कि अभी बताई गई समस्त हानियों में केवल इतना ही होता है कि एक बार मरना पड़ता है। किन्तु अगर मनुष्य कुसंग में पड़कर निबिड़ कर्मों का बंधन कर लेता है तो उसे न जाने कितने काल तक, कितनी योनियों में जन्म लेकर पुनः पुनः मरना पड़ जाता है। नरक और निगोदादि के दुख एक बार मरने से अनन्त गुना अधिक भोगने पड़ते हैं। आपने पढ़ा और सुना भी होगा कि नरक में शरीर पारे के समान बार-बार बिखरता है और जुड़ता है। तो क्या उससे अनन्त वेदना नहीं होती ? होती है। इसीलिये उन घोर दुखों की अपेक्षा एक बार मरना कम कष्टकर है।

इसीलिये सत्संग करना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है। संतों के अलावा कोई भी, अज्ञानी प्राणी को मुक्ति का सही मार्ग नहीं बता सकता।

अमरत्व की प्राप्ति कैसे हो ?

कहा जाता है कि एक धनी युवक ने एक बार ईसामसीह से प्रार्थना करते हुए कहा--"देव ! मुझे अमरत्व की प्राप्ति का उपाय बताइये। मैं इस दुनिया के धन-वैभव से बहुत ऊब गया हूँ। लाख प्रयत्न करने पर भी इसके द्वारा मुझे शान्ति और सच्चा सुख हासिल नहीं होता।"

ईसामसीह ने अत्यन्त स्नेह पूर्वक उस युवक की बात का उत्तर दिया—"वत्स ! तुमने मुझे देव कहकर सम्बोधित किया, यह तुम्हारी भूल है। देव तो केवल परम पिता परमात्मा ही है। मैं तो उनका एक मामूली सेवक हूँ। फिर भी तुम्हें बताता हूँ कि अगर तुम सच्चे दिल से अमर-जीवन की प्राप्ति के इच्छुक हो तो जाओ अपनी समस्त सम्पत्ति निर्धनों में बांट दो। क्योंकि यह तो संभव है कि ऊँट सुई की नोंक में से निकल जाय, पर यह असंभव है कि धनी व्यक्ति ईश्वर के राज्य में प्रवेश करके अमरत्व को प्राप्त कर ले।

धनी युवक ईसा की बात से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने अविलंब अपना सब कुछ अभावग्रस्त व्यक्तियों को दे दिया तथा स्वयं परमात्मा की भक्ति में लीन हो गया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो बंधुओ, उस धनी युवक को संसार का यह अस्थायी और कर्म-बंधन करने का कारण जो धन है, उसका त्याग करके धर्माराधन करते हुए ईश्वर की प्राप्ति का सुमार्ग किसने बताया ? संत ईसा ने ही तो । पर अगर वही व्यक्ति संयोगवश किसी दुराचारी की संगति में पहुँच जाता तो क्या होता, जानते हैं आप ? निश्चय ही वह उस भोले युवक को भी सट्टा और जुआ खेलना अथवा शराब पीना सिखा देता । क्योंकि शराबी शराब पीकर अपने आपको जीवित ही स्वर्ग में पहुँचा हुआ मानते हैं तथा संसार का सबसे सुखी प्राणी समझते हैं । इधर वह धनी युवक सुख की खोज में तो था ही फिर पतन के गर्त में गिरते उसे क्या देर लगती ? कहा भी जाता है: —

'Wine has drowned more men than the sea.

—माइरस

सागर की अपेक्षा शराब ने अधिक मनुष्यों को डुबाया है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि कुसंगति जहाँ मनुष्य को निगोद और नरक की ओर पहुँचाती है वहाँ सत्संगति उसे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति भी करा देती है ।

कविता के अन्त में कहा गया है—

करो ग्रहण शिक्षा कुछ चंदन घड़ी से,
गई हाथ हर्गिज न आती घड़ी है ।

श्री चंदन मुनि का कथन है कि घड़ी से कुछ शिक्षा ग्रहण करो, अन्यथा ये जीवन की सुनहरी घड़ियाँ निरर्थक चली जाएँगी और लाख प्रयत्न करने पर भी एक भी घड़ी पुनः हाथ नहीं आएगी ।

बंधुओ, जीवन के विषय में बड़ी गंभीरता से विचार करना चाहिये । हम देखते हैं कि आज असंख्य मनुष्य अपना जीवन बिता रहे हैं । वे जीते हैं किन्तु ऐसे व्यक्ति उनमें से कितने हैं जो जीवन की सफलता के विषय में विचार करते हैं ? लोग बाजार जाते हैं, पर दो पैसे की भी कोई वस्तु लेते हैं तो पहले ही उसके उपयोग का विचार करते हैं तथा कोई न कोई उद्देश्य बनाकर उस वस्तु को घर पर लाते हैं । और लाने के पश्चात् भी उस वस्तु का वही उपभोग करते हैं, जिस उद्देश्य से उसे खरीदा था । खरीद लेने के बाद उस वस्तु को निरर्थक पड़ी रखकर कभी भी नष्ट नहीं होने देते । फिर मानव जीवन तो अमूल्य है और ऐसे अनमोल जीवन की उपेक्षा करके इसे नश्वर सांसारिक सुखों को भोगने में व्यतीत कर देना कितनी बड़ी भूल है ? क्या एक बार यह दुर्लभ जीवन वृथा चला जाने पर पुनः जल्दी प्राप्त हो सकेगा ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और जल्दी ही क्या, कभी प्राप्त हो सकेगा ही, यह भी निश्चित नहीं कहा जा सकता।

इसलिये बंधुओ, ऐसे जन्म जो हमें निरर्थक नहीं जाने देना है तथा इसका पूर्ण लाभ लेना है। अन्यथा जब यह समाप्त हो जायेगा तो पश्चात्ताप के अलावा कुछ भी हाथ नहीं आएगा।

जीवन की सार्थकता किसमें है ?

विवेकी पुरुषों के लिये यही प्रश्न विचारणीय है कि मानव जीवन की सार्थकता किसमें है ? इसका उत्तर पाने के लिये बड़ी गम्भीरता एवं दूरदृष्टिता की आवश्यकता है। अगर हम संतों का समागम करते हैं तथा शास्त्रों का श्रवण या वाचन करते हैं तो सहज ही जान सकते हैं कि जीवन की सार्थकता आत्म-कल्याण में है। आत्म कल्याण से अभिप्राय आत्मा का अपने विशुद्धरूप को प्राप्त करना है। पर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को तभी प्राप्त कर सकती है, जबकि इन्द्रियों के विषयों से तथा प्रमाद से बचा जाय।

यह तो सम्भव नहीं है कि इन्द्रियाँ अपना कार्य छोड़ दें। आँखों के समक्ष जो वस्तु आएगी उसे आँखें देखेंगी, कानों में पड़े हुए शब्द वे सुनेंगे तथा नासिका भी गंध-ग्रहण किये बिना नहीं रहेगी। इस प्रकार इन्द्रियाँ अपना कार्य अवश्य करेंगी, उन्हें अपने विषयों से हटाया नहीं जा सकता। किन्तु किया यह जा सकता है कि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए विषयों में राग, द्वेष और आसक्ति न रहे। जो व्यक्ति ऐसा कर लेता है वह इन्द्रिय विजयी कहलाता है।

कर्मों का बंधन कैसे होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर हमारे आगम और महापुरुष यही देते हैं कि संसार के पदार्थों और प्राणियों में आसक्ति होना कर्म-बंध का कारण है। भौतिक पदार्थों और भौतिक सुखों के प्रति मनुष्य की आसक्ति अथवा मूढ़ता जितनी अधिक होगी, उतने ही प्रगाढ़ कर्मों का उसके बन्धन होता जाएगा।

बड़ी बारीकी से समझने की बात तो यह है कि कर्मों का बंध होना भावना पर अधिक निर्भर होता है। जो इन्द्रिय विजयी पुरुष होते हैं वे मधुर से मधुर मिष्ठान भी अनासक्तभाव से खाते हैं अतः उनके कर्म बंधन नहीं होते और जो अपनी इन्द्रियों पर संयम नहीं रखते, दूसरे शब्दों में अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रखते वे रूखा-सूखा भी अगर अत्यन्त गृद्धता से खाते हैं उनके कर्म प्रगाढ़ बँध जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस विषय को और अधिक सरलता से समझने के लिये यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति भले ही लखपती, करोड़पती या चक्रवर्ती ही क्यों न हो, अगर वह अपार वैभव के बीच में रहकर और समस्त सांसारिक सुखों को भोगता हुआ भी उनसे उदासीन रहता है, यानी उन भोगों के प्रति उसकी आसक्ति नहीं होती तो वह कर्म-बंधनों से बचा रहता है। तथा दूसरी ओर एक भिखारी अपनी फटी गुदड़ी और मुट्ठी भर चनों के प्रति भी घोर आसक्ति या ममत्व रखता है तो वह निबिड़ कर्मों का बन्धन कर लेता है। अतएव आसक्ति, लोलुपता एवं गृद्धता का त्याग कर देना ही आत्म-कल्याण का मार्ग है। आसक्ति का त्याग जितनी-जितनी मात्रा में होता जाएगा, उतनी-उतनी मात्रा में आत्मा विशुद्ध होती जाएगी तथा अपने सच्चे और शुद्ध स्वरूप की ओर बढ़ती जाएगी।

किसी कवि ने कहा है:—

अति चंचल ये भोग, जगत हू चंचल तैसो।
तू क्यों भटकत मूढ़ जीव संसारी जैसो॥
आसा-फाँसी काट चित्त तू निर्मल ह्वै रे।
साधन साधि समाधि परम निज पद के ह्वै रे॥

पद्य में कहा है—अरे चित्त ! इस संसार के भोगोपभोग अत्यन्त चंचल है यानि कभी तो यहाँ पर राजा रंक बन जाता है और कभी रंक राजा। कभी तो मनुष्य अपनी शक्ति के गर्व में पहाड़ से भी टकरा जाने को तैयार हो जाता है और कभी रोगों के आक्रमण होने पर शैय्या से उठ भी नहीं पाता। इसलिये-- हे मेरे चित्त ! तू मूढ़ के समान इस संसार के भोग-विलासों के पीछे मत दौड़, और आशाओं के बंधनों को समूल नष्ट करके समाधि भाव धारण कर तथा अपने आत्म-रूप में लीन हो जा।"

कितनी सुन्दर शिक्षा है यह ? वास्तव में ही इच्छाओं और आशाओं के बढ़ाने से क्या हासिल होगा ? तृष्णा के फेर में पड़कर मनुष्य भले ही अपने समक्ष धन का अम्बार लगा ले किन्तु एक दिन तो उसे सब कुछ छोड़कर यहाँ से प्रयाण करना ही पड़ेगा। जिस समय मौत सिर पर मंडराने लगेगी, उस समय व्यक्ति अमीर होगा तो उसे अधिक माया त्यागनी पड़ेगी और निर्धन होगा तो कम छोड़नी होगी। पर दोनों को जाना तो समान दशा में ही होगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किसी ने सत्य ही कहा है:—

कितने मुफ़लिस हो गये, कितने तवंगर हो गये ।
खाक में जब मिल गये, दोनों बराबर हो गये ।।

तो बन्धुओ, कहने का अभिप्राय यही है कि अन्तिम अवस्था तो प्रत्येक जीव की समान ही होती है तथा अमीर और गरीब दोनों ही मरकर भस्म हो जाते हैं । न निर्धन का थोड़ा भी धन उसके साथ जाता है और न अमीर का अधिक ।

इसलिये अगर सच्चे सुख की आकांक्षा है तो आपको अपना सारा ही समय पर-पदार्थों के संचित करने में तथा उनके द्वारा विषयों को तृप्त करने में नहीं लगाना चाहिये । तथा जैसा कि अभी कहा गया है घड़ी दो घड़ी ईश-चिन्तन, साधना तथा समाधिभाव में लगाना चाहिये । ऐसा करने पर निश्चय ही आपके लिये सच्चे सुख का खजाना खुल जाएगा और आपको अपूर्व और कल्पनातीत सुख का अनुभव होने लगेगा । ऐसे सुख का, जिसके समक्ष संसार का परिग्रहजनित सुख तुच्छ, नगण्य एवं सर्वथा निस्सार प्रतीत होता है ।

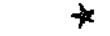

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

६ सच्चे सुख का रहस्य

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज हमें यह देखना कि सच्चा सुख कौनसा है ? उसका उद्गम कहाँ है और उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

हम क्या देखते हैं ?

इस विराट विश्व में हम देखते हैं कि मनुष्य से लेकर पशु-पक्षी तथा छोटे से छोटे कीट पंतग भी सुख-प्राप्ति की इच्छा रखते हैं तथा उसके लिए अपनी शक्ति के अनुसार दौड़-धूप करते रहते हैं । सभी को सुखप्रिय है और दुःख अप्रिय, अतः सुख को प्राप्त करना और दुख से बचना चाहते हैं ।

फिर भी महान् आश्चर्य की बात है कि कोई भी प्राणी अपने आपको सुखी अनुभव नहीं करता । सभी अपनी स्थिति से असन्तुष्ट रहते हैं । किसी को पुत्र का अभाव पीड़ित कर रहा है, कोई धनाभाव से दुखी हो रहा है, कोई रोगों के फंदे में जकड़ा हुआ है, किसी को पारिवारिक क्लेश सता रहा है, किसी के पास मकान नहीं है, किसी को व्यापार में घाटा हो रहा है और कोई कन्या के विवाह के लिए चिन्तित हो रहा है । इस प्रकार जिधर देखो और जिस व्यक्ति को देखो; वही किसी न किसी प्रकार के दुःख, शोक, चिन्ता, व्याकुलता तथा व्याधि आदि के कारण अशांत और दुखी दिखाई देता है ।

संसार की ऐसी स्थिति के कारण जिज्ञासु व्यक्तियों के अंतःकरण में यह जानने की इच्छा बलवती होती है कि आखिर कारण क्या है, जिससे प्राणी सुख की अभिलाषा रखते हुए तथा सुख के लिए प्रयत्न करते हुए भी सुख को हासिल नहीं कर पाता ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हितोपदेश के एक श्लोक में सुख के विषय में बताया गया है—

अर्थागमो नित्यमरोगिता च,
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या,
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्!

कहा है—हे राजन्! नित्य धन का लाभ, आरोग्यता, प्रियतमा और प्रियवादिनी स्त्री, आज्ञाकारी पुत्र, तथा धन को प्राप्त करने वाली विद्या—ये संसार में छः सुख हैं।

इस प्रकार संसार में छः प्रकार के सुख बताये गए हैं। किन्तु हम दीर्घ-दृष्टि से विचार करते हैं तो निश्चय ही महसूस होता है कि धन से सच्चे सुख की प्राप्ति कहाँ संभव है? धन से न हम असाध्य रोगों को मिटा सकते हैं, न उससे युवावस्था को स्थिर रखकर बुढ़ापे को आने से रोक सकते हैं और न ही धन की बदौलत मौत से ही बच सकते हैं। जरा ध्यान से विचार करने की बात है कि इस संसार में धन से कौन सुखी होता है? सत्य तो यह है

न वि सुही देवता देवलोए,
न वि सुही पुढवीवईराया।
न वि सुही सेट्ठि सेणावई य,
एगंत सुही साहू वीयरागी॥

अर्थात्—देवलोक में देवता सुखी नहीं हैं। यद्यपि उनके पास प्रचुर वैभव होता है, रत्नमय विमान होते हैं तथा अपूर्व सुन्दरी देवियाँ होती हैं और वे भी इच्छानुसार अपने रूप का परिवर्तन करते हुए उन्हें सुख पहुंचाने का प्रयत्न करती हैं। किन्तु देवताओं को अपने वैभव से संतोष नहीं होता और वे दूसरे देवों की समृद्धि देख-देखकर असंतुष्टि तथा ईर्ष्या की आग में जलते रहते हैं।

दूसरे नंबर में पृथ्वीपति राजा आते हैं। जिनके यहाँ अगणित दास-दासियाँ, भारी सेना और धन का विपुल खजाना होता है। किन्तु सुख उन्हें भी नसीब नहीं होता, क्योंकि उन्हें अन्य राजाओं के आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा करने की चिन्ता रहती है। कभी-कभी तो उनके सगे-स्नेही और भाई या पुत्र भी उन्हें धोखा दे देते हैं। हिन्दुस्तान के शाहंशाह जहाँगीर के चार पुत्र थे लेकिन उन्हें बादशाह होते हुए भी कौन सा सुख हासिल हुआ? उनके पुत्र औरंगजेब ने अपने भाइयों को तो धोखे से मरवाया ही, साथ ही उन्हें भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आजीवन कारावास में रखा। तात्पर्य यही है कि राजाओं या बादशाहों को भी सुख हासिल नहीं होता।

इसी प्रकार सेठ-सेनापति भी दुखी रहते हैं। कभी कभी तो राजा की आँख टेढ़ी होते ही उनका समस्त धन छीनकर उन्हें देश निकाला ही दे दिया जाता है, और उनका अपार धन भी उनके किसी काम नहीं आता।

श्लोक के अन्त में बताया गया है कि संसार में अगर कोई सुखी हैं तो वे साधु-जन हैं जिनके पास न धन है और न धन के लिये तृष्णा ही है।

तो बंधुओ, जैसा कि श्लोक में कहा गया है – नित्य धन का लाभ होना संसार में पहला सुख है, यह सही नहीं साबित होता। अपितु धन सदैव दुख-दायी होता है। क्योंकि—

अर्थानामर्जने दुःखं, अर्जितानाञ्च रक्षणे।
आये दुःखं, व्यये दुःखं,किमर्थं दुःख साधनम्॥

धन का उपार्जन करने में भी दुःख होता है और उपार्जन कर लेने के बाद उसकी रक्षा करने में भी दुःख होता है। धन के आने में भी दुख है और आकर चले जाने में तो और भी अधिक दुःख है। तब फिर अरे मानव! तू जान बूझकर क्यों दुःख-प्राप्ति का साधन करता है?

वस्तुतः किसी विचारक ने मनुष्य को यथार्थ और सुन्दर चेतावनी दी है कि धन के द्वारा कभी भी सुख हासिल नहीं हो सकता।

अब हम श्लोक की दूसरी पंक्ति पर विचार करते हैं। जो कहती है—

'प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च'

यानी प्रियवादिनी पत्नी का मिलना भी सुख का कारण है। किन्तु हम तो संसार में यह बात भी सही होती नहीं देखते। देखते यह हैं कि सभी सगे-सम्बन्धियों के समान ही जब तक मनुष्य धन कमाता है तथा वस्त्राभूषण आदि से पत्नी को संतुष्ट रखता है तभी तक वह भी अपने पति से मधुर भाषण करती है। और जब पति भाग्य के विपरीत होने से इन भौतिक साधनों को नहीं जुटा पाता तो वह भी आँखें फेर लेती है।

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं--

उरग तुरग नारी नृपति, नर नीचो हथियार।
तुलसी परखत रहत नित इनहिं न पलटत बार॥

सर्प, घोड़ा, स्त्री, राजा, नीच पुरुष और हथियार इनको सदा परखते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहना चाहिये क्योंकि इन्हें पलटते देर नहीं लगती। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

पैर काट डालो, खंभा मत काटो !

कहते हैं— एक सेठ का पुत्र नित्य किसी महात्मा के पास सत्संग के लिये जाया करता था। उसके माता-पिता को यह देखकर बड़ी चिन्ता हुई कि कहीं उनका पुत्र नित्य ही वैरागियों की संगति में रहकर साधु न बन जाय। अतः उन्होंने शीघ्र ही एक सुन्दर कन्या के साथ उस लड़के का विवाह कर दिया और पुत्रवधु से कहा- "तू इसकी ऐसी सेवा-टहल और मनोरंजन कर कि यह महात्मा के पास जाना छोड़ दे।"

बहू ने ऐसा ही किया तथा अपने आकर्षक व्यवहार से श्रेष्ठिपुत्र को इतना मुग्ध कर लिया कि उसने धीरे-धीरे महात्मा के पास जाना छोड़ दिया।

एक दिन महात्मा जी कहीं जा रहे थे कि संयोगवशात् वही सेठ का पुत्र उन्हें मार्ग में मिला। महात्मा जी ने कहा—"वत्स ! आजकल तो तुम दिखाई ही नहीं देते। क्या कारण है ?"

श्रेष्ठि पुत्र सहजभाव से बोला—"भगवन ! मेरी पत्नी बड़ी पतिव्रता है। वह मुझ पर जान देती है और मेरे बिना क्षण भर भी अकेले नहीं रह सकती। उसका सच्चा प्रेम देखकर मैं उसके वशीभूत हो गया हूँ, इसलिए आपके पास नहीं आ पाता।

महात्मा जी ने कहा—भाई ! इस संसार में सब स्वार्थ से प्रेम करते हैं। तुम्हारी पत्नी भी केवल अपने सुख के लिए ही तुमसे प्रीति रखती है। अगर विश्वास न हो तो परीक्षा करके देख लो !"

श्रेष्ठि पुत्र की भी कौतूहल वश पत्नी की परीक्षा करने की इच्छा हो गई और उसने महात्मा जी से परीक्षा करने की विधि पूछली।

एक दिन अपनी योजना के अनुसार वह अपनी पत्नी से बोला—"आज तो मेरा मन खीर पूरी खाने का हो रहा है।" पत्नी बोली—"इसमें क्या बड़ी बात है, अभी बना देती हूं।"

युवक को तो अपनी स्त्री की परीक्षा लेनी थी। अतः जब उसकी पत्नी भोजन बनाकर उसे खाने के लिये बुलाने आई तब तक वह श्वास को ब्रह्म-रंध्र पर चढ़ाकर मृतकवत् पड़ गया।

उसकी स्त्री यह देखकर घबराई और चिन्ता के मारे अपने पति की नाड़ी वगैरह देखकर परीक्षा करने लगी कि क्या हुआ ? जब उसने देख लिया कि कहीं भी नाड़ी का स्पंदन नहीं हो रहा है और पति तो मर चुका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं तो यह विचार करने लगी कि अगर मैं अभी ही रोना-पीटना प्रारम्भ कर देती हूं तो फिर यह बना बनाया स्वादिष्ट भोजन निरर्थक चला जाएगा, दूसरे मुझे न जाने कब तक भूखा मरना पड़ेगा। लोग तो अभी इकट्ठे हो जायेंगे।

यह सोचकर वह चुपके से रसोईघर में गई और भर-पेट खाना खा लिया। तत्पश्चात् वापिस पति के पास आई और जोर-जोर से रोना शुरू कर दिया। तुरंत ही लोग इकट्ठे हो गये और पूछने लगे—"यह कैसे क्या हो गया ?" स्त्री बोली— मुझे तो पता नहीं शायद हार्ट फेल हो गया होगा क्योंकि थोड़ी देर पहले तो अच्छे थे।"

पर मरने के बाद क्या होता है ? लोगों ने भी सोचा कि शीघ्र ले जाकर क्रिया-कर्म कर दें अन्यथा रातभर लाश पड़ी रहेगी। ज्यों ही वे लोग अर्थी पर रखने के लिए युवक को घर से निकालने लगे। एक खम्भे में युवक के पैर फंस गये। एकत्रित व्यक्तियों में से किसी ने कहा—"जल्दी से खंभे को काट दो और पैर निकाल लो।"

यह बात सुनते ही पत्नी रोते-रोते बोली —'अरे ! खंभा मत काटो, पैर ही काट लो। खंभा फिर कौन अभी बनवाएगा ? और पैर तो आखिर जलाये जाने ही हैं।"

लोगों ने सोचा यह भी ठीक है। उन्होंने पैर काटने के लिए कुल्हाड़ा मंगवाया पर इतने में ही वह युवक आंखें मलते हुए उठ बैठा और बोला— "क्या कर रहे हैं आप लोग ? मैं अभी मरा नहीं हूं।"

लोग इस आश्चर्यजनक घटना को ईश्वर का चमत्कार समझकर लड़के को आशीर्वाद देते हुए अपने-अपने घर चले गए। पर लड़का वहाँ से उठकर सीधा महात्मा जी के पास आगया और बोला—"भगवन् ! आपका कथन सत्य है कि स्त्री भी अपने स्वार्थ के लिए ही पति का प्यार करती है अन्यथा नहीं।" यह कहकर वह पुनः घर नहीं गया और स्वयं भी साधु बन गया।

यही बात ऋषि याज्ञवल्क्यने मैत्रेयी से कही थी—

न वाऽरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति।
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति॥

अर्थात्—अपने मतलब के लिए ही स्त्री को पति प्यारा होता है। पति के लिए स्त्री को पति प्यारा नहीं होता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि नारी के सुख को सुख मानना भी निरर्थक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। यह सुख कभी स्थायी नहीं होता। अगर यह मान लिया जाय कि पत्नी की पति में प्रीति होती है तो वह भी कितने समय तक सुख पहुंचा सकती है ? केवल तभी तक तो, जब तक कि मनुष्य इस शरीर को धारण किए हुए हैं। आंख मूंदते ही तो स्त्री का वियोग हो जाता है और आत्मा अन्य किसी योनि में जन्म लेने पहुंच जाती है।

बंधुओ ! श्लोक का विवेचन करने के क्रम में कुछ गड़बड़ हो गई है अर्थात् धन की प्राप्ति तथा स्त्री-सुख के मध्य कवि ने एक सुख और बताया है। वह है आरोग्यता। यानी निरोग रहना भी संसार के छः सुखों में से एक सुख है।

इसके विषय में आप और हम सभी जानते हैं कि सुन्दर स्वास्थ्य यद्यपि सुखदायी है और स्वस्थ रहने पर इन्सान अपने आपको पूर्ण सुखी मानता है। कहा भी जाता है —'पहला सुख निरोगी काया।' किन्तु यह शरीर किसी भी हालत में सदा स्वस्थ नहीं रह सकता। चाहे व्यक्ति सदा ही पौष्टिक पदार्थ खाता रहे और सभी विटामिनों की गोलियां बिगलता रहे। फिर भी न जाने किस अदृष्ट मार्ग से आकर रोग उसे घेर ही लेते हैं। और वृद्धावस्था के आ जाने पर तो वे हटाये नहीं हटते।

किसी कवि ने वृद्धावस्था का सच्चा चित्र खींचा है—

भयो संकुचित गात, दन्तहू उखर परे महि
आंखिन दीखत नाहि, बदन तें लार परत बहि ॥
भई चाल बेचाल, हाल बेहाल भयो अति।
बचन न मानत बन्धु, नारिहू तजी प्रीति-गति ॥
यह कष्ट महा दिये वृद्धपन, कछु मुख सो नहिं कहि सकत।
निज पुत्र अनादर कर कहत, यह बूढ़ो यों ही बकत ॥

तो बंधुओ, हम आरोग्यता के विषय में बात कर रहे थे कि कोई भी व्यक्ति अपने शरीर के लिए निश्चित रूप से कभी नहीं कह सकता कि उसे रोग घेरेगा ही नहीं, और वृद्धावस्था जो कि शरीर के लिए आनी अनिवार्य है, उस समय तो रोग आकर फिर टलते ही नहीं। अतः आरोग्यता को भी स्थाई सुख मानना निरा अज्ञान है।

अगला सुख आज्ञाकारी पुत्र का होना माना गया है। इस युग में तो पुत्र का आज्ञाकारी होना बड़ी ही असंभव सी बात लगती है। यह युग अनुशासन से हीन सा दिखाई देता है। आए दिन सुनते हैं, देखते हैं और पढ़ते भी हैं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कि अमुक स्कूल के विद्यार्थियों ने अपने मास्टरों को गालियां दीं और अमुक कॉलेजों के छात्रों ने प्रोफेसर को पीट दिया। क्या ऐसे अनुशासनहीन लड़के अपने माता-पिता का भी आदर-सम्मान कर सकते हैं? जो छात्र अपने गुरु का मान नहीं करते वे आगे जाकर अपने माता-पिता का मान क्या रख सकते हैं। एक कवि ने कहा है---

जनक वचन निदरत निडर, बसत कुसंगत माहिं।
मूरख सो सुत अधम है, तेहि जनमे सुख नाहिं॥

जो पुत्र कुसंगति में पड़कर पिता के वचनों का निडरतापूर्वक अनादर करते हैं वे मूर्ख और अधम पुत्र होते हैं, जिनके जन्म लेने से कोई सुख माता-पिता को हासिल नहीं होता।

इसके अलावा मान लिया जाय कि कोई पुत्र सुपुत्र है तो भी उसकी ओर से क्या माता-पिता को सुख मिलता है? नहीं, जन्म से लेकर तो उसकी सेवा तथा सार-संभाल माता-पिता को करनी पड़ती है तथा स्वयं अनेकानेक कष्ट सहकर उसका लालन-पालन करना होता है। उसके पश्चात् कुछ बड़ा होने पर उसकी पढ़ाई-लिखाई के खर्च आदि की चिन्ता में इतना परिश्रम करना पड़ता है कि स्वयं की ओर ध्यान देने का भी अवकाश नहीं मिलता। उनके पश्चात् जरा और बड़ा होने पर शादी-विवाह की चिन्ता हो जाती है और उससे निवृत्त होने पर पौत्र-पौत्री हो गये तो उनकी मोह ममता में पड़े रहकर अपनी आत्मा के लिये कुछ भी नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार पुत्र के जन्म से लेकर ही माता-पिता को कभी शांति नसीब नहीं हो पाती। और ऐसी स्थिति में पुत्र से सुख मिलता है यह कहना भूल के अलावा और क्या कहा जा सकता है?

श्लोक में छठा सुख बताया गया है---अर्थ के उपार्जन में सहायक होने वाली विद्या को प्राप्त करना। पर क्या उस विद्या या शिक्षा से इन्सान सच्चे सुख को प्राप्त कर सकता है? नहीं, पहले तो शिक्षार्थी कई वर्षों तक अनेक विषयों की पोथियाँ रटते-रटते ही परेशान हो जाता है और पढ़-लिख लेने के बाद अगर नौकरी मिल गई तो सुबह से शाम तक कार्य-रत रहकर अपने स्वास्थ्य को खो बैठता है। तीसरी हानि उसे यह होती है कि प्राप्त हुआ धन उसे निन्यानवे के चक्कर में डाल देता है। धन पैसे से कभी किसी को संतोष होता तो देखा नहीं जाता। सदा ही प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह सौ रुपये महीने कमाता हो या हजार रुपये, अपनी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं के पूरे न होने का रोना रोते रहते हैं। कम पैसे पाने वाले को खाने-पहनने की कमी का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुख होता है तो अधिक पाने वाले को बँगला और मोटर के न होने का।

इस प्रकार धन का उपार्जन करानेवाली विद्या को हासिल करके भी व्यक्ति कभी सुख का अनुभव नहीं कर पाता।

कहने का अभिप्राय यही है कि संसारी जीव पर-पदार्थों के निमित्त से सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु वह सुख, सुख नहीं बल्कि सुखाभास बनकर रह जाता है। क्योंकि पर-पदार्थों के द्वारा प्राप्त हुआ सुख न तो परिपूर्ण होता है और न स्थायी ही रह सकता है। पर-पदार्थों का संयोग अल्प काल तक रहता है और उसके पश्चात् उनका वियोग होना अवश्यंभावी होता है। संसारी प्राणी जिस सुख को सुख मानते हैं वह पर-पदार्थावलम्बी होने के कारण क्षान्त, परिमित तथा भविष्य में प्राप्त होने वाले दुःखों का मूल बन जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से वह सुख ही नहीं कहला सकता।

ध्यान दो !

बंधुओ, यहाँ एक बात पर और बारीकी से विचार करना है कि पर-पदार्थों से यहाँ आशय केवल बाहर के पौद्गलिक पदार्थों से ही नहीं है अपितु सातावेदनीय कर्मों से भी है। सातावेदनीय कर्म भी एक तरह से पर वस्तु ही हैं क्योंकि वे आत्म-स्वरूप नहीं हैं। पराश्रित और अस्थायी हैं अतः उनसे प्राप्त होने वाला सुख सच्चा सुख नहीं है। इन सातावेदनीय कर्मों का उदय भी आज है तो कल नहीं भी हो सकता है। हम देखते ही हैं कि संसारी जीवों को सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख यानी साता के बाद असाता और असाता के पश्चात् के साता का अनुभव होता रहता है।

हिन्दी के किसी कवि ने कहा भी है:—

आज है पाना कल है खोना,
आज है हँसना कल है रोना।
कभी है बाधा कभी है घाटा,
कभी है ज्वार कभी है भाटा।
हार कभी और जीत कभी है,
इस नगरी की रीत यही है।
खुशी में खेद भी मिला हुआ है,
अमृत में विष घुला हुआ है।

कवि ने जगत का जो स्वरूप बताया है, यह कोरी कल्पना नहीं है पूर्णतया सत्य है। हम सदा देखते हैं कि आज जो व्यक्ति लक्ष्मी के प्राप्त होने पर पुत्रादि के विवाह अथवा अन्य किसी शुभ संयोग के कारण फूला नहीं समाता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा नाना प्रकार से खुशियाँ मनाता है, वही कल धन पर डाका पड़ जाने के कारण, पुत्र, पत्नी या अन्य किसी स्वजन की मृत्यु के कारण अथवा किसी आकस्मिक विपत्ति के कारण फूट-फूट कर रोता हुआ देखा जाता है। यानी सुख और दुख समुद्र में आनेवाले ज्वार-भाटे के समान आते-जाते देखे जाते हैं।

कवि आगे कहता है—इस नगरी अर्थात् इस संसार रूपी माया नगरी की यही रीति है कि यहाँ कभी जीव कर्मों से जीतता है और कभी हार जाता है। इसके हृदय-रूपी अमृत में शोक का विष भी घुला हुआ रहता है जो अपना दाव लगते ही असर दिखाता है।

सुख और दुख

एथेन्स में सोलन नामक एक महान् दार्शनिक रहता था। एक बार वह घूमता-घामता लीविया के राजा कारूँ के यहाँ पहुंच गया। कारूँ बड़ा धनवान था। आज भी उसके धन की प्रसिद्धि में एक कहावत बन गई है। किसी के अधिक धन प्राप्त कर लेने पर हम कहते हैं "उसे कारूँ का खजाना मिल गया।"

तो सोलन जब कारूँ के यहाँ पहुँचा तो कारूँ ने बड़े गर्व से अपनी दौलत सोलन को बताई। वह चाहता था कि सोलन उसे संसार का सबसे बढ़कर सुखी व्यक्ति माने और अपनी जबान से भी यही कहे। किन्तु सोलन पर कारूँ के खजाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह केवल यही बोला—"इस संसार में सबसे सुखी वही माना जा सकता है जिसका अन्त सुखमय हो।"

कारूँ को सोलन का यह कथन बहुत ही बुरा लगा और उसने सोलन की जरा भी आवभगत किये बिना अपने राज्य से विदा कर दिया।

कुछ ही समय पश्चात् कारूँ ने फारस के राजा साइरस पर आक्रमण किया। किन्तु वहाँ पर वह स्वयं हार गया और बन्दी बना लिया गया। साइरस ने उसे जीवित आग में जलाये जाने का हुक्म दे दिया।

उस समय कारूँ को सोलन याद आई और वह सोलन, सोलन! सोलन! कहकर चिल्लाने लगा। साइरस को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ अतः उसने कारूँ से इसका तात्पर्य पूछा।

कारूँ ने साइरस से अपनी तथा सोलन की मुलाकात और उसके कहे हुए शब्द साइरस को बताये। साइरस पर भी सोलन की बात का इतना प्रभाव पड़ा कि उसने कारूँ को छोड़ दिया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार कारूँ को सुख के पश्चात् दुख और दुख के पश्चात् सुख के दौर से गुजरना पड़ा। जब तक उसके सातावेदनीय कर्मों का उदय रहा, तब तक तो वह संसार का सबसे बड़ा दौलतमंद बना रहा और ज्यों ही असाता वेदनीय कर्म उसके उदय में आए, वह पराजय और जीवित जला दिये जाने के दण्ड का भागी बना।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि सुख सांसारिक पदार्थों में नहीं है। अगर वह धन से प्राप्त होता तो कारूँ जोकि संसार की सबसे अधिक दौलत का स्वामी था, क्यों दुखी होता ? सुख स्वजनों के अथवा मन के अनुकूल पत्नी को प्राप्त कर लेने में भी नहीं है अन्यथा कोई यह क्यों कहता—

घर की नार बहुत हित जासौं,
रहत सदा संग लागी।
जब ही हंस तजी यह काया,
प्रेत प्रेत कह भागी॥

पद्य में पति के मरने के बाद पत्नी की भावनाओं का परिवर्तन बताया गया है किन्तु प्रत्यक्ष में हम देखते हैं कि उसके जीवित रहते हुए भी अनेक स्त्रियाँ बदल जाती है तथा पति को धोखा देती हैं। राजा भर्तृहरि का उदाहरण जगत-प्रसिद्ध है कि वे अपनी असाधारण रूपवती एवं मधुरभाषिणी रानी पिंगला के मोह में पड़कर उसके क्रीत दास बन गए।

किन्तु वही पिंगला व्यभिचारिणी साबित हुई और राजा भर्तृहरि अपनी प्राणप्रिय पत्नी के दुराचरण के कारण संसार से विरक्त हो गये तथा अपना समस्त राज-पाट त्यागकर योगी बन गए। उनकी घोर विरक्ति का परिचय उनके सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'वैराग्य-शतक' में मिलता है। संसार के ऐसे-ऐसे उदाहरणों को देखकर ही किसी ने सत्य कहा है—

त्रियाश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं,
देवो न जानाति कुतो मनुष्यः॥

तो मैं आपको यह बता रहा था कि इस संसार में धन, आरोग्यता, पत्नी, पुत्र अथवा धनार्जन कराने वाली विद्या आदि से कभी भी सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि कि ये सब अस्थिर हैं तथा 'पर' हैं। सच्चा सुख कभी पराश्रित नहीं होता।

सच्चा सुख कहाँ है, और कैसे प्राप्त होता है ?

बंधुओ, अभी हमने यह जाना है कि संसार की किसी वस्तु में सच्चा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुख नहीं है। ये केवल मिट्टी के मोदक हैं जो बाहर से तो मन को मुग्ध कर सकते हैं, किन्तु सार उनमें कुछ भी नहीं है। बाह्य पदार्थों से प्राप्त होने वाला सुख, सुख नहीं वरन सुखाभास है।

ऐसा जान लेने के पश्चात् स्वभावतः मन में प्रश्न उठता है कि फिर सच्चा सुख कहाँ है और वह कैसे प्राप्त हो सकता है ?

इसका उत्तर यही है कि सुख आत्मा का गुण है और गुण सदैव गुणी में ही विद्यमान रहता है अतः सच्चा सुख भी आत्मा के अन्दर ही रहता है। बाह्य पदार्थों में खोजने से वह प्राप्त नहीं हो सकता। वह इन्द्रियों के द्वारा भोगा नहीं जा सकता और वाणी से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसे केवल गूंगे के गुड़ की उपमा दी जा सकती है यानी वह केवल अनुभव से जाना जा सकता है।

हमारे जैनागमों में इसकी प्राप्ति का क्रम इस प्रकार बताया गया है: —

जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ संजोगं सब्भितर बाहिरं॥
जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ॥
जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोग मत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ॥

—दशवैकालिक सूत्र ४,१७-२५

अर्थात्—जीव जब देवता और मनुष्य संबंधी समस्त काम भोगों से विरक्त हो जाता है तब बाह्य और आन्तरिक सभी संयोग त्याग देता है। माता-पिता बंधु, पुत्र, पत्नी तथा महल, मकान व धन-संपत्ति आदि बाहर के पदार्थों का संयोग बाह्य-संयोग कहलाता है और राग-द्वेष आदि मोह व कषायों का संयोग आभ्यंतर संयोग कहलाता है।

जब मनुष्य बाह्य और आभ्यंतर संयोगों का त्याग कर देता है तो पूर्ण संयमी बन जाता है, संवर धर्म का अनुष्ठान करता है तथा कर्म रज को दूर करता हुआ केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त करता है।

तत्पश्चात् मन, वचन और काय के योगों का निरोध करके आत्मा शैलेशी अवस्था यानी सुमेरु के समान अकम्पदशा को पा लेता है और तब सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके सिद्ध गति प्राप्त कर लेता है। और जब वह सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है तो लोक के अग्रभाग पर विराजमान हो जाता है और शाश्वत सिद्ध कहलाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार सच्चा सुख केवल मुक्त अवस्था प्राप्त कर लेने में है। आत्मा जैसे-जैसे पर पदार्थों पर से अपनी ममता हटाता जाएगा तथा आत्म-स्वरूप में लीन होता जाएगा, वैसे ही वैसे वह सच्चे सुख की प्राप्ति करता जाएगा।

अभिप्राय यही है कि सुख संसार के भोगोपभोगों के पदार्थों का संचय करने में नहीं अपितु उनका त्याग करने में है। जिनके हृदय में धन के प्रति अथवा भोगोपभोगों की वस्तुओं के प्रति ममत्त्व नहीं होता वे सर्प के द्वारा छोड़ी हुई केंचुली के समान अपने समस्त वैभव का क्षण-मात्र में ही त्याग कर देते हैं।

प्राचीन काल की एक ऐतिहासिक घटना है। कन्नौज देश के एक राजा थे, जिनके दो पुत्र थे। बड़े पुत्र का नाम राज्यवर्धन था और छोटे का हर्षवर्धन।

संयोगवश जिस समय कन्नौज के राजा मृत्युशैय्या पर पड़े थे, उस समय युवराज राज्यवर्धन अपने राज्य से कहीं दूर गये हुए थे। अतः राजा ने अपने लघु पुत्र हर्षवर्धन को अपने समीप बुलाकर कहा—"पुत्र, मैं अपने सम्पूर्ण राज्य का तुम्हें ही अधिकारी बनाता हूँ। इसकी रक्षा करना और प्रजा का भली-भाँति पालन करना। इतना कहने के पश्चात् राजा के प्राण पखेरू उड़ गए।

राजा की मृत्यु के पश्चात् राज्य के मंत्री तथा सेनापति आदि कर्मचारियों ने हर्षवर्धन से प्रार्थना की—"अब आप राजमुकुट धारण करके विधिवत् अपनी जिम्मेदारी सम्हालिये तथा प्रजा का पालन कीजिये!"

किन्तु हर्षवर्धन ने उत्तर दिया—"यह कैसे हो सकता है? राज्य का अधिकारी सदा बड़ा पुत्र होता है अतः मेरे भाई राज्यवर्धन ही राज्य-कार्य सम्भालेंगे तथा राजा बनेंगे। मुझे तो इसी बात की बड़ी खुशी है कि मैं छोटा हूँ और राज्य के समान भारी परिग्रह को अपनाने से बच रहा हूँ।" हर्षवर्धन की बात सुनकर सब चुप हो गए।

कुछ दिनों के पश्चात् कार्य सम्पूर्ण हो जाने पर राज्यवर्धन पुनः अपने राज्य में लौटे। उन्होंने आते ही अपने छोटे भाई से अत्यन्त प्रेम तथा आग्रह-पूर्वक कहा—"भाई, राज्यमुकुट धारण करने में तुमने इतनी देरी क्यों कर दी। अब शीघ्रातिशीघ्र राज्य सम्हालो और धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो।

पर बड़े भाई की बात सुनकर हर्षवर्धन ने उत्तर दिया—"यह कैसे हो सकता है? राज्य के अधिकारी आप हैं, अतः कृपा करके आप ही मुकुट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धारण कीजिये, मैं तो आपका सेवक हूँ। और आपकी आज्ञा का सदा पालन करूँगा।"

भाइयो ! आज जहाँ भाई-भाई छोटी-छोटी वस्तुओं के लिये और चन्द रुपयों के लिये ही बुरी तरह से झगड़ पड़ते हैं तथा आवेश आ जाने पर तो मार-पीट से भी वंचित नहीं रहते, वहा राज्यवर्धन और हर्षवर्धन दोनों भाई उस विस्तृत राज्य को भी एक-दूसरे को देने के लिये कटिबद्ध थे। यह निरासक्त भावनाओं का ही परिणाम था।

अन्त में राज्यवर्धन के अतीव आग्रह के कारण छोटे भाई हर्षवर्धन को ही राज्य स्वीकार करना पड़ा और राज्यवर्धन अपने अधिकार का त्याग करके वन में साधना करने चल दिये।

त्याग की भावना कैसी जबर्दस्त और प्रभावशाली होती है कि जिसके कारण व्यक्ति राजपाट को भी ठोकर मार देता है। तथा अकिंचन बनकर पूर्ण संतोष पूर्वक आत्म-साधना में जुट जाता है। इतिहास को उठाकर देखने पर हमें अनेकानेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि बड़े-बड़े राजा, महाराजा और चक्रवर्ती भी अपना सर्वस्व त्यागकर साधु बन गये तथा संत-जीवन अपनाकर आत्म-कल्याण में जुट पड़े।

राजा भर्तृहरि ने 'वैराग्य शतक' में कहा भी है:—

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्राव्यं न गेयादिकं,
किंवा प्राणसमासमागम सुखं नैवाधिकं प्रीतये।
किन्तु भ्रान्तपतत्पतङ्गपवनव्यालोल दीपाङ्कुर—
च्छाया चंचल माकलय्य-सकलं सन्तो वनान्तं गताः॥

अर्थात्—क्या संतों के रहने के लिये उत्तमोत्तम महल नहीं थे ? क्या सुनने के लिये उन्हें उत्तमोत्तम गायन नहीं थे ? क्या उन्हें प्रिय और सुन्दरी स्त्रियों के संगम का सुख न था जो वे लोग वना मे रहने के लिये गये ?

उन्हें सब कुछ उपलब्ध था किन्तु उन्होंने इस जगत का, गिरनेवाले पतंग के पंखों से उत्पन्न हवा से हिलते हुए दीपक की छाया के समान चंचल समझकर त्याग दिया; अथवा उन्होंने मूर्ख पतिंगे की भाँत, जो हवा से हिलते हुए दीपक की छाया में घूम-घूम कर स्वयं को जला कर भस्मीभूत कर देता है, संसार को अपना नाश कराते देखकर संसार छोड़ दिया।

आशय यही है कि यह संसार दीपक की लौ के समान है और इसमें रहने वाले जीव पतिंगों के सदृश। जिस प्रकार अज्ञानी पतिंगे दीपक से मोह रखते हैं और उसी के आस-पास चक्कर काटते हुए जलकर भस्म हो जाते हैं। उसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार मानव भी संसार के असली तत्त्व को न समझने के कारण इसके मोह में फँसकर नष्ट हो जाते हैं अर्थात्—सांसारिक पदार्थों में आसक्ति और मोह रखने के कारण प्रगाढ़ कर्मों का बंधन कर लेते हैं तथा अनन्तकाल के लिये पुनः संसार-परिभ्रमण करने को बाध्य हो जाते हैं। जिस तरह पतंगे को यह ज्ञान नहीं होता कि दीपक से मोह करने से कोई लाभ तो होगा नहीं, उलटे मेरी जान जाएगी। उसी प्रकार अज्ञानी मानव यह नहीं सोच पाते कि इस संसार के क्षण भंगुर पदार्थों में आसक्ति रखने से सुख तो क्षणिक मिलेगा किन्तु आत्मा कर्मबद्ध होकर अनन्त काल तक नरक तथा तिर्यंचादि योनियों में जाकर असह्य दुःख भोगती रहेगी।

पर विवेकी और ज्ञानी पुरुष इस यथार्थ को समझ लेते हैं तथा भगवान के कहे हुए इन शब्दों पर पूर्णतया विश्वास करते हैं—

'कामे कमाही कमियं खु दुःक्खं।'

कामनाओं को जीत लो दुःख दूर हो जाएगा।

इस एक वाक्य में ही अनन्त काल से उलझी हुई महाजटिल समस्या का अति सुन्दर समाधान दिया हुआ है कि मानव जब तक राग-द्वेष के फेर में पड़ा है तथा कामनाओं का दास बना हुआ है, तब तक संसार के समस्त पदार्थों में से कोई एक अथवा सब इकट्ठे होकर भी उसे दुःखों से नहीं बचा सकते और सुख की प्राप्ति नहीं करा सकते।

इसीलिये वह समस्त भौतिक सुखों को ठोकर मार कर आत्म-साधना में जुट जाता है ऐसे महान् पुरुष के लिये ही किसी कवि ने कहा है—

भोजन को करि एक्कु, दसों दिसि बसन बनाये।
भखै भीख को अन्न, पलंग पृथ्वी पर छाये॥
छांडि सबन को संग, अकेले रहत रैन-दिन।
निज आतम सौ लीन, पौन संतोष छिनहि छिन॥
मन को विकार इन्द्रीन को डारै तोर मरोर जिन।
वे धन्य-धन्य सन्यास धन कर्म किये निर्मूल तिन॥

कहते हैं कि वे सच्चे सन्यासी धन्य है जिन्हें किसी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं, भोजन वस्त्र की भी परवाह नहीं। दसों दिशाएँ ही उनके लिये वस्त्र हैं, भिक्षा में लाया हुआ रूखा-सूखा अन्न स्वादिष्ट भोजन है, और पृथ्वी ही जिनके लिये पलंग और नरम शैय्या है। जो अपने समस्त सगे-संबंधियों को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

छोड़कर अकेले ही रात-दिन रहते हैं तथा प्रतिपल पूर्ण संतुष्ट रहते हुए अपनी आत्मा में रमण करते हैं। जिन्होंने मन के सम्पूर्ण विकारों और इन्द्रियों के विषयों को तोड़-मरोड़ कर फेंक दिया है अर्थात् त्याग दिया है, और अपने कर्मों का क्षय कर लिया है ऐसे संत पुनः पुनः धन्य हैं।

तो बंधुओ, आप सच्चे सुख का रहस्य तो समझ गए होंगे, किन्तु उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील भी बनेंगे तभी अपना जीवन सफल बना सकेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७ भव-पार करानेवाला सदाचार

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

इस संसार में मानव शरीर तो करोड़ों व्यक्तियों को मिला हुआ है और सदा मिलता भी रहेगा। किन्तु सच्चा मानव वही कहलाता है और कहलाएगा जिसके जीवन में सदाचार की सौरभ होगी। सदाचार के अभाव में मानव जीवन का तनिक भी मूल्य नहीं रह जाता और मानव के लिए सर्वोत्तम पर्याय पाना भी न पाने के समान ही हो जाता है। सदाचार की सुगंध से समन्वित मनुष्य सर्वत्र सबका प्रिय एवं आकर्षण का केन्द्र बन जाता है और इसके विपरीत दुराचारी व्यक्ति पग-पग पर लांछित, अपमानित और दुनियां की निगाहों में घृणित बनता है। कोई भी व्यक्ति ऐसे मनुष्य से संपर्क रखना पसन्द नहीं करता।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में बताया भी गया—

जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ।।

अर्थात्—सड़े कानों वाली कुतिया जहां भी जाती है वहां से दुत्कार कर निकाल दी जाती है, उसी प्रकार दुःशील, उद्दण्ड एवं मुखर यानी वाचाल व्यक्ति भी सर्वत्र धक्के देकर निकाल दिया जाता है।

वास्तव में ही जिस प्रकार आभूषणों की कीमत उसकी पेटी से नहीं होती, मूल्य से होती है और तलवार की कीमत उनके म्यान से न होकर स्वयं उसके पानी से होती है, उसी प्रकार मानव जीवन की कीमत उसके मानव-शरीर से नहीं, अपितु उसमें रहे हुए सर्वश्रेष्ठ गुण सदाचार से होती है। अगर उसमें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सदाचार नहीं है तो उसके शरीर का सौन्दर्य, बल या वैभव सब नहीं के बराबर हैं।

प्राचीन काल में हमारा भारतवर्ष अपने उच्चकोटि के सदाचार के कारण ही जगत में विख्यात था। भारत के निवासियों का सदाचारी जीवन अन्य समस्त देशों के लिए आदर्श बना हुआ था तथा विदेशी मुक्त कंठ से भारतवासियों की प्रसंशा करते हुए उनका लोहा मानते थे। इतिहास हमें बताता है कि शरण में आए हुए प्राणी की रक्षा करने में अबलाओं के सतीत्व को बचाने में अथवा अन्य किसी भी विपत्ति में ग्रस्त प्राणी को उससे छुटकारा दिलाने में भारतवासी अपने प्राणों का बलिदान भी कर देते थे। सदाचार के ऐसे उदाहरण इतनी प्रचुर संख्या में प्राप्त किए जा सकते हैं कि जिनकी गणना करना भी संभव नहीं है।

एक उर्दू भाषा के कवि ने भारत के उस अतिशय उज्ज्वल अतीत का चित्रण करते हुए लिखा है—

वह भी कभी था वक्त कि अपनों से प्यार था।
भाई पै भाई बाप पै बेटा निसार था॥

कवि ने उस काल के पारिवारिक जीवन की प्रशंसा करते हुए बताया है कि उस समय संयुक्त परिवार की प्रथा तो थी ही, परिवार के सभी सदस्यों में भी अथाह प्रेम होता था। भाई-भाई के लिए जान देता था तथा भाई के अभाव को वह अपनी दाहिनी बांह का टूट जाना मानता था। राम और लक्ष्मण का अटूट स्नेह जगत के लिए आदर्श है। आज कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो उनके नाम से अपरिचित होगा तथा उन भाइयों का नाम गद्-गद् होकर न लेता होगा। भरत के समान भाई क्या आज के संसार में उपलब्ध हो सकता है, जिसने संपूर्ण अयोध्या का राज्य अपने अधिकार में होने पर भी अपने बड़े भाई राम की पादुकाओं को सिंहासन पर रखकर राज्य-कार्य संभाला। उस काल में छोटा भाई अपने बड़े भाई को पिता के समान और बड़ा भाई छोटे को पुत्रवत् प्यार करता था। ऐसा सदाचारी जीवन का ही मधुर परिणाम होता था। और उसी के कारण पिता अपने पुत्र का जीवन बनाने के लिए अपनी समस्त खुशियों को उस पर न्योछावर कर देता था तथा स्वयं अपने जीवन में किसी दोष को उत्पन्न नहीं होने देता था, कि कहीं पुत्र में भी वे आ न जांय।

इसी प्रकार पुत्र भी अपने पिता का देवता के समान आदर करता था

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा उसके वचन का अपने प्राण देकर भी पालन करता था। अपने पिता के वचन की रक्षा करने के लिए ही राम ने चौदह वर्ष वनवास किया था। सदाचारी पुत्र यही मानता था—

नह्यतो धर्मचरणं, किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा, तस्य वा वचनक्रिया॥

पिता की सेवा तथा उनकी आज्ञा-पालन जैसा धर्म कोई दूसरा नहीं है।

इस प्रकार प्राचीन काल में पिता एवं पुत्र दोनों ही एक दूसरे पर अपने आपको न्योछावर कर देने के लिए तैयार रहते थे तथा अपने सदाचरण द्वारा संसार के समक्ष आदर्श-रूप बन जाते थे।

कविता में आगे कहा गया है—

छोटों को था बड़ों की बुजुर्गी का एहतराम।
छोटों पर थीं बड़ों की निगाहें करम मदाम॥

यानी प्रत्येक व्यक्ति अपने से बुजुर्ग व्यक्तियों का अत्यन्त आदर और सम्मान करता था। चाहे वह उसका पिता या दादा हो अथवा पड़ौसी या गांव का कोई भी और किसी जाति का ही व्यक्ति क्यों न हो।

उस समय एक व्यक्ति की बेटी या बहू सम्पूर्ण गांव की बेटी और बहू मानी जाति की तथा एक व्यक्ति की इज्जत पर खतरा आते ही सम्पूर्ण गांव और गांव के बुजुर्ग उस कठिनाई का मुकाबला करने के लिए कमर कस तैयार हो जाते थे।

बेटे की शादी नहीं करूँगा

बहुत पहले की एक घटना है—मध्यप्रदेश के एक गांव में रामदास नामक एक व्यक्ति रहता था। वह निर्धन था, किन्तु किसी प्रकार उसने एक-एक पैसा जोड़कर दो हजार रुपया इकट्ठा किया और अपनी पुत्री का विवाह समीप के किसी गांव में तय किया। लड़की का ससुर भी धनवान नहीं था किन्तु बड़ा लालची था। दो हजार नकद लेने की बात करके उसने लड़के का संबंध रामदास की पुत्री से कर दिया।

किन्तु दुर्भाग्यवश रामदास की पुत्री की शादी में दो ही दिन रहे थे कि चोरों ने सेंध लगाकर उसका जो कुछ भी था वह चुरा लिया। साथ ही वे दो हजार रुपये ले गए। रामदास ने विचार किया कि चोरी की बात बताने पर लड़की का ससुर दया करके मान जायेगा तथा रुपयों की मांग नहीं करेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बारात और द्वाराचार हुआ किन्तु भांवर पड़ने से पहले ही दूल्हे के पिता ने रुपयों की मांग की। रामदास ने हाथ जोड़कर चोरी की बात बतलाई और अपनी टोपी समधी के पैरों पर रखकर उनसे रुपये न दे पाने लिए क्षमा मांगी।

किंतु दूल्हे का बाप आग-बबूला हो गया और उसने हाथ पकड़ कर फेरों के लिए तैयार अपने पुत्र को वहां से खींच लिया और बोला—"यह शादी नहीं होगी, मैं अपने लड़के का अन्यत्र विवाह करूंगा।" उसने बरातियों को उसी समय लौट चलने का आदेश दिया।

रामदास ने लाख मिन्नतें कीं पर वह नहीं माना। अन्ततः और कोई उपाय न देखकर रामदास अपने गाँव के सबसे बड़े बुजुर्ग श्री किशनदास जी के पास दौड़ा गया और उनसे सब हाल कहा। किशनदास जी उसी क्षण नंगे पैर ही रामदास के यहाँ आए और दूल्हे के ससुर को समझाने लगे। किन्तु वह टस से मस नहीं हुआ और रवाना होने की तैयारी करने लगा।

यह देखकर किशनदास जी ने शान्त और गम्भीर स्वर से कहा—"यह बारात बिना विवाह किये नहीं लौटेगी। रामदास की बेटी हम सबकी बेटी है और इनकी इज्जत में हमारी सबकी इज्जत है।" यह कहते हुए उन्होंने स्वयं अपने पास से पांच सौ की रकम सर्वप्रथम अपनी जेब से निकाल कर रखी तथा गाँव के अन्य निवासियों से भी जितना हो सके उसमें मिलाने की अपील की।

बात की बात में सभी ने जो बना दिया और वह रकम दो हजार से भी अधिक हो गई। दूल्हे के पिता को निश्चित पैसा दे दिया गया तथा बाकी अन्य कार्यों में खर्च किया गया। विवाह सानन्द समाप्त हुआ और बरात बहू को लेकर लौटी।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्राचीन काल में जिस प्रकार छोटे व्यक्ति बड़ों का आदर सम्मान करते थे, उसी प्रकार बड़े भी अपने से छोटों पर स्नेह रखते थे तथा उनकी भलाई के लिये सभी कुछ किया जा सकनेवाला कार्य करते थे। उस समय वे नहीं सोचते थे कि यह हमारा सगा-संबंधी या परिवार का व्यक्ति नहीं है।

आज तो बम्बई, कलकत्ता तथा दिल्ली आदि बड़े-बड़े शहरों में तो पड़ोसी अपने पड़ौसी का नाम तक जानना नहीं चाहता। हाँ, भारत के छोटे छोटे गाँवों में अवश्य ही अपनत्व एवं आपसी स्नेह की भावना पाई जाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा वहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को उम्र के अनुसार दादा, चाचा, भाई आदि संबोधन से बुलाता है तथा उसी के अनुसार व्यवहार रखता है।

आगे कहा गया है:—

हक छीनना किसी का, समझते थे पाप वह।
करते थे अपनी गलतियों पर पश्चाताप वह॥

प्राचीन समय के सदाचारी व्यक्ति धर्म-भीरू और पाप से डरने वाले होते थे। वे किसी का भी हक छीनना बड़ा भारी पाप समझते थे चाहे वह भाई, पड़ौसी या व्यापार का साझीदार, कोई भी क्यों न हो। और कदाचित् परिस्थिति वशात् कभी ऐसा हो जाता तो उसके लिये वे घोर पश्चाताप करके प्रायश्चित्त करते थे।

आज लोगों का खयाल है कि जो कार्य हो चुका है, उसके लिये पश्चाताप करने से कोई लाभ नहीं। किन्तु ऐसा विचार करने वाले बड़ी भूल करते हैं और इससे साबित होता है कि उनके सामने न कोई ऊँचा लक्ष्य है और न ही उन्हें आत्म-शुद्धि की महत्ता का ज्ञान ही है।

पश्चात्ताप करने से आत्मा को बड़ा लाभ होता है। पाश्चात्ताप की अग्नि में किये हुए समस्त पाप भस्म हो जाते हैं तथा आत्मा नवीन पाप करने से भयभीत हो जाती है।

एक उर्दू के कवि ने तो पश्चात्ताप का महत्त्व बताते हुए कहा है कि जो व्यक्ति अपने दुष्कृत्यों के लिये पश्चात्ताप नहीं करेगा उसे अन्त में भयंकर रूप से पछताना पड़ेगा और मजबूर होकर कहना पड़ेगा—

मैं अपने बद अमलों से हूँ, इस कदर नादम।
कि शरम आती है खुद अपनी शरमसारी पर॥

—सहर

अर्थात्—मैं अपने कदाचार से इतना लज्जित हूँ कि मुझे अपनी लज्जा पर भी लज्जा आती है।

आशय यही है कि अगर मनुष्य को अपना जीवन शुद्ध बनाना है तो उसे अपने प्रत्येक पाप की आलोचना और उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये। पश्चात्ताप होने पर मन में प्रायश्चित की भावना आती है और प्रायश्चित्त करने पर आत्मा शुद्ध बनती है। अगर हम इतिहास उठाकर देखें तो मालूम पड़ सकता है कि अपने पापों के लिये पश्चात्ताप और प्रायश्चित करते हुए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनेकानेक पापी भी शुद्ध और साधनामय जीवन को अपनाकर इस संसार से तर गए हैं।

स्वयं गौतम स्वामी जो पूर्व में इन्द्रभूति ब्राह्मण थे अनेक यज्ञों का आयोजन करके उनमें निरपराध प्राणियों की बलि का विधान करते थे, डाकू अंगुलिमाल, हत्यारा अर्जुन माली आदि अनेकों व्यक्तियों के उदाहरण हमारे समक्ष आते हैं जो महापापी थे, किन्तु अपने पापों पर पश्चात्ताप होने के कारण वे मुक्ति के सही मार्ग को पा सके। और तो और चण्डकौशिक सर्प, जिसके प्रश्वास मात्र से मीलों तक के जीव-जन्तु अपनी इहलीला समाप्त कर जाते थे और जिसके डसने से लाखों प्राणियों का प्राणनाश हुआ था, वही भयंकर भुजंग अपने समस्त पापों का घोर पश्चात्ताप करके अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ बन गया।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि प्राचीन काल के भारतवासी धर्म को सच्चे मायने में अंगीकार करते थे और उसके कारण किसी का भी हक छीन कर उसका दिल दुखाने को घोर पाप समझते थे। तथा संयोगवश कभी ऐसा हो जाता तो उसका सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करते थे। पश्चात्ताप के द्वारा वे अपनी आत्मा को निर्मल बनाकर चारित्र का सही रूप में पालन करते थे और आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते थे।

कविता में आगे कहा गया है—

पत्नी पति के रंजो-अमन में शरीक थी।
अरधंगी बनी थी असल में पत्नी ही ठीक थी॥

इन लाइनों में बताया गया है कि उस काल में पत्नी, नाम मात्र की पत्नी नहीं होती थी, अपितु वह सच्ची धर्म-पत्नी होती थी जो अपने पति को सुमार्ग पर चलाती थी। अगर कभी पति के कदम धर्म मार्ग के विपरीत उठ जाते अथवा लड़खड़ा जाते तो वह अपनी उचित सलाह, प्रेरणा और प्रयत्न से उसे पुनः सत्पथ पर ले आती थी।

उस काल नारियों में आत्म-विश्वास से परिपूर्ण दृढ़ मनोबल होता था इसीलिए सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक सभी क्षेत्रों में उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त था। वे समाज में हीन नहीं मानी जाती थीं वरन् उन्हें सच्चे रूप में पुरुष की अर्धांगिनी माना जाता था।

महाकवि कालिदास की पत्नी ने उन्हीं कालिदास को जो निरक्षर भट्टाचार्य थे तथा पेड़ की जिस डाली पर बैठे थे उसी को काटने का प्रयास कर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहे थे ऐसे बुद्धिहीन को भी संसार प्रसिद्ध कवि बना दिया। तुलसीदास जी की पत्नी रत्नावली ने भी मोह और वासनाग्रस्त तुलसीदास को धर्म-धुरंधर और भगवान का सच्चा भक्त संत तुलसीदास बनाया। सती सावित्री अपने पति सत्यवान को यमराज से छुड़ाकर ले आई। हमारे जैन इतिहास में उदाहरण भरे पड़े हैं। महारानी चेलना, सती सुभद्रा, सती अंजना, महासती चंदनबाला आदि ऐसी-ऐसी नारियां हुई हैं जिनकी दृढ़ आत्म-शक्ति और तेज प्रताप से लोहे की हथकड़ियां भी साधारण सूत के समान टूट गईं, कच्चे सूत के धागे में बंधी चलनी कुए से जल भर कर ले आई, आदि-आदि उदाहरण स्वर्णाक्षरों से अंकित हैं।

ऐसी नारियों के त्याग, प्रेम, उदारता, वीरता, सहिष्णुता, धर्मपरायणता आदि अनेक उज्ज्वल गुणों ने मानव को अभिभूत किया है तथा उसे कुमार्ग पर जाने से बचाया है। इसीलिए संसार उसे श्रद्धापूर्ण दृष्टि से देखता रहा है और सम्मानपूर्वक कहता है—"**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।**" यानी जहां नारी की प्रतिष्ठा होती है वह स्थान स्वर्ग तुल्य बन जाता है।

मनुस्मृति में भी कहा गया है—

शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता, वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥

अर्थात्—जिस कुल में नारियां दुःख के कारण शोक करती हैं, उस कुल का शीघ्र नाश हो जाता है। और जिस कुल में नारियां सदा प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सदा उन्नत रहता है।

वस्तुतः नर और नारी का महत्त्व समान है और वे रथ के पहियों के समान जीवन रूपी गाड़ी में समान रूप से सहायक हैं। आदि काल में स्त्रियों का स्थान पुरुषों से लेश मात्र भी हीन नहीं समझा जाता था। यह यथार्थ भी है। प्राचीन सभ्यता इस बात की पुष्टि करती है कि इस आर्यावर्त में स्त्री और पुरुष के अधिकार समान थे, उनकी प्रतिष्ठा और दर्जा भी समान था। महाभारत में कहा गया है—

देववत् सततं साध्वी, भर्त्तारमनुपश्यति।
दम्पत्योरेष वै धर्मः, सहधर्मकृतः शुभः॥

अर्थात्—पत्नी यदि पति को देवता के समान समझती है तो पति भी उसे उसी दृष्टि से देखता है। दम्पति का धर्म एक ही है, यानी सहचारिता दोनों के लिए आवश्यक है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर खेद की बात है कि मध्यकाल में नारी की प्रतिष्ठा का ह्रास होता गया और ज्यों-ज्यों उसकी अवहेलना होती गई, त्यों-त्यों पुरुष वर्ग भी अवनति के गहरे गर्त में गिरता चला गया। सत्य भी है कि नारी को अबला बना देने के बाद वे स्वयं कैसे सबल रह सकते थे ! अबला सबल पुरुष को जन्म ही कैसे दे सकती है ? परिणाम आज हम देखते हैं कि पुरुष जाति निर्बल, निस्तेज और कदाचारी होती चली जा रही है।

अब कवि की अन्तिम बात सुनिये—

दुश्मन की दुश्मनी में भी था जजबाए प्यार।
इज्जत थी इन्कसार था और आपसका एतबार॥

कितनी महत्त्वपूर्ण और गौरवपूर्ण बात है यह ? वास्तव में यह पूर्ण यथार्थ है। उस बीते युग में क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति दृढ़ चारित्र का धारक होता था सद्गुणों से परिपूर्ण भी। अतः आपस में दुश्मन होते हुए भी वे एक दूसरे का विश्वास करते थे, आज के समान धोखे और चोरी से एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करते थे। उस समय दिनभर एक दूसरे से घोर युद्ध करने वाले भी रात्रि को युद्ध समाप्त करके एक-दूसरे के खेमे में जाते थे और बुजुर्ग योद्धाओं से युद्ध के दाव-पेंच भी सीख आते थे। महाभारत के युद्ध के ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिसमें भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य एवं युधिष्ठिर आदि ने अपने विरोधियों की भी निस्संकोच सहायता की है। कहते हैं कि रावण जब मृत्यु शैय्या पर पड़ा था, उस समय राम ने लक्ष्मण को रावण के पास नीति की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा था।

अभिप्राय यही है कि उस जमाने में दुश्मन भी अपने दुश्मन का सम्मान करता था। सिकन्दर और पौरस की लड़ाई इतिहास प्रसिद्ध है। सिकन्दर ने पोरस को पराजित करके बंदी बना लिया था और जब वह सिकन्दर के समीप लाया गया तो सिकन्दर ने पूछा—

"पोरस ! अब बताओ तुम्हारे साथ कैसा वर्ताव किया जाय ?"

"जैसा बादशाह को बादशाह के साथ करना चाहिए।" पोरस ने उत्तर दिया।

यह पोरस का उत्तर था जो उसने निडर और निस्संकोच होकर दिया था। सिकन्दर अपने दुश्मन पोरस का उत्तर सुनकर प्रभावित हुआ और उसने उसी समय अपने विरोधी वीर को सम्मान सहित मुक्त कर दिया। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो ऐसा भी होता था कि व्यक्ति अपने घोर शत्रु के संरक्षण में ही अपनी पत्नी, पुत्री अथवा भाई या पुत्र को छोड़ देता था और उसका शत्रु उस दुश्मन से दुश्मनी रखता हुआ भी उसकी पत्नी या पुत्री की उसी स्नेह,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिम्मेदारी और इज्जत के साथ रक्षा करता था, जितनी कि वह स्वयं अपनी पुत्रो या पत्नी की करता।

कितना उच्च और महान् जीवन होता था उन प्राचीन लोगों का ? कैसी दुश्मनी होती थी उनकी ? अपनी शरण में आये हुए दुश्मन की रक्षा व्यक्ति अपने प्राण देकर भी करता था। यह किस वजह से ? अपने उत्तम संस्कार और सदाचार की वजह से ही तो। सदाचार ही उनके जीवन को न्यायप्रिय, निर्मल, निरहंकारी तथा गुण दृष्टि से सम्पन्न बनाता था। अपनी गुण दृष्टि के कारण ही वे दुश्मन के गुणों की कद्र करते थे।

आज पुनः भारतवासियों को सदाचार संबंधी महत्ता प्राप्त करने की आवश्यकता है जो किसी काल में उन्हें प्राप्त थी। व्यक्ति को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि केवल प्रकृति के वशीभूत होकर चलने से तथा संसार के मोह में फंसकर नैतिकता और धार्मिकता को न अपनाने से आत्मा की स्वाभाविक पवित्रता धीरे-धीरे पापों से आच्छन्न हो जाती है। आत्मा भय, ग्लानि, हीनता एवं अन्य इसी प्रकार की भावनाओं से परिपूर्ण रहती हुई सदैव शंकित रहती है :

किन्तु सदाचारी पुरुष की आत्मा में अतुल बल होता है। अपने सदाचरण के कारण वह पापाचरण की ओर नहीं झुकता। परिणामस्वरूप उसके मन में पापों का भय नहीं होता उनसे परित्राण पाने का भी उसे प्रयत्न अधिक नहीं करना पड़ता। वह अपनी आत्मा को इतनी दृढ़ बना लेता है कि कुबुद्धि उस पर हावी नहीं होती और वह सहज ही कषायों के प्रकोप से बच जाता है।

कुछ व्यक्ति, जिनकी आत्मा कमजोर होती है और वे इन्द्रिय-जन्य सुखों के आकर्षण से अपने आपको नहीं बचा पाते, वे कलियुग का हवाला देते हुए कहते हैं—"क्या करें यह कलियुग है अतः इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। कोशिश तो बहुत करते हैं किन्तु समय ही ऐसा है, फिर क्या करें ?"

ऐसा कहने वाले बड़ी भूल करते हैं। वे अपने साथ दुनियां को भी धोखा देना चाहते हैं। सत्य तो यह है कि सदाचारी पुरुष पर कलियुग का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। सतयुग और कलियुग दोनों ही कहीं बाहर नहीं हैं। अगर व्यक्ति सद्गुणों का संचय करते हुए अपनी आत्मा को निर्लेप रखे एवं जीवन को सदाचार युक्त बनाए तो उसके अन्दर सतयुग का भाव बना रह सकता है और अगर वह कुसंगति में रहकर कषायादि विकारों में बह जाता है तो उसके अन्दर ही कलियुग जन्म ले लेता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन है—

सत्य वचन मानस विमल,
कपट रहित कर लूति।
तुलसी रघुवर सेवकहि,
सकहि न कलियुग जीति॥

अगर तुम्हारी वाणी में सत्य है, मन में निर्मलता है, तुम्हारी क्रियाएँ कपट रहित हैं और तुम भगवान की भक्ति करने में तत्पर रहते हो तो कलि-युग तुम्हें कभी भी जीत नहीं सकता। यानी उसे स्वयं भी तुम्हारे समक्ष पराजित होना पड़ेगा।

अतएव बंधुओ, प्रत्येक विचारशील प्राणी को सदाचार की शरण ग्रहण करना चाहिए। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि दुराचारी व्यक्ति यहां से जितना अधिक पाप का भार लेकर प्रयाण करते हैं, उसी परिमाण में परलोक में भयानक कष्ट सहन करने के लिये बाध्य होते हैं। किन्तु इसके विपरीत सदा-चारी पुरुष अपने शुद्ध एवं सरल हृदय की प्रेरणा से शुभ मार्ग पर चलता है तथा निर्भय एवं हलका रहकर परलोक की ओर प्रयाण करता है। वह कभी पाप के गड्ढे में नहीं गिरता, स्वयं ऊंचा उठता है तथा अपने संसर्ग से औरों को भी ऊंचा उठाता है। वह अपनी जाति और देश को सदाचार की सौरभ से महका देता है अर्थात् उन्हें प्रतिष्ठित और गौरवान्वित बनाता है। सदाचार को अपनाने और उसे दृढ़ बनाने का भगवान महावीर ने बहुत ही सुन्दर तरीका बताया है। कहा है—

किं मे परो पासइ किं च अप्पा,
किं वाहं खलियं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा॥

प्रत्येक विवेकी और मुमुक्षु व्यक्ति को यह विचार करना चाहिए कि दूसरे लोग मुझ में क्या-क्या दोष देख रहे हैं? मुझे स्वयं में क्या दोष दिखाई देते हैं? क्या मैं उन दोषों का परित्याग नहीं कर रहा हूं? इस प्रकार सम्यक् रूप से अपने दोषों को देखनेवाला साधक भविष्य में कोई ऐसा कर्म नहीं करता, जिससे उसके शील और संयम में बाधा पहुंचे तथा कर्मों का बंधन हो।

आज हम क्रिया तो बहुत करते हैं किन्तु उसका असर नहीं होता। इसका क्या कारण है? यही कि हम अपने कर्मों में सत्य, अहिंसा, दया, अक्रोध, संतोष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा क्षमा आदि गुणों को नहीं उतारते। परिणामस्वरूप विटामिन रहित खुराक खाने से जिस प्रकार जीवन चलता तो है किन्तु शरीर पुष्ट नहीं होता, उसी प्रकार सद्आचरण के अभाव में जीवन के कार्य होते जाते हैं किन्तु उनसे आत्मा शुद्ध एवं पुष्ट नहीं होती।

आज व्यक्ति जितना जानता है उसका सौवां हिस्सा ही वह अपने आचरण में नहीं उतारता। उदाहरणस्वरूप सभी जानते हैं कि चोरी नहीं करना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए, निर्धनों को सताना नहीं चाहिए तथा हिंसा व दुराचार नहीं करना चाहिए, किन्तु ये सब बातें जानते हुए भी इन्हें आचरण में लोग कहां उतारते हैं। **"क्षमा परमो धर्मः"** का नारा सब लगाते हैं तथा सम्वत्सरि पर्व पर सब जबान से क्षमत-क्षमापना भी कहते हैं किन्तु क्षमा करने का जब सही अवसर आता है तब कौन उस पर अमल करता है? बहुत कम, विरले ही कोई ऐसा कर पाते हैं।

अभय दान देना!

मध्य भारत नीमच में सेठ गंगाराम जी की धर्मपत्नी केसरबाई ने चार पुत्रों को जन्म दिया था। उन चारों में से एक पुत्र को जुआ खेलने की लत पड़ गई थी।

एक बार जुए में हार जाने के कारण वह जुआरी पुत्र अपनी माता केसरबाई के गहने चुराकर ले गया और अपने अन्य तीन साथियों के साथ किसी अन्य शहर को रवाना हो गया। किन्तु उसके साथियों की नीयत बिगड़ गई और उन तीनों ने 'रेवाड़ी' नामक स्टेशन के समीप उसे मार डाला तथा आपस में गहनों का बटवारा करके घर लौट आए।

किन्तु एक कहावत है कि—'पाप सिर पर चढ़कर बोलता है।' वही हुआ। तीनों जुआरियों में से एक का अपनी पत्नी से गहनों के कारण झगड़ा हो गया और स्त्री ने ऊँचे स्वर से कहा—"यह गहना तुम्हारा नहीं है, सेठ गंगाराम का है जिसके पुत्र को तुम लोगों ने धोखे से मार डाला है।"

स्त्री की बात किसी पड़ोसी ने सुनली और थाने में रिपोर्ट कर दी। फलस्वरूप तीनों हत्यारे पकड़े गए और उनसे समस्त आभूषण लेकर थाने में जमा कर लिये गये।

पश्चात् गंगारामजी को कोर्ट में बुलवाया गया तो उन्होंने जेल से पूर्व अपनी पत्नी केसरबाई से बयान देने के विषय में सलाह ली कि क्या किया जाय? धर्म-परायणा केसरबाई ने सोच विचार कर पति से कहा—"अच्छा यही होगा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कि आप केवल गहनों की पहचान बताएँ किन्तु ऐसी कोई बात न कहें जिससे उन हत्यारों के अपराध की पुष्टि हो जाय। यद्यपि हम जानते है कि उन तीनों ने अपने पुत्र का खून किया है किन्तु कानून के अनुसार अगर उन्हें मृत्यु दंड दे दिया गया तो उनकी माताओं को भी ऐसा ही घोर दुःख होगा जैसा मुझे अपने पुत्र की हत्या के कारण हो रहा है। अतः आप उन्हें क्षमा करके अभयदान दीजियेगा।

सेठ गंगाराम जी ने यही किया। फलस्वरूप उन्हें गहने मिल गए और वे तीनों हत्यारे भी रिहा हो गये तथा उन्होंने कुमार्ग छोड़कर सन्मार्ग पर चलने का निश्चय किया ?

क्षमा का कितना जबरदस्त उदाहरण है ? पुत्र के हत्यारों को भी क्षमा कर देने वाले माता-पिता क्या सहज ही मिल सकते हैं ? नहीं, ऐसी महान् आत्माएँ क्वचित ही प्राप्त होती हैं और उनमें इतनी जबरदस्त शक्ति उनके सदाचार से जागृत होती है।

आप संभवतः नहीं जानते होंगे कि सेठ गंगाराम और उनकी सच्ची अर्धांगिनि केसरबाई ही जैन दिवाकर मुनि श्री चौथमल-जी म० के माता-पिता थे।

ऐसे सदाचारी और धर्मपरायण व्यक्ति ही स्वयं अपना आत्मोत्थान करते हैं तथा औरों को भी उसीमार्ग पर लेकर चलते हैं। हमारे शास्त्र कहते हैं—

भावणा जोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टई॥

—सूत्रकृतांग, १५-५

अर्थात्—जो आत्मा पवित्र भावनाओं से शुद्ध है, वह जल पर रही हुई नाव के समान है। वह आत्मा नौका की तरह संसार रूप समुद्र के तट पर पहुँच कर सम्पूर्ण दुखों से मुक्त हो जाती है।

ध्यान में रखने की बात है कि नौका स्वयं तो पार होती ही है, वह उन्हें भी पार पहुँचा देती है जो उसका आश्रय लेते हैं। इसी प्रकार सदाचारी पुरुष स्वयं भी दुखों से मुक्त होते हैं और अपना सहारा लेने वाले अन्य प्राणियों को भी संसार के दुखों से मुक्त करा देते हैं।

हम देखते हैं कि वही नौका इस किनारे से उस किनारे तक यात्रियों को पहुँचा सकती है जो छिद्र युक्त न हो। छिद्रों वाली नौका न तो स्वयं ही पार लग सकती है, न दूसरों को ही पार उतार सकती है। वह निश्चित ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतल जल में डूब जाती है। दूसरे प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में दोषों या अवगुणों के छिद्र होंगे वे न तो स्वयं ही संसार-सागर से पार उतर पाएंगे और न ही औरों को पार कर सकेंगे। स्वयं डूबेंगे तथा दूसरों को भी डुबोयेंगे।

प्रश्न उठता है कि जीवन के वे अवगुण कौन-कौन-से हैं जो कदाचार बन कर जीवन को दोष युक्त बनाते हैं? उत्तर है—काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, असत्य, दम्भ, द्वेष, द्रोह, हिंसा, मोह, विलासिता आदि अनेक दोष हैं जो जीवन-रूपी नौका के छिद्र हैं। इन छिद्रों के रहते इस नाव का संसार-सागर से पार हो जाना कठिन ही नहीं, असंभव है।

इसलिये जो इस सागर से पार उतरने की आकांक्षा रखता है उसे इन समस्त दोषों से अपने आपको परे रखना चाहिये। तथा स्मरण रखना चाहिये कि व्रत उपवासादि करने की अपेक्षा तथा घोर तप करके शरीर को सुखाने की अपेक्षा भी जीवन में दया, करुणा, स्नेह, सद्भावना, संतोष तथा क्षमा आदि सद्गुणों को उतारना अधिक लाभप्रद है। सामायिक, प्रतिक्रमण, पोषध आदि करने से और भूखे रहने मात्र से ही धर्म का अनुष्ठान नहीं हो जाता है। व्यक्ति सच्चे मायने में तभी धर्मात्मा कहला सकता है, जबकि वह सदाचारी बने। उत्तम आचार ही जीवन का सबसे बड़ा धर्म है।

यजुर्वेद में भी कहा गया है--

"आचारः प्रथमो धर्मो नृणां श्रेयस्करो महान्।"

सात्विक आचार ही पहला धर्म है, और यही मनुष्यों का महान् कल्याण करने वाला है।

तो बंधुओ, जो विचारशील पुरुष सद्गुणों का संचय करेंगे, उनकी रक्षा करने के लिये सजग और सावधान रहेंगे तथा उन्हें अपने जीवन में उतार कर स्वयं सन्मार्ग पर चलते हुए औरों को भी उस पर चलने की प्रेरणा देंगे वे निश्चय ही भव-पारावार के पार पहुँचेंगे तथा अक्षय सुख के अधिकारी बनेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८ इन्सान ही ईश्वर बन सकता है !

धर्म प्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

इस विराट विश्व में मानव जीवन अन्य समस्त प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ जीवन है जो अनन्त पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त होता है। एक कवि ने कहा भी है :—

नहीं आसान है इन्सान के घर में जनम पाना।
जन्म लेने से भी मुश्किल है फिर इन्सान कहलाना॥
पशुतर नीच योनी में भटकते हम रहे अब तक।
खुली किस्मत तो हासिल हो गया इन्सान का बाना॥

कवि का भी यही कथन है कि इन्सान के घर में जन्म प्राप्त करना अर्थात् मानव पर्याय पा लेना आसान नहीं है। पशुयोनि और उससे भी निकृष्ट नरक निगोदादि में अनन्त काल तक भटकने के पश्चात् सौभाग्य से हमें इन्सान का बाना प्राप्त हुआ है।

कवि ने और एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण कह दी है, वह यह कि इन्सान के रूप में जन्म लेने पर भी इन्सान कहलाना अत्यन्त कठिन है।

आप विचार करते होंगे कि जब मानव-शिशु बनकर जन्म लिया है तो फिर मानव तो कहलाएँगे ही, इसमें कौन सी बाधा आती है ? पर इसी बात का उत्तर हमें बड़ी गहराई से लेना और समझना होगा।

सच्चा मानव या इन्सान वही कहलाएगा जिसमें मानवता अथवा इन्सानियत होगी। इसके अभाव में वह केवल आकृति से ही मानव कहलाएगा मानवोचित गुणों से परिपूर्ण मानव नहीं। शरीर से मानव बन जाने पर भी अगर उसमें मानवोचित गुण नहीं हैं तो वह पशु के समान अपना पेट भर लेने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के कारण पशु से अधिक श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता क्योंकि खाना और सोना तो पशु भी जानते हैं फिर पशु और उन आकृतिधारी मनुष्यों में अन्तर ही क्या रहा ?

आज भारत में आकृति से मनुष्य कहलानेवालों की कमी नहीं है। जन संख्या बढ़ती जा रही है और इसीलिये परिवार-नियोजन का प्रयत्न चालू है। तो मनुष्यों की कमी यहाँ नहीं है, कमी है मानवता प्राप्त कर लेने वाले सच्चे मानवों की। मानव तो हमें प्रत्येक क़दम पर मिलते हैं किन्तु मानवता कितनों में मिलती है यह जानना बड़ा कठिन है। आज की बढ़ती हुई बेकारी के युग में आप नौकरी देने के लिये एक उम्मीदवार का विज्ञापन दिलवा दीजिये, और कल ही आपको एक सौ मनुष्य मिल जाएँगे। पर वे केवल पेट-पूर्ति के लिये ही काम करने वाले होंगे। उनमें सच्चे मानव नहीं मिलेंगे।

हम देखते हैं कि आज किसी को हम गधा कह दें तो उसके क्रोध का पारा अपनी सर्वोच्च सीमा पार कर जाता है। अपने आपको पशु कहलवाना कोई भी पसंद नहीं करता। किन्तु अगर दीर्घ दृष्टि से देखा जाय तो हमें ऐसे मनुष्य ही अधिक मिलेंगे जिन्हें पशु कहना पशुओं का भी अनादर करना है। बेचारे पशु अपनी भूख-प्यास मिटाते हैं और अपने आप में मगन रहते हैं। वे अन्य किसी का बुरा नहीं सोचते, किसी से ईर्ष्या नहीं करते और अकारण किसी को कष्ट नहीं पहुँचाते। किन्तु मानव तो हमें ऐसे ही अधिक मिलेंगे जो और की बढ़ती को देखकर जल-भुन जाएँगे और उन्हें नीचा दिखाने के प्रयत्न में ही सदा बने रहेंगे। अपने भोग-विलास के साधनों की पूर्ति करने के लिये वे न जाने कितने निर्धनों के पेट पर लात मारते हुए देखे जाएँगे और अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये जघन्य कार्य करने से भी नहीं चूकेंगे।

इसीलिये मैंने अपने पिछले एक प्रवचन में भर्तृहरि के श्लोक के आधार पर प्रश्नोत्तर के रूप में बताया था कि जिन मनुष्यों में विद्या, तप, ज्ञान, शील, गुण तथा धर्म आदि चीजें नहीं हैं वह पृथ्वी पर भारभूत है तथा पशु से भी गया बीता है, और ऐसे व्यक्ति से पशु भी अपनी तुलना किया जाना पसंद नहीं करते।

आपके हृदय में एक छोटा सा प्रश्न संभवतः खड़ा होगा कि मानव और मानवता में क्या अन्तर है ? संक्षिप्त रूप से उसका यही उत्तर दिया जा सकता है कि मानव और मानवता में उतना ही अन्तर है जितना मिट्टी और घड़े में। कच्ची मिट्टी न जल भरने के काम में आती है और न ही किसी अन्य पदार्थ को उसमें रखा जा सकता है। कुम्हार मिट्टी में पानी डालकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसे पैरों से खूब गूँधता है, ठोक-पीट कर उसका पिंड बनाता है, चाक पर चढ़ाकर सही आकृति प्रदान करता है और उसके पश्चात् ही अग्नि में झोंककर उसे पकाता है। तब कहीं जाकर वह मंगल कलश के रूप में दुनिया में आता है तथा सन्नारियों के मस्तक की शोभा बढ़ाता है।

कहिये ! कितनी कठिनाइयों में से घड़ा गुजरा ? तब कहीं लोग उसे शुभ और उपयोगी समझने लगे। इसी प्रकार जब तक मानव आकृति से ही मानव रहता है, वह मिट्टी के समान किसी के लिये भी उपयोगी नहीं होता उलटे, अपने स्वार्थ के कारण औरों के लिये सिर दर्द बन जाता है, जबकि बेचारी मिट्टी तो मिट्टी के रूप में रहकर किसी का अहित नहीं करती।

तो मैं बता यह रहा था कि मात्र आकृति से रहा हुआ मानव सच्चा मानव नहीं कहला सकता। वह तभी मानव कहलाने का अधिकारी बनेगा जब उसमें मानवोचित गुण आएँगे। अर्थात् जब दीन-दुखी व्यक्तियों को देख कर उसके हृदय में करुणा का उद्रेक होगा और वह अपनी शक्ति के अनुसार उनके कष्टों को मिटाने का प्रयत्न करेगा, नारियों के प्रति माता और बहन भाव रखते हुए वक्त आ पड़ने पर उनकी इज्जत की रक्षा के लिये अपने प्राणों की बाजी लगाने के लिये भी तैयार रहेगा, रोग-पीड़ित प्राणी की सेवा-सुश्रुषा के लिये कटिबद्ध रहेगा, तथा धर्म का आचरण स्वयं करते हुए औरों को भी सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देगा तभी वह सच्चा मानव या सच्चा इन्सान कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकेगा।

कवि ने आगे कहा है:—

गति इन्सान की सबसे है उत्तम इसलिये मानी।
कि शक्ति है फकत इन्सान की मुक्ति को पा जाना॥
यह वो इन्सान है, जिसको झुकाया सर है देवों ने।
यही इन्सान सीखा है, जो ईश्वर बन के दिखलाना॥

इस संसार में जीव चार गतियों में जन्म लेता है। वे हैं—नरकगति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति। अनन्तानन्त काल तक नरक निगोदादि निकृष्ट योनियों में पुनः पुनः जन्ममरण करने के पश्चात् जीव मनुष्य और देव योनि प्राप्त करता है। मनुष्य गति और देव गति दोनों उत्तम हैं किन्तु इन दोनों में भी श्रेष्ठ है मनुष्य गति। आप सोचेंगे, मनुष्य तो स्वर्ग में देव बन जाने की अभिलाषा रखते हैं तथा इसीलिये प्रयत्न करते हैं कि हमें स्वर्ग मिले।

आपका विचार सही है, स्वर्ग में देव बनने पर जीव अतुल ऋद्धि का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वामी बनता है और मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुखों का उपभोग करता है। किन्तु उससे स्थायी लाभ क्या है? वहाँ का समय पूरा करने के पश्चात् फिर उसका संसार-भ्रमण चालू हो जाता है। क्योंकि वह कर्मों को काटकर संसार से मुक्त होने की करणी तो स्वर्ग में कर ही नहीं सकता। ऐसी शक्ति, करणी सम्पूर्ण कर्मों का नाश करके मोक्ष गति प्राप्त करने की ताकत केवल मनुष्य में ही है। वही अपनी उत्तमोत्तम करनी के द्वारा संसार से मुक्त होकर ईश्वरत्व को भी प्राप्त कर लेता है।

एक पाश्चात्य विद्वान् डिजरायली का कथन भी है:—

"Man that is made in the image of the crertor is made for godlike deeds,"

मनुष्य ही सृष्टिकर्ता के प्रतिबिम्ब में ईश्वरतुल्य कार्य के लिये बनाया गया है।

अभिप्राय यही है कि इन्सान चाहे तो देवता तो क्या ईश्वर भी बन सकता है। पर देव ऐसा नहीं कर सकते अर्थात् वे कदापि कर्म नाश करके ईश्वरत्व को प्राप्त नहीं कर सकते और इसीलिये उन्हें मनुष्य के समक्ष अपना मस्तक झुकाना पड़ता है।

कविता के आगे की लाइनें हैं:—

तपस्या से इसी ने जाल, कर्मों का जला डाला।
धर्म पर वीर बनकर जल गया यह मिसले परवाना॥
इसी ने राम बनकर वन में चौदह साल काटे थे।
यही इन्सान था गाँधी, है भारत जिस पै दीवाना॥

इन पंक्तियों में भी मनुष्य का महत्त्व बताते हुए कहा गया है—वह इन्सान ही था, जिसने घोर तप करके अपने कर्मों का सम्पूर्णतया नाशकर लिया, वह इन्सान ही था जो धर्म के लिये इस प्रकार बलिदान हो गया, जिस प्रकार दीपक के ऊपर पतिंगा मर मिटता है।

आगे कहा है—वह राम इन्सान ही था, जिसने अपने पिता के वचन की रक्षा करने के लिये चौदह वर्ष घोर जंगल में बिताए तथा समस्त मानवोचित गुणों को अपने में धारण करके मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में संसार के समक्ष आदर्श बन गया। इतना ही नहीं, वह गाँधी भी इन्सान था जिसने संसार के भोगोपभोगों का त्याग करके लंगोटी धारण की तथा भारत के करोड़ों व्यक्तियों को अहिंसा के मार्ग पर चलाकर भी सैकड़ों वर्षों के गुलाम भारत को परतंत्रता की बेड़ियों से छुड़ाकर आजाद किया। मुट्ठीभर हड्डियों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के उस व्यक्ति में कितनी ताकत थी कि उसने संसार के सम्पूर्ण देशों को अपने सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों के समक्ष झुकाया तथा भारत का लोहा मानने को मजबूर कर दिया। युग-युग तक जिस राम और गाँधी को संसार स्मरण करेगा वे इन्सान ही तो थे।

आगे कहा गया है:—

इसी ने वीर भामा बनके, वोह राणा की सेवा की।
है गाता गीत जिसके, आज तक सब राजपूताना॥
रत्न पाकर भी बदकिस्मत, जो मिट्टी में मिला बैठे।
न उसको गर कहें मूरख कहें क्या आप फरमाना॥

कवि का कथन है—इसी इन्सान ने वीर भामाशाह के रूप में अपनी उदारता का सिक्का चारों ओर जमाया। अपनी अथाह दौलत को अपने देश की रक्षा के निमित्त अर्पण करके महाराणा प्रताप की उसने जो सहायता की थी वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों से सदा के लिये अंकित हो गई। राजपूताने के उस महान् व्यक्ति की गुणगाथा आप लोग भी गद्‌गद् होकर गाते हैं।

किन्तु अन्त में कवि यही कहता है कि ऐसे महान् और असंभव कार्यों को भी संभव बना सकने की क्षमता रखने वाले मानव जन्म रूपी अनमोल चिन्तामणि रत्न को पाकर भी जो व्यक्ति उससे लाभ नहीं उठाता, अपने दुर्भाग्य और दुष्कर्मों के कारण उसे मिट्टी में मिला देता है उसे हम मूर्ख न कहें तो आप ही बताइये क्या कहें ?

बंधुओ, क्या कवि का कथन यथार्थ नहीं है ? जिस मानव शरीर के द्वारा वह ईश्वर बन सकता है, उसी के द्वारा अपनी आत्मा को नरक, निगोद, तिर्यंच आदि योनियों में लेजाकर असह्य दुःख प्रदान कराना क्या मूर्खता नहीं है ? निश्चय ही इससे बढ़कर भयंकर भूल और मूर्खता अन्य कोई नहीं हो सकती। इसीलिये संत, महापुरुष एवं हमारे शास्त्र सदा प्राणी को उद्‌बोधन देते हैं तथा उसे जाग्रत होने की प्रेरणा देते हैं। उपनिषद् में एक वाक्य कहा गया है :—

"उत्तिष्ठत जाग्रत ! प्राप्य वरान् निबोधत।"

इसका अर्थ है—उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषों का आशीर्वाद लो तथा औरों को बोध दो।

आप सोचेंगे हम तो जाग रहे हैं और बैठे हुए हैं फिर उठना और जागना कैसा ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर यहां जागने से अभिप्राय आपकी इस द्रव्य-निद्रा से नहीं है अपितु प्रमाद की नींद से है। जो प्रमाद निद्रा हमें शुभ कार्यों के करने में बाधा डालती है उस निद्रा से जगाने की प्रेरणा उपनिषद् दे रहे हैं। प्रमाद-निद्रा में सोते-सोते तो जीव को अनन्त काल व्यतीत हो गया है और महा मुश्किल से अब वह मानव शरीर प्राप्त कर सका है, जिसमें शुभ कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। पर इसे भी अगर इसी प्रकार सोते हुए खो दिया तो फिर न जाने चौरासी लाख योनियों में से कौन-कौन-सी निकृष्ट योनि में आत्मा कैद होगी जहां फिर कुछ भी नहीं किया जा सकेगा। यह जीवन दान देने, परोपकार करने, तप करने, संयम का पालन करने के लिये और संक्षेप में धर्माराधन करके आत्मा को संसार मुक्त करने के लिये है। यही उपदेश संत देते हैं तथा शास्त्र भी यही कहते हैं।

किन्तु वही उपदेश भव्य प्राणी पूर्णतया ग्रहण कर लेते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जो थोड़ा बहुत अपनाते हैं किन्तु कुछ अभव्य ऐसे भी होते हैं जिन्हें रंच मात्र भी वह नहीं लगते। ऐसे व्यक्ति अनन्त काल से जन्म-मरण करते आए हैं और अनन्त काल तक करते ही रहेंगे।

किन्तु बंधुओ, हमें ऐसा नहीं करना है तथा शास्त्रों के इन उपदेशों को पूर्णतः अपनाना है जो पुकार कर कहते हैं :—

जागरह ! णरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी।
जो सुवति न सो सुहितो, जो जग्गति सो सया सुहितो ॥
सुवति सुवंतस्ससुयं, संकियं खलियंभवे पमत्तस्स।
जागरमाणस्स सुयं, थिर - परिचितमप्पमत्तस्स ॥

—निशीथभाष्य

कहा है—'मनुष्यो सदा जागते रहो, जागने वाले की बुद्धि सदा वर्धमान रहती है। जो सोता है वह सुखी नहीं होता, जागृत रहने वाला ही सुखी रहता है।

सोते हुए का श्रुत-ज्ञान सुप्त रहता है, प्रमत्त रहने वाले का ज्ञान शंकित एव स्खलित हो जाता है। जो अप्रमत्तभाव से जागृत रहता है उसका ज्ञान सदा स्थिर एवं परिचित रहता है। यानी अप्रमत्त की प्रज्ञा सदा जाग्रत रहती है।

इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को सदैव भाव निद्रा से जागृत रहना चाहिए तथा स्वयं तो सद्गुरुओं से बोध प्राप्त करना ही चाहिए साथ ही अपने सम्पर्क में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आने वाले अन्य प्राणियों को भी उद्‌बोधन देते हुए उन्हें सत्पथ पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। शास्त्रों के इन उपदेशों पर जिन्होंने पूर्व में अमल किया है, उनका उद्धार हुआ है और जो भविष्य में अमल करेंगे उनका भी निश्चय ही उद्धार होगा।

एक गुजराती कवि ने भी अपने काव्य में कहा है—

समय सरखा नथी सहुना, सदा तड़का अने छाया।
वखत आये जरुर व्हाला, भला थइने भलूं करजो॥

क्या कह रहे हैं ? यही कि संसार में सभी के लिए समय एक सा नहीं रहता। कोई यहां अमीर है और कोई गरीब है। कोई विद्वान् है और कोई अनपढ़। कोई बुद्धिमान है, कोई मूर्ख। कोई रोगी है और कोई निरोग। इस प्रकार किसी पर सुख की शीतल छाया है तो किसी पर दुःख की कड़ी धूप भी है। अतः व्हाला भाई ! यानी प्रिय भाई, तुम स्वयं तो भले बनना ही साथ ही ओरों का भी भला करना।

'व्हाला' शब्द कितना प्रिय लगता है ? प्रिय शब्द प्रभावशाली होते हैं तथा जो कार्य व्यक्ति डांट-फटकार से नहीं करा सकता वे ही कार्य अन्य व्यक्ति से मधुर बोलकर कराये जा सकते हैं। उपदेश भी अगर प्रिय शब्दों में दिया जाय तो अधिक उपयोगी बनता है।

जिस प्रकार सुनार सुवर्ण के आभूषण ठोक-पीटकर बनाता है किन्तु विवेक और सावधानी से पहले एक तरफ और फिर दूसरी तरफ बड़े धीरे-धीरे ठोककर उन्हें गढ़ता है तो आभूषण उसकी इच्छानुसार सुन्दर बन जाते हैं। इसी प्रकार शिक्षा भी प्रिय शब्दों में दी जाय तो उसका सुनने वाले पर अच्छा असर पड़ता है।

संत भी अगर प्रिय भाषा में बोलें तो आप लोग प्रसन्न होते हैं और तनिक भी अप्रिय कह दिया तो कह देते हैं—'महाराज बोलते तो अच्छा है लेकिन.....।' बस ! यह लेकिन जहाँ आया सारा मामला बिगड़ जाता है।

मराठी भाषा में भी कहा जाता है –

लोक—**म्हणतात् अहो हे महाराज, बोल तात तर फार चांगले, पण ...' तर हे 'पण' जेथे आले तेथें सर्वगेले।**

आशय यही है कि मनुष्य पहले स्वयं भला अर्थात् अच्छा बने और फिर दूसरों की भलाई करे। भला बनना भी सरल नहीं है। बड़ा जोर पड़ता है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसमें। अच्छा बनने की सबसे पहली शर्त तो यही है कि मानव अपने में सहन शक्ति पैदा करे। वह कभी यह न भूले कि:—

जैसी परे सो सहि रहे, कहि रहीम यह देह।
धरती ही पर परत सब, शीत घाम अरु मेह॥

कविवर रहीम का कथन है कि पृथ्वी पर सर्दी, गर्मी और वर्षा सभी गिरते हैं किन्तु वह सब जिस प्रकार सहन कर लेती है, उसी प्रकार मनुष्य को भी चाहे जैसी विपत्ति या शारीरिक कष्ट आए उसे पृथ्वी के समान ही सहन करना चाहिये। यह संसार व्यक्ति को अच्छा भी नहीं बनने देता। अगर हम महापुरुषों की जीवनियाँ पढ़ें तो ज्ञात होता है कि साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा उन्हें अधिक कष्ट और उपसर्ग सहन करने पड़ते हैं।

हम लोग अपने पात्र झोली में लेकर चलते हैं तो भी नाना प्रकार के व्यंग बरसाते हैं। कोई कहता है—'इसमें क्या लाए हो? क्या बेचते हो?

हम कहते हैं—'भाई! हम बेचते कुछ नहीं, खाली पात्र हैं हमारे पास।' तो वे पुनः कहते हैं—'संसार चलाना नहीं आया इसलिये साधु बन गए?' इसका क्या जवाब दें, मन में कहते हैं—'भाई, तुम होशियार हो अतः संसार चला सकते हो हमें चलाना नहीं आया इसीलिये तो साधु बने हैं।' कोई कहता है—'मुफ्त में खाने को मिलता है इसलिये साधु बन गये।' यद्यपि उस व्यक्ति के यहाँ हम भिक्षा के लिये नहीं गए और उससे कभी कुछ लिया नहीं, फिर भी वह कहने से नहीं चूकता और हम सुनते हैं। यद्यपि हम जानते हैं कि वह व्यक्ति अगर हमें भिक्षा देता भी तो उससे हमारी एक वक्त की ही पेट-पूर्ति होती किन्तु अगर वह हमारी दी हुई भिक्षा ले ले तो उसकी जन्म-जन्म की भूख मिट सकती है।

पर वह अज्ञान जीव इस बात को कैसे समझता, उस समय तो हमें ही मौन रहना पड़ता है। और तो और समाज में भी ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है। जो व्यक्ति देश के लिये या समाज के लिये कार्य करता है, उसके कार्य में भी लोग नुक्स ही निकालते हैं। की हुई अच्छाई को नहीं देखते। साधु-साध्वी, श्रावक एवं श्राविका सभी ने मिलकर मुझे यह आचार्य पद प्रदान कर दिया किन्तु कार्य करने पर भी मुझे न जाने कितना और क्या-क्या सुनना पड़ता है। किन्तु इससे क्या, सेवा करनी है तो सुननी ही पड़ेंगी।

आगे कहा गया है:—

अमी ने नयन मां राखी, हृदय मां रहम ने राखी।
कहेला कुवचन राखी, भला थइने भलूं कर जो॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कितनी सुन्दर शिक्षा है कि—आँखों में स्नेह का अमृत रखो, हृदय में दया रखो और किसी के द्वारा कहे हुए कुवचनों को कान तक ही रहने दो। तुम तो केवल भले बनो और दूसरों का भला करो।

मनुष्य की आँखें उसके हृदय की तालिका और आत्मा का प्रतिविम्ब होता है। आँखें ही मनुष्य के चरित्र, व्यक्तित्व और उसकी अन्तःप्रवृत्ति का एक मात्र दर्पण हैं। मन के प्रत्येक भाव को आँखों से भलीभाँति जाना जा सकता है। जिस प्रकार आँखों से क्रोध स्पष्ट झलकता है, उसी प्रकार स्नेह भी।

भगवान महावीर की आँखों ने ही उनके अँगूठे में दंश देते हुए चंड-कौशिक सर्प को अपने स्नेह के द्वारा मुग्ध कर लिया था तथा उसे अपने कृत कर्म का पश्चात्ताप करने को बाध्य किया था। आँखों की भाषा तो पशु-पक्षी भी सहज ही पढ़ लेते हैं। अधिक क्या कहें, छोटे-छोटे शिशु भी जान जाते हैं कि उनकी ओर देखनेवाले की दृष्टि में स्नेह है या नहीं। इसीलिये जन-हितैषी पुरुष को अपने नेत्र सदा ही प्रेमामृत से छलकते हुए रखने चाहिये ताकि उसके कार्य का, उसकी बात का तथा उसके आचरण का प्रयत्न लोगों पर शीघ्र और स्थायी रहने वाला पड़े।

दूसरी बात है हृदय में रहम रखने की। रहम के विषय में आप भली-भाँति जानते हैं। जिसके हृदय में रहम या दया होगी वह कभी किसी पर अन्याय और अत्याचार तो करेगा ही नहीं, किसी का बुरा करने की भावना को भी वह अपने अन्दर नहीं पनपने देगा। दयालु व्यक्ति प्रत्येक प्राणी की आत्मा को परमात्मा का ही अंश मानता है। महात्मा कबीर ने भी कहा है—

दया कौन पर कीजिये, का पर निर्दय होय।
सांई के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय॥

अर्थात्—इस संसार में चींटी से लेकर हाथी तक, सभी प्राणी तो उस एक ही परम पिता परमात्मा के अंश हैं। फिर किस पर दया की जाय और किस पर निर्दयी बना जाय ?

आशय यही है कि व्यक्ति के समक्ष महापापी हो या पुण्यात्मा उसे सभी पर समान भाव से दया रखनी चाहिये। आचार्य हरिभद्र सूरि ने बड़ी मर्म-स्पर्शी बात बताई है—

सेयंबरो वा आसंबरो वा बुद्धो वा, तहेव अन्नो वा।
समभाव-भाविअप्पा लहइ मोक्खं न संदेहो॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा है—व्यक्ति चाहे श्वेताम्बर हो, दिगंबर हो, बौद्ध हो या अन्य कोई भी हो, समता से भावित आत्मा ही मोक्ष पा सकती है इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

इस संसार में अनेक धर्म हैं, अनेक पंथ और सम्प्रदाय हैं। सभी मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं और इसके लिये प्रयत्न करते हैं। किन्तु किसी का भी यह कहना कि हमारे धर्म का अवलंबन लेने वाला ही मोक्ष में जा सकता है, वह गलत और भ्रमपूर्ण है। अपने पंथ या संप्रदाय को ही धर्म मान लेने से बढ़कर भूल और कोई नहीं है।

व्यक्ति को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि धर्म केवल आत्मा से संबंध रखता है, दूसरे शब्दों में धर्म आत्मा ही है और पंथ तथा सम्प्रदाय उसके भिन्न-भिन्न कलेवर यानी खोल हैं। खोल कोई भी हो, उससे फर्क नहीं पड़ता, अगर धर्म आत्मा में है या आत्मा धर्ममय है।

आत्मा का धर्म है ऊँचा उठना। और वह अहिंसा, सत्य, संयम तथा तप आदि के द्वारा ही विशुद्ध और पाप-कर्मों के भार से हलकी होकर ऊँची उठ सकती है।

आशय यही है कि धर्म का स्थान केवल आत्मा में है। वह किसी पंथ या सम्प्रदाय रूपी खोल में नहीं रहता या मंदिर, मसजिद, गिरजाघर, गुरु द्वारा या स्थानक में निवास नहीं करता। उसे प्राप्त करने के लिये किसी सम्प्रदाय का खोल चढ़ाने की जरूरत नहीं है और किसी विशेष स्थान पर जाकर मस्तक झुकाने की भी आवश्यकता नहीं है।

बंधुओ, यहाँ मैं आपको विशेष ध्यान से यह जानने को कहता हूँ कि विभिन्न सम्प्रदायों या धर्मस्थानों से मेरा विरोध नहीं है। वे सब साधन हैं और उनका उपयोग करना बुरा नहीं है, बुरा है एक दूसरे की निंदा करना। यह दावा या कदाग्रह करना कि मेरा धर्म ही मुक्ति प्रदान करने वाला है, यह गलत है। क्योंकि धर्म केवल आत्मा है आत्मा में ही रहता है। उसका कोई खोल नहीं है, कोई स्थान नहीं है। आत्मा के अलावा उसे अन्य किसी स्थान पर खोजना मानव की सबसे बड़ी भूल है।

किसी कवि ने अपनी एक कुंडलिया में भी बड़े सुन्दर ढंग से यह बात समझाई है:—

फाँदी तें आकाश को, पठवौ तें पाताल।
दसौ दिशा में तू फिर्‌यौ, ऐसी चंचल चाल॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी चंचल चाल, इतं कबहूँ नहिं आयौ।
बुद्धि सदन को पाय, छिनहूँ नहिं ताहि छुवायौ ॥
देख्यो नहिं निज रूप, कूप अमृत को छांड्यौ।
ऐ रे मन मतिमूढ़ ! क्यों न भव-वारिधि फाँद्यौ ॥

कोई भव्य प्राणी बहुत काल तक बाह्य स्थानों में धर्म, शांति अथवा ईश्वर की खोज में भटकने के पश्चात् जब धर्म के मर्म को समझ लेता है तो अपने मन को ताड़ना देते हुए कहता है—"अरे मूढ़ मन ! तू सच्चे सुख की खोज में आकाश को उलाँघ गया, पाताल में प्रवेश कर गया और अपनी चंचल चाल से दसों दिशाओं में निरर्थक घूमता रहा, किन्तु कभी इधर आत्मा के अन्दर नहीं आया। अपने पास बुद्धि का खजाना होते हुए भी तूने उसका उपयोग करके आत्मा में नहीं झांका। कभी तूने नहीं देखा कि सुख रूपी अमृत का कुआ तो तेरे अन्दर ही हिलोरें ले रहा है। अरे मूर्ख मन ! तूने अब तक इस आत्म-रूप नाव में चढकर भव-सागर को क्यों नहीं पार कर लिया ?

सारांश कवि के कहने का यही है कि अज्ञानी लोग 'बगल में छोरा और शहर में ढिंढोरा।' यह कहावत चरितार्थ करते हैं। यानी ईश्वर को, जो कि आत्मा के अन्दर ही है, वहां न खोजकर उसे पाने के लिए नाना तीर्थों में भटकते हैं किन्तु वहां वह मिलता भी नहीं और वृथा परेशानी होती है। कवि की बात ठीक ही है, क्योंकि जो अन्दर है वह बाहर कैसे प्राप्त हो सकता है ?

तो हमारा विषय गुजराती कविता के आधार पर यह चल रहा था कि नयनों में प्रेम का अमृत, हृदय में रहम और किसी के कहे गए कुवचनों को कानों तक ही सीमित रखकर मनुष्य भला बने और औरों का भला करने का प्रयत्न करे। जो व्यक्ति औरों की भलाई अथवा परोपकार करने की भावना नहीं रखता वह मनुष्य होकर भी मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। परोपकार ही मनुष्य को सदाचारी बनाता है तथा उसे ऊंचा उठाता है।

फारसी भाषा के कवि शेखसादी ने कहा है—

चूं इन्सांरा न बाशद फजलो ऐहसां।
जे फर्कज आदमी ता नक्श दीवार ॥

यदि मनुष्य में भलाई करने की भावना नहीं है तो उसमें और दीवार पर अंकित किए गए चित्र में क्या अन्तर है ?

परोपकार के लिए महापुरुषों ने क्या क्या नहीं किया ? दधीचि ने अपनी हड्डियां दान कर दीं थीं, सोलहवे तीर्थंकर श्री शांतिनाथ जी भगवान के पूर्व

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भव में मेघरथ राजा ने तथा राजा शिबि ने एक कबूतर के लिए अपने शरीर का मांस काट-काट कर तराजू पर रख दिया। हमारा धर्म तो कहता है—अपने दुश्मन का भी तुम उपकार करो, कभी उसका बुरा मत सोचो। अल्प वयस के मुनिगजसुकुमाल के मस्तक पर उनके ससुर सोमिल ब्राह्मण ने धधकते हुए अंगारे रख दिए थे। किन्तु उनके मन में समय मात्र के लिए भी उसके इस कुकृत्य के प्रति दुर्भावना नहीं आई। इसी का परिणाम था कि अल्पक्षणों में ही वे भावों की उत्कृष्टता के कारण सम्पूर्ण कर्मों का नाश करके संसार से मुक्त हो गए।

तात्पर्य यही है कि वही महापुरुष अपना कल्याण कर सकता है, जिसके हृदय में प्राणीमात्र के प्रति प्रेम की भावना हो और जो अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिपल औरों का भला करने का प्रयत्न करे। जो भव्य प्राणी परोपकार की भावना रखते थे, उनका ही इस संसार से उद्धार हुआ है और जो इस भावना को नहीं रख सके वे अब तक यहां भटकते रहते हैं। परोपकार करने की वृत्ति न रहे तो पुण्योपार्जन का कोई साधन मनुष्य के पास नहीं रह जाता।

संस्कृत में कहा गया है—

परोपकारशून्यस्य, धिक् मनुष्यस्य जीवितम्।
धन्यास्ते पशवो येषाम्, चर्माप्य करोति हि।
आत्मार्थं जीवकेऽस्मिन् को न जीवति मानवः?
परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति॥

संस्कृत साहित्य में बताया है कि—जो व्यक्ति परोपकार-शून्य हैं, उनके जीवन के धिक्कार है। उनसे पशु ही अच्छे जिनकी चमड़ी भी पराये काम आती है।

अपने लिए इस जीव लोक में कौन मनुष्य नहीं जीता? किन्तु सच्चे मायने में वही जीता है, जो परोपकार के लिए जीता है। अन्यथा तो व्यक्ति जीवित भी मरे के समान ही है।

वस्तुतः जो व्यक्ति स्वार्थी है और केवल अपना ही भला चाहते हैं ऐसे व्यक्तियों के जीवन से क्या लाभ है? उनसे तो पशु ही अच्छे होते हैं। जो जब तक जीवित रहते हैं सबका उपकार करते हैं। हम देखते ही हैं; गाय दूध देती है जिससे नाना प्रकार की पौष्टिक वस्तुएं बनती हैं और वे मनुष्य के शरीर को पुष्ट बनाती हुई उसे अधिक समय तक विद्यमान रखती है। बैल भी जीवन भर मनों भार ढोकर मनुष्य की कठिनाईयां हल करते हैं और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मरने के बाद भी उनके नाखून, सींग, चमड़ी और हड्डियां सभी काम आते हैं। मांसाहारी व्यक्ति उनके मांस को भी अपने उदरस्थ कर लेते हैं।

इसीलिए इन पशुओं को धन्य कहा है जो कि जीवित रह कर भी परोपकार करते हैं और मरने ने पश्चात् भी उपकार करते हैं। किन्तु मनुष्य जो कि जीवित रहते हुए भी अपना ही भला देखता है और मरने पर भी उसका शरीर किसी काम नहीं आता। ऐसे जीवन से क्या लाभ है ? जीना उसी का सार्थक है जो औरों के लिए जीता है।

गुजराती कविता में आगे बताया गया है—

खिल्या पुष्पो खरीजाशे, जे जन्म्या छे मरी जाशे।
उदय नु अस्त ये न्याये, भला थइने भलूं कर जो॥

इस संसार में सब कुछ नाशमान है। बगीचों में खिले हुए पुष्प सभी गिर कर सूख जायेंगे, जो जीव जन्मे हैं, वे मृत्यु को प्राप्त होंगे,। भाव यही है कि उदय होने पर उसका अस्त निश्चय ही होगा। यही संसार का नियम है।

अतः संसार का मोह त्याग देने में ही सार है। जब तक हमारे शरीर में श्वांस आती जाती है, तभी तक सारे सगे-सम्बन्धी हमें दिखाई देते हैं पर सांस का नाश होते ही ये सब ओझल हो जायेंगे, नजर ही नहीं आएँगे। जिस प्रकार किसी वृक्ष पर रात को विभिन्न स्थानों से आकर हजारों पक्षी बसेरा लेते हैं और प्रातःकाल होते ही उड़ जाते हैं। इसी प्रकार यह जगत भी है जहां थोड़े समय के लिए अनेक जीव आकर सगे-संबंधी बन जाते हैं। और मौत का नगारा बजते ही अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में चले जाते हैं। तो जिस प्रकार वृक्ष पर रात को बसेरा लेने वाले पक्षियों का आपस में नाता जोड़ना निरर्थक है उसी प्रकार मनुष्य को भी थोड़े समय के जीवन में एक दूसरे से ममत्व में बंधना भी निरर्थक है।

कवि सुन्दरदास जी का कथन है—

बालू के मन्दिर माहि, बैठि रह्यो थिर होइ।
राखत है जीवन की आस केउ दिन को॥
पल-पल छीजत घटत जात घरी घरी।
बिनसत बेर कहा खबर न छिन की॥
करत उपाय, झूठे लेन-देन खान-पान।
मूसा इत-उत फिरे ताकि रही मिनकी॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुन्दर कहत मेरी-मेरी करि भूले सठ,
चंचल चपल माया भई किन-किन की ॥

पद्य में कवि ने जीवन और धन, दोनों की अस्थिरता के विषय में बताया है और मनुष्य को चेतावनी दी है—अरे अज्ञानी मनुष्य ! तेरा यह शरीर तो बालू के बने हुए मकान के सदृश है, जो कि हर क्षण छीजता और हर मिनट घटता जाता है। जब से तू इसमें आया है तभी से इसकी नींव तो हिलने लग गई है एक पल या मिनट का भी भरोसा नहीं है कि यह कब गिरकर नष्ट हो जाएगा।'

'किन्तु मुझे तो तेरी बुद्धि पर तरस आता है कि ऐसे अस्थायी मकान में भी तू निःशंक और मस्त होकर बैठा है। इतना ही नहीं, तेरी करतूतों को देखकर भी मुझे तो बड़ा आश्चर्य होता है कि तू यहां भविष्य की तनिक भी फिक्र न करके तरह-तरह के झूठे-सच्चे लेन-देन और खान-पान करता है। क्या तुझे यह पता नहीं है कि यह सब कुकर्म तेरे क्या काम आएँगे ? क्योंकि भले ही तू चूहे के समान लाख इधर-उधर दुबकता फिर किन्तु मौत तो बिल्ली के समान तेरे जन्म लेने के पश्चात् से ही तेरी ताक में बैठी है और मौका देखते ही झपट्टा मारकर दबोच भी लेगी।'

'वह क्षण आते ही तुझे इस घर को, इन बनाए हुए सम्बन्धियों के मोह तथा मेरी-मेरी करके यह जो लक्ष्मी तूने जोड़ी है इसको भी छोड़ने में भी तुझे अपार दुःख होगा। हजार रोने-कलपने पर भी न यह चंचल लक्ष्मी तेरी बनी रह सकेगी और न इस बालू के घर में भी क्षण भर के लिये भी तू रह सकेगा।'

इसलिए भोले प्राणी ! तू इस चंचल लक्ष्मी से मोह छोड़ तथा विषय-भोगों का त्याग कर। ये विषय-भोग तेरे लिये विष के समान हैं। इन्हें भोगते हुए भी तू तृष्णा के कारण दुःखी रहेगा और इनसे वियोग हो जाने पर इनके कारण बंधे हुए कर्मों से दुखी होगा। तेरे लिए तो यही हितकर है कि इस नश्वर घर में जितने समय भी तू टिक पाए, इसका अधिक से अधिक लाभ उठाले। अर्थात् जितने दिन का जीवन है इसमें धर्माचरण करके अपने कर्म-बंधन काट ले तथा जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त होने का प्रयत्न करले ताकि बालू के घर रूपी इस शरीर को छोड़ने का तुझे पश्चात्ताप न हो।

यही बात गुजराती कविता में आगे कही गई है—यानी आने से पहले ही पाल बांधो।'

बात कहुं छूं हजो वहेलो, बांध जो पालनें पेली।
कह्यु हूं संत ना शिष्ये- भला थइने भलूं करजो ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह कविता हमारे कविवर्य नानचंद जी महाराज ने लिखी है जो कि संत शिष्य के नाम से लिखा करते थे। वे कहते हैं—"भाइयो ! मैं बहुत पहले ही आपको यह बताए दे रहा हूं कि बरसात आने से पहले ही पाल बांध लो। यानी मौत आने से पहले ही मौत से सदा के लिए बचने का प्रयत्न कर लो। अन्यथा जिस समय मृत्यु समक्ष होगी, उस समय फिर कुछ भी संभव नहीं होगा। जीवन प्रतिक्षण ह्रास को प्राप्त होता जा रहा है अतः दान, पुण्य, परोपकार, सेवा, त्याग, तपस्या आदि धर्म की जितनी भी आराधना हो सके शीघ्र करलो ताकि अंत में पश्चात्ताप न करना पड़े।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

९ पाप-नाशक तप

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज हमें तपस्या का महत्त्व समझना है। आप संभवतः यह समझते होंगे कि तप को जैनधर्म में ही महत्त्वपूर्ण माना गया है तथा जैन धर्मावलंबी ही एक दिन, दो दिन, दस दिन, पन्द्रह दिन और इससे भी अधिक महीने भर या दो-दो महीने की लम्बी तपस्या करते हैं। पर यह बात नहीं है। जैन धर्म के अलावा वैष्णव तथा मुस्लिम धर्म आदि में भी तप का विधान दिया है और सभी धर्मों को माननेवाले अपने-अपने ढंग से तप करते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि जैनधर्म को माननेवाले निराहार और निर्जल तप उपवास करते हैं, वैष्णव धर्म को मानने वाले फलाहार ग्रहण करते हैं और मुसलमान लोग रोजों के दिनों रात्रि को चन्द्रमा देखकर आहार ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार सभी अपने-अपने तरीके से तप अवश्य करते हैं।

वैष्णव संत तुकाराम जी कहते हैं—

"पंधरावे दिवशी, एक एकादशी,
कां रे न करीशी व्रतसार ?
काय तुझा जीव, जातो एक दिवसे,
फरालाचे पिशे घेशी घड़ी।"

अर्थात् –'पन्द्रह दिन में एक एकादशी आती है तो तू यह एकादशी क्यों नहीं करता है ? क्या एक दिन में तेरा जीव चला जाएगा जो तू एक घड़ी भर फराल यानी फलाहार का सामान लेता है; एकादशी सब व्रतों का सार है अतः इसे अवश्य कर।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैष्णव धर्म में एकादशी को बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है अतः इस दिन व्रत किया जाता है। एकादशी एक वर्ष में चौबीस बार और एक माह में दो बार यानी हर पन्द्रहवें दिन आती है। संभवतः पहले यह निराहार की जाती थी किन्तु कहा जाता है कि एक बार किसी भक्त ने अपने गुरु से कहा—

'भगवन ! मुझे पित्त की शिकायत रहती है अतः मैं किस प्रकार एकादशी करूँ ?

संत ने उससे कहा—'वत्स ! अगर ऐसी बात है तो तू लवंग के ऊपर जो फूल होता है उसे खा लेना, जिससे पित्त का प्रकोप शांत रहेगा।'

बस इसी घटना को लेकर धीरे-धीरे लोग एकादशी के दिन भी भर पेट खाने लगे। अब तो वे यह भी कहते हैं कि प्रतिदिन जो खाते हैं उसको बदल कर खाने से एकादशी हो जाती है। अब तो एक बड़ी मनोरंजक कहावत भी बन गई है—

"दिवस भर चरा पण एकादशी करा।"

कोई कोई यह भी कहते हैं—

"गाढवा सारखे चरा, पण एकादशी करा।"

दोनों का सार यही है कि भले ही गधे के जैसे दिन भर चरो यानी दिन भर खाओ किन्तु एकादशी जरूर करो।

यह बात कुछ व्यक्ति अपने स्वार्थ के कारण कहते हैं, जिनसे भूखा भी नहीं रहा जाता और अपने आपको वे व्रत करने वाला भी साबित करना चाहते हैं।

वास्तव में तो दशमी के दिन एक भुक्त और एकादशी के दिन ग्यारह बातों का आचरण करना और द्वादशी के दिन एकबार खाना चाहिए ऐसा विधान है। एकादशी को उपवास तथा द्वादशी के दिन एकासन करने पर ही एकादशी व्रत पूर्ण माना जाता है। तथा अभी मैंने जो कहावत आपके समक्ष रखी—"दिवस भर चरा, पण एकादशी करा।" इसका भी वास्तविक अर्थ तो यही है कि चौदह दिन खाओ किन्तु पन्द्रहवें दिन एकादशी अवश्य करो। लेकिन लोगों ने एक एकादशी के दिन भी भूखा न रहना पड़े इसलिए कहावत का अर्थ यह निकाल लिया कि एकादशी के दिन ही चाहे जितना और दिन खालो पर एकादशी का नाम अवश्य करो।

अपने स्वार्थ के लिए लोग शब्दों का अपनी इच्छानुसार अर्थ लगाने तथा औरों को भी चक्कर में डालने से नहीं चूकते।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महाभारत के युद्ध में जब पांडव पक्ष के लोगों ने देखा कि द्रोणाचार्य को किसी प्रकार पराजित नहीं किया जा रहा है तो अश्वत्थामा नामक हाथी को मारकर युधिष्ठिर के द्वारा कहलवा दिया—"**अश्वत्थामा हतः**।" अर्थात् अश्वत्थामा मारा गया।

वीर द्रोणाचार्य ने जब धर्मपरायण युधिष्ठिर के मुंह से यह सुना कि अश्वत्थामा मर गया, तो उन्होंने विश्वास कर लिया कि मेरा पुत्र अश्वत्थामा मारा गया। यही पांडव पक्ष के व्यक्ति चाहते थे कि वे अश्वत्थामा नाम से अपने पुत्र का मर जाना ही समझें। परिणाम यह हुआ कि पुत्र-शोक के कारण उनके युद्ध-कौशल में कुछ शिथिलता आ गई और शत्रु पक्ष ने इसका लाभ उठा लिया।

कहने का आशय यही है कि लोग अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर शब्द वही होते हैं, पर उनके अर्थ को अपनी इच्छानुसार मोड़ लेते हैं। यही हाल एकादशी के लिए कही हुई कहावत का भी हुआ है। पर यह हाल आज के युग का है, अन्यथा वैदिक सम्प्रदाय के पुराणों में तो वर्णन है कि ऋषि महर्षियों ने साठ-साठ हजार वर्ष की भी तपस्या की है।

मुसलमान एकादशी या अष्टमी-चतुर्दशी नहीं मानते किन्तु उन्होंने रमज़ान का एक महीना ही निकाल लिया है, जिसमें वे रोजे रखते हैं। रोजे के दिन वे थूक निगलना भी धर्म के विरुद्ध मानते हैं और केवल रात्रि को चांद देखकर खाते हैं। अपने धर्म के अनुसार रात्रि को नहीं खाना चाहिए। किन्तु वे दिनभर न खाकर भी तप करते हैं। वास्तव में, भले ही वह अज्ञान तप है लेकिन तप तो है ही। आखिर दिन भर तो वे निराहार रहते ही हैं।

मेरे कहने का अभिप्राय केवल यही है कि जैन धर्म के अलावा अन्य धर्मों में भी तप का विधान है और तप का उनमें भी बड़ा भारी महत्त्व माना गया है।

बाल्मीकि रामायण में कहा गया है—

अध्रुवे हि शरीरे यो, न करोति तपोऽर्जनम्।
सपश्चात्तप्यते मूढ़ो मृतो गत्वात्मनो गतिम्॥

यह शरीर अध्रुव यानी अशाश्वत है; इसमें रहते हुए भी जो तप नहीं करता वह मूर्ख मरने के बाद जब उसे अपने दुष्कर्मों का फल मिलता है, तब बहुत पश्चाताप करता है।

तो बंधुओ, तप की महिमा महान् है। तप के द्वारा ही मनुष्य अपने इच्छित पद को प्राप्त कर सकता है तथा पापों का नाश करके अपनी आत्मा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को शुद्ध व उचित बना सकता है। जो विवेकी पुरुष तपाचरण करते हैं वे निर्भय होकर परलोक गमन कर सकते हैं, उन्हें अपने भविष्य के लिए तनिक भी चिंतित होने की आवश्यकता नहीं रहती।

हमारा जैनधर्म भी एक माह में बारह व्रत यानी उपवास करने को कहता है। वे दिन है—दूज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी और पक्खी शारीरिक शक्ति हो तो व्यक्ति इन सभी दिनों में उपवास करे नहीं तो अष्टमी और चतुर्दशी करे और ये भी नहीं कर पाए तो केवल चतुर्दशी को ही ब्रह्मचर्य व्रत करे। पर आप तो इन सभीको गोल कर जाते हैं। महीने में एक तो क्या एक वर्ष में एक संवत्सरी के दिन भी उपवास करना नहीं चाहते। आपने भी एक कहावत बना रखी है—

"सबको मौत आती है पर संवत्सरी को नहीं आती।"

आप लोग वैष्णवों से कम थोड़े ही हैं। वणिक हैं, और वणिक-बुद्धि का लोहा तो सारे संसार ने माना है। आप चाहें तो बिना एक अक्षर पढ़े भी बड़े से बड़े विद्वान् को चुटकियों में परास्त कर दें।

तो कहने का अर्थ यही है कि आप तप करना नहीं चाहते और इसलिए अपनी वाक्य-चातुरी से तथा बहानेबाजी से संतों को भी चक्कर में डाल देते हैं। एक संस्कृत का श्लोक है—

यस्य ग्लानिभयेन नोपशमनम्, नायम्बिलम् सेवितम्।
नो सामायिकमात्मशुद्धि जनकम्, नैकासनम् शुद्धितः॥
स्वादिष्टाशनपानयान विभवैर्नैवतं दिवं पोषितम्।
हा नष्टं तदपि क्षणेन जरया, मृत्या शरीरं रुजा॥

कहते हैं—जिसने ग्लानि के भय से कभी उपवास नहीं किया, आयम्बिल नहीं किया, आत्म-शुद्धि के लिए सामायिक नहीं की तथा एकासन भी नहीं कर सका, केवल स्वादिष्ट भोजन-पान के द्वारा शरीर को पुष्ट किया और भोगोपभोगों से इन्द्रियों को तृप्त किया। हाय! उसका शरीर भी तो वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु के द्वारा नष्ट होगा।

श्लोक कितना मर्मस्पर्शी है? यद्यपि हमारा धर्म त्याग और तपस्या पर बल देता है तथा उपवास, आयम्बिल, एकासन तथा सामायिक आदि करके आत्म-शुद्धि करने की प्रेरणा देता है। किन्तु व्यक्ति अपने सुन्दर पुष्ट एवं शक्तिशाली शरीर को तनिक भी कष्ट न देने के कारण यह सब नहीं करता।

वह कहता है—'उपवास करने से मेरा शरीर कृश होगा, चक्कर आएँगे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ओर कहीं पित्त बढ़ जाने से उल्टियां हो गईं तो ग्लानि पैदा होगी अतः मैं उपवास नहीं कर सकता।'

इस स्थिति में धर्म दूसरा मार्ग बताता है—भाई ! उपवास नहीं कर सकते तो आयम्बिल कर लो। रूखा-सूखा ही सही तुम्हारे पेट में जाएगा और तुम्हें क्षुधा भी अधिक नहीं सताएगी। किन्तु उत्तर नकारात्मक ही होता है—'रूखा-सूखा भी खाया जाता है क्या ? जिस प्रकार जानवर स्वादहीन घास खाते हैं, क्या मनुष्य भी उसी प्रकार मसाला, मिर्च, नमक और घी आदि से रहित कोरा धान खाए ? यह तो संभव नहीं है।'

ऐसे व्यक्तियों के लिये फिर तीसरी राह भी निकाली जाती है एकासन कर लेने की। कहा जाता है—आयम्बिल करके रूखा-सूखा नहीं खाया जाता तो ठीक है स्वादिष्ट भोजन कर लो पर दिन में एक बार ही खाना !'

पर बन्धुओ, मैंने कहा है न कि आप लोग वणिक हैं और हमें भी चक्कर में डाल देते हैं। यह सही नहीं है क्या ? आप कहेंगे सही किस प्रकार ? वह इस प्रकार कि हमारे पास तो आप एकासन का पच्चक्खाण करके जाते हैं पर घर जाकर एकासन के नाम पर कितनेक लोग पहले तो स्वादिष्ट भोजन खूब डटकर करते हैं और फिर वहीं आनन्द और आराम से लेट जाते हैं तथा एकाध नींद निकालकर 'फिर बैठते हैं और पुनः खा लेते हैं। अगर हम पूछ लेते हैं कि भाई ! यह क्या किया तुमने ? तो उत्तर मिलता है—'महाराज ! हम उठे थोड़े ही थे, एक एक ही आसन तो बैठे और लेटे थे।'

अब बताइये, आपने हमें भी चक्कर में डाला या नहीं ? एकासन का क्या अर्थ लिया आपने ? एकासन से यह अर्थ लेना होता है कि बिछाए हुए उसी आसन पर बैठे-बैठे आप दिन भर में चाहे जितनी बार खा लो। वरन् एकासन का सही अर्थ है—'एक-असन', एक बार भोजन करना। पर आप तो हमारे भी आगे हो गए हमीं को भुलावे में डाल दिया।

अब श्लोक की अगली बात है—सामायिक करना। जब सन्त आपसे हार जाते हैं तो कह देते हैं भाई लोगो ! जब आपसे उपवास, आयम्बिल, और एकासन आदि कुछ भी नहीं होता तो चलो, सामायिक करो ! वही सही। पर आप कहां पकड़ में आने वाले हैं ? कह देते हैं—"घंटे भर तक एक स्थान पर बैठे रहना तो भी मुश्किल है।" फिर तो हमारी बुद्धि भी हार खा जाती है यह विचार करने में कि आखिर आपके लिए सरल क्या है ? आप माला नहीं फेर सकते क्योंकि भूल जाते हैं, आप नमोकार भी नहीं कर सकते क्योंकि 'बैड टी' लिये बिना आपसे बिस्तर पर से उठा नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाता, स्वाध्याय नहीं कर सकते क्योंकि समय नहीं मिलता, और पौषध को तो करेंगे भी कैसे, क्योंकि 'डनलप' के गद्दों पर सोने वाले जमीन पर कैसे पड़े रहें, शरीर अकड़ जाता है और जमीन चुभती है जो अलग।

पर बंधुओ, याद रखो कि इस शरीर को आप कितना भी आराम से रक्खें, चाहे दस कदम भी चलकर इसे न थकाएँ और मोटर-गाड़ियों में घूमें, जरा भी भूखा न रखकर बादाम, पिस्तों से बड़ी पौष्टिक वस्तुएँ खिलाएँ तथा अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को तृप्त रखते हुए उन्हें सुखी रखने का प्रयत्न करें किन्तु फिर भी रोग, जरा और मृत्यु का आक्रमण होते ही किसी दिन क्षणमात्र से ही यह आपको धोखा देकर निष्क्रिय हो जाएगा। आपकी जीवन भर की हुई सार-सम्भाल का यह पल भर के लिये भी लिहाज नहीं करेगा। यह आपके साथ नहीं चलेगा और न ही कुछ सुविधा आपके लिये करेगा। केवल आपके मनोरथों पर तुषारापात करके जरा, रोग या मृत्यु किसी का भी बहाना लेकर ढेर हो जाएगा।

कोई अगर भाग्यशाली हुआ तो वृद्धावस्था में भी उसका शरीर ठीक रहेगा पर अंत में रोग उसके शरीर को नष्ट करेगा। और पुण्य ने अधिक जोर मारा तो वह वृद्धावस्था में भी रोगों से बचा रहेगा किन्तु फिर भी मृत्यु से तो नहीं ही बचेगा। अचानक ही दिल की धड़कन बंद हुई अर्थात् 'हार्ट-फेल' हुआ और जिन्दगी समाप्त। अंत समय में केवल पश्चात्ताप ही बाकी रहता है।

मृत्यु के कगार पर खड़े किसी ऐसे ही व्यक्ति ने बड़े अफसोस के साथ कहा है—

जो जन्मे हम संग, उतौ सब स्वर्ग सिधारे।
जो खेले हम संग, काल तिनहूं कहं मारे॥
हमहूँ जरजर देह निकट ही दीसत मरिबो।
जैसे सरिता तीर वृक्ष को तुच्छ उखरिबो॥
अजहूँ नहिं छाँड़त मोह मन, उमग उमग उरझौ रहत।
एसे अचेत के संग सों, न्याय जगत को दुख सहत॥

महायात्रा का यात्री क्या कह रहा है? यही कि मेरे साथ जिन्होंने जन्म लिया था वे सब स्वर्ग चले गए और जो मेरे साथ खेल-कूदकर बड़े हुए हैं उन्हें भी काल मारे डाल रहा है। इधर मैं हूँ, पर मेरी देह भी इतनी जर्जर हो गई है कि अब मृत्यु समीप ही दिखाई दे रही है। जिस प्रकार नदी के किनारे पर ऊगे हुए वृक्षों की जड़ों से मिट्टी बह जाती है और वृक्ष उखड़ने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को हो जाता है, इसीप्रकार मेरे जीवन के दिन भी एक-एक करके खिसक गए हैं और यह शरीर रूपी वृक्ष अब गिर पड़ने को ही है।

किन्तु फिर भी मेरा यह मूढ़ मन मोह का त्याग नहीं करता और अभी तक भी सांसारिक पदार्थों में उमंग पूर्वक उलझा रहना चाहता है। ऐसे मूर्ख के साथ से ही मेरी आत्मा को संसार में भटकना पड़ रहा है और पुनः पुनः जन्म-मरण के कष्टों को सहना पड़ रहा है।

तो बंधुओ, यह शरीर तो एक दिन अवश्य जाएगा, चाहे हम इसे फूलों से तोलते हुए यानी रात दिन इसकी सेवासुश्रुषा करते हुए सुकुमार बनाए रखें अथवा व्रत, उपवास और कठिन संयम-साधना करके इसे कृश बना डालें। फर्क यही है कि इसके आराम का जितना ख्याल रखा जाएगा तथा इसकी सुख-सुविधाएँ जुटाने के लिये जितना पाप कमाया जाएगा वह परलोक में हमें नाना कष्ट सहन करने का कारण बनेगा। और यदि व्रत, प्रत्याख्यान तप तथा साधना आदि में इसे सहायक बनाकर इससे काम लिया जाएगा तो पूर्व कर्मों की निर्जरा होगी और नवीन कर्मों का बंध नहीं होगा। तपश्चर्या करने से आत्मशुद्धि होती है और आत्मशुद्धि होने पर कर्मों का क्षय हो जाता है। जब कर्म पूरी तरह नष्ट हो जाते हैं तो आत्मा संसार मुक्त हो जाती है। किसी कवि ने कहा भी है :—

तप करना ही मुक्ति का जाना है।
या तो आम खुद पके दूजे जरिये पाल,
या तो कर्म रस दे झड़े या तप से देवै गाल।
जिसके बारे प्रकार बयाना है।
तप करना ही मुक्ति का जाना है।

पद्य की भाषा अत्यन्त सरल और सीधी है किन्तु इसमें बताई हुई बातें बड़ी गंभीर और सार-गर्भित हैं। कवि का कथन है—तप करना ही मुक्ति का जाना है। वह किस प्रकार ?

मुक्ति के चार सोपान माने गए हैं—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र एवं सम्यक् तप। ज्ञान से वस्तुस्थिति समझ में आती है तथा दर्शन से उसे गहराई तक जान लिया जाता है। और चारित्र के द्वारा ज्ञान को जीवन में उतारा जाता है अर्थात् क्रियान्वित किया जाता है।

अब ध्यान से समझने की आवश्यकता है। वह यह कि चारित्र नये पाप कर्मों का बंधन नहीं होने देता क्योंकि व्रत ग्रहण करने और संयम लेने के पश्चात् कर्मों का आगमन रुक जाता है। तो चारित्र ने नए कर्मों को आने से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो रोक दिया किन्तु पहले के बंधे हुए कर्मों का नाश कैसे हो ? उसके लिये तप ही एकमात्र साधन है।

आप विचार करेंगे कि जब संयम ग्रहण कर लिया और चारित्र्य में भी दृढ़ता आ गई तो फिर कर्मों का क्या काम ? पर नहीं, अभी मैंने बताया है कि चारित्र की दृढ़ता से नवीन कर्म नहीं बँधते किन्तु पहले के बंधे हुए कर्मों का इलाज होना तो जरूरी है। और वह इलाज है कर्मों का भुगतान या उनका नाश।

एक उदाहरण से विषय और भी स्पष्ट हो जाएगा। जैसे एक निर्धन व्यक्ति ने किसी से दो रुपये उधार लिये। उन्हें वह चुका नहीं पाया या चुकाना भूल गया। कुछ समय पश्चात् सौभाग्य के उदय से लक्ष्मी की उस पर कृपा हुई और वह धीरे-धीरे लक्षाधीश बन गया। अब जब वह लक्षाधीश बन गया तो स्पष्ट है कि उसे अब नवीन कर्ज किसी से लेना नहीं पड़ेगा। किन्तु लक्षाधीश होने से पूर्व उसने जो दो रुपये किसी से उधार लिये थे, वे उसके देने पर ही चुकेंगे न ? उसकी तिजोरी में भले ही लाखों रुपये पड़े रहें पर लिये हुए दो रुपये तो देने पर ही चुकेंगे।

इसी प्रकार चारित्र ग्रहण करने पर व्यक्ति भले ही नवीन कर्मों का आगमन रोक ले या शुभकर्मों का बंध कर ले किन्तु इससे पहले जो कर्म उसने बाँधे थे वे तो उस निर्धन व्यक्ति के उधार लिये हुए दो रुपयों को चुकाने के समान ही चुकाने पड़ेंगे। और इनको सामप्त करने के दो तरीके हैं एक तो उन्हें भुगत कर समाप्त करना, दूसरे इनको क्षीण कर देना या नष्ट कर देना।

तो बाँधे हुए कर्मों को क्षीण करने का उपाय है तप। कवि ने एक सुन्दर दृष्टान्त अपने पद्य में दिया है—"या तो आम खुद पके या दूजे जरिये पाल।"

यानी आम दो तरह से पकता है। एक तो वह वृक्ष पर लगा हुआ अपना समय आने पर स्वयं ही पक जाता है, दूसरे लोग उसे जल्दी पकाने के लिये तोड़कर घास में दबा देते हैं और वह समय से पहले ही पक जाता है। यही हाल कर्मों का है जिनके लिये कवि ने कहा है—

"या तो कर्म रस दे झड़े या तप से देवे गाल।"

अर्थात्—या तो कर्म रस देकर झड़ते है यानी आत्मा नरक आदि हीन गति में जन्म लेकर वहाँ अपने समय पर इनका भुगतान करती है। यानी कर्मों के फल को भोगकर उन्हें समाप्त करती है और नहीं तो तपश्चर्या के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा इनके भोगने का समय आने से पहले ही इन्हें क्षीण कर दिया जाता है। अर्थ यही है कि तप करने से पूर्व कर्म क्षीण हो जाते हैं, टूट जाते हैं या विसर्जित हो जाते हैं।

तो बंधुओ, आप तप का महत्व समझ गये होंगे कि किस प्रकार पूर्वकृत कर्मों को अतिशीघ्र ही केवल तप के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। अगर जीवन में तपाचरण न किया जाय तो न जाने कितने जन्मों तक आत्मा को कर्मों का फल भोगना पड़ता है जबकि तप के द्वारा वह इसी जन्म में संपूर्ण कर्मों का क्षय भी कर सकता है।

इसीलिये मेरा कहना है कि जब हमें मानव शरीर मिला है, कर्मों के कारणों को जान लेने की शक्ति मिली है तथा उनके नाश के उपायों को समझ लेने की बुद्धि भी मिल गई है तो फिर क्यों न इस अमूल्य अवसर का लाभ उठाया जाय ? शरीर तो एक दिन नष्ट होना ही है अतः इसका सबसे अच्छा उपयोग यही है कि इसके द्वारा अधिक से अधिक तपाचरण किया जाय ताकि इसका मिलना सार्थक हो सके।

सारांश यही है कि तप के अभाव में पूर्व-कृत कर्मों की निर्जरा बिना उन्हें भोगे होना कठिन है अतः तपश्चरण करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। तप वह अग्नि है जिसमें अनेकानेक पाप तिनके के समान भस्म हो जाते हैं। शास्त्रों में कहा गया है—

जह खलु मइलं वत्थं, सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेण, सुज्झए कम्ममट्ठविहं॥

—आचारांग निर्युक्ति २८२

जिस प्रकार जल आदि शोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी शुद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक तपःसाधना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्ममल से मुक्त हो जाता है।

स्पष्ट है कि व्यक्ति कितना भी विद्वान और शास्त्रों का जानकार क्यों न हो अगर वह तप नहीं करता तो उसका संसार मुक्त होना असंभव है—

निउणो वि जीव पोओ, तव संजम मारुअ विहूणो।

शास्त्र ज्ञान में कुशल साधक भी तप, संयम रूप पवन के बिना संसार-सागर को तैर नहीं सकता।

तो बंधुओ, तप करना आत्म-कल्याण के लिये आवश्यक है अतः जिससे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जितना बन सके उतना ही सही पर तप करना अवश्य चाहिये। तप बारह प्रकार का होता है, जिनमें से छः आभ्यंतर और छः बाह्य तप कहलाते हैं।

अनशन, उनोदरी, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, कायक्लेश एवं प्रति संलीनता ये बाह्य तप हैं तथा—

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये आभ्यंतर तप होते हैं।

इनके विषय में विस्तृत रूप से अवसर होने पर बताया जाएगा। आज तो आपको जो कुछ बताया गया है इसी पर अमल करने का प्रयत्न करें तो भी आत्म-विकास की ओर बढ़ सकेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१०

तुलसी ऊधंवर के भये, ज्यों बँधूर के पान

धर्म प्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आप और हम सभी जानते हैं कि मानव-जीवन जीव को बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। इस संसार में असंख्य जीव ऐसे दिखाई देते हैं जिनके केवल शरीर है। नाक, कान या आँखें कुछ भी नहीं हैं। आप कहेंगे, ऐसे कौन से जीव हैं जिनके वे सब नहीं हैं ? वे हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। इन पाँच स्थावरों के सिर्फ शरीर है। बाकी इन्द्रियाँ नही हैं अतः ये एकेन्द्रिय कहलाते हैं।

एकेन्द्रिय से दो इन्द्रिय में जाने के लिये जीव को दुगुनी पुण्यवानी चाहिये। जैसे, एक रुपये पर एक रुपये का नफा होना। पर ऐसा कहाँ होता है ? आप लोग व्यापारी हैं और जानते हैं कि रुपये पर दो पैसा, चार पैसा नफा भी मुश्किल से मिलता है। इसी प्रकार पुण्यों का संचय भी बड़ी कठिनाई से होता है पर जब होता है तभी जीव एकेन्द्रिय शरीर छोड़कर दो इन्द्रियवाली देह प्राप्त करता है। दो इन्द्रियाँ प्राप्त होने पर शरीर के साथ वाणी भी मिली। पर उस शरीर से क्या बनता है जिसके नाक-आँख कुछ भी नहीं हो।

तो शरीर और जीभ इन दो इन्द्रियों के बाद तीन इन्द्रियों वाला शरीर मिल सकता है, पर अनन्त पुण्यवानी प्राप्त होने के पश्चात्। जब वह हुई तो नाक बढ़ गई यानी तीन इन्द्रियाँ मिलीं।

उसके बाद और भी अनन्त पुण्य बढ़ा तो आँखें मिलीं तथा उसके पश्चात् फिर अनन्त पुण्योपार्जन किया तो कान भी शरीर को हासिल हुए। किन्तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शरीर फिर भी अपूर्ण रहा और पुनः अनन्त पुण्यों के उदय से पाँचों इन्द्रियों वाला शरीर मिल सका।

गम्भीरता से विचार कीजिये कि एक-एक इन्द्रिय प्राप्त करने के लिये अनन्त-अनन्त पुण्यों की वृद्धि करनी पड़ती है और तब पंचेन्द्रिय शरीर जीव को मिलता है। किन्तु अनन्तानन्त पुण्यों का उपार्जन करके पंचेन्द्रिय शरीर प्राप्त कर लेने पर भी अभी शरीर में महान कमी रह गई। वह कमी क्या है? यह आप गाय, भैंस, घोड़ा व बकरी आदि पशुओं को देखकर अन्दाज लगा सकते हैं कि उनमें मन नहीं है। पंचेन्द्रिय जीवों में भी सन्नी और असन्नी दो प्रकार होते है। जिनमें मन नहीं होता वे असन्नी और मनवाले सन्नी कहलाते हैं।

तो पंचेन्द्रिय शरीर प्राप्त हुआ किन्तु मन नहीं मिला तो पशुवत् जीवन-यापन करना पड़ा। और जब पुनः अनन्त पुण्यवानी ने जोर मारा तो फिर हम सन्नी पंचेन्द्रिय यानी मनुष्य के रूप में आए। अब आप स्वयं ही विचार कर लो कि एक-एक इन्द्रिय और उसके पश्चात् मन भी पाने के लिये अनन्त-अनन्त पुण्यवानी को जोड़ते जाँय तो कितने पुण्य कर्मों का संचय चाहिये?

और उसके बाद भी मन सहित यह मनुष्य शरीर पा लिया और अनार्य क्षेत्र, हीन जाति तथा निकृष्ट कुल मिल गया तो यह मानव-शरीर पाकर भी हम क्या कर सकते हैं? अतः यह सब प्राप्त करने के लिये भी अनन्त पुण्य की फिर आवश्यकता पड़ गई। और तब हमें उच्च कुल, उच्चजाति, आर्य क्षेत्र मिला तथा संत-समागम प्राप्त हो सका।

यह सब कल्पनातीत पुण्यों के संयोग से ही प्राप्त हो सका है अन्यथा आप उच्चकुल में जन्म लेकर और उस पर भी आज इस स्थान पर कैसे बैठे हुए होते? आज ऐसे-ऐसे भी क्षेत्र हैं, जहाँ पर साधु-साध्वियों का आना जाना कभी नहीं होता और ऐसी स्थिति में आत्म-साधन तथा परमार्थ चिंतन तो हो ही कैसे सकता है। बिना सत्संग किये तथा शास्त्रों का श्रवण किये आप कैसे जान सकते हैं कि आत्म-तत्व का क्या रहस्य है और उसके उद्धार के लिये आपको क्या-क्या करना चाहिये, कैसे बोलना, कैसे चलना, कैसे रहना और कैसे खाना चाहिये—

आप सोचेंगे कि यह सब तो प्राणी स्वयं ही कर लेता है इसमें जानना और सीखना कैसा? पर यह बात नहीं है। खाना, पीना, सोना तथा बैठना तो पशु भी कर लेते हैं और अज्ञानी मनुष्य भी करते हैं। किन्तु जिस भव्य प्राणी को अपने मानव-जीवन का सदुपयोग करना है, तथा इसकी सहायता से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपना आत्म-कल्याण करना है उसकी ये सभी क्रियाएँ अनेक विशेषताएँ लिये हुए होती हैं। और ये सब विशेषताएँ केवल संतों की संगति से और उनके उपदेश-श्रवण से ही जीवन में उतर सकती हैं। सत्संगति से ही मनुष्य हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् छोड़ने योग्य क्या है ? जानने योग्य क्या है और ग्रहण करने योग्य क्या है ? इसे समझ सकता है।

महात्मा कबीर ने कहा है—

'संतन के संग लाग रे, तेरी अच्छी बनेगी।'

स्पष्ट है कि मनुष्य जैसे व्यक्तियों की संगति करेगा वैसा ही बन जाएगा। चोर-डाकू की संगति करेगा तो निश्चय ही चोरी करना सीखेगा और अगर साधु-पुरुषों के सहवास में रहेगा तो उसका जीवन त्याग, तपस्या एवं संयम की ओर बढ़ेगा साधु को न आपके धन की परवाह है और न विषय-भोगों की चाह। उनका लक्ष्य सांसारिक पदार्थों से ममत्व हटाते हुए केवल आत्मा को कर्म-बंधनों से मुक्त करना होता है। इसीलिये वे व्रत और नियम ग्रहण करते हैं, तप करते हैं तथा अधिक से अधिक एकान्त में रहकर परमार्थ चिंतन करते हैं।

भजन में भंग न पड़ जाए···।

कहते हैं कि एक नगर के बाहर वन में दो महान् त्यागी महात्मा रहते थे। उनके त्याग और तपस्या की ख्याति दूर-दूर तक पहुँच गई थी। अतः नगर के राजा ने उनके दर्शन करने की इच्छा की और अपने परिवार को लेकर वन में पहुँचा।

जब महात्माओं ने सुना कि राजा उनके दर्शन करने आ रहे है तो वे विचार करने लगे—"यह तो बहुत बुरी बात है आज राजा आया और कल पूरा शहर आएगा। भीड़-भाड़ के कारण फिर हम भजन कब करेंगे ?"

सोच-विचार कर उन्होंने अपने भजन में भंग न होने देने के लिये एक उपाय खोज निकाला। जब राजा उनकी कुटिया के पास आ गया तो उन्होंने आपस में झगड़ना प्रारम्भ कर दिया। एक बोला—'तूने मेरी रोटी क्यों खाई ?' दूसरे ने उत्तर दिया—'तू भी तो कल मेरी रोटी चुराकर खा गया था।'

राजा ने जब यह हाल देखा तो उसे संतों से नफरत हो गई कि ये तो एक-एक रोटी के लिये झगड़ रहे हैं। वह उलटे पाँव अपने परिवार सहित महल को चल दिया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार संतों ने स्वयं बदनाम होकर भी अपने ईश-चिंतन के समय को व्यर्थ जाने से बचा लिया।

क्या आज सभी लोग ऐसा कर सकते हैं ? नहीं, उन्हें तो परमात्मा को याद करने का समय ही नहीं रहता। भले ही उनका अमूल्य समय सिनेमा देखने में, सैर-सपाटे करने में, ताश खेलने में या गप्पों में चला जाय, इसकी परवाह नहीं किन्तु अगर उनके समक्ष आत्म-चिंतन, शास्त्र-श्रवण या सामायिक प्रतिक्रमण का नाम ले दिया तो सीधा कहते हैं—'महाराज, हमें तो मरने की भी फुरसत नहीं मिलती।' पर सभी एक सरीखे नहीं होते। कुछ ऐसे भी होते हैं जो संसार के गोरखधंधे में से निकल नहीं पाते किन्तु पश्चात्ताप करते हुए कहते हैं:—

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रु जलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कमंकेशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीड़ा-कानन केलि-कौतुकजुषामायुः परिक्षीयते॥

वे धन्य हैं जो पर्वतों की गुफाओं में रहते हैं और परम ब्रह्म की ज्योति का ध्यान करते हैं। जिनके भक्तिरसपूर्ण आनन्दाश्रुओं को उनकी गोद में बैठे हुए पक्षी निर्भयतापूर्वक पीते हैं। हमारा जीवन तो मनोरथों की बावड़ी के किनारे के क्रीड़ा-स्थान में लीलायें करते हुए ही व्यर्थ बीत रहा है।

तो मैं आपको यह कह रहा था कि सच्चे संत दुनिया के प्रपंचों से दूर रहकर अधिक से अधिक परमार्थ चिंतन में रत रहते हैं तथा समस्त भौतिक ऐश्वर्य से मुंह मोड़कर मात्र शरीर को चलाने लायक रूखा-सूखा अन्न उसे प्रदान करते हैं वह भी इसलिए कि शरीर के द्वारा ही तप किया जाता है तथा शरीर के द्वारा ही अन्य सभी शुभ क्रियायें की जाती हैं। तप रूपी अग्नि पर शरीररूपी पात्र रखे बिना आत्मरूपी मक्खन को शुद्ध नहीं किया जा सकता। बस ! यही स्वार्थ इस शरीर से उनका रहता है और इसीलिये वे शरीर टिकाये रहते हैं।

ऐसे संत ही संसार के सामने आदर्श-रूप बनते हैं तथा अज्ञानी मनुष्यों को सदुपदेश देकर गुणानुरागी बनाते हैं। अगर व्यक्ति गुणानुरागी नहीं होते तो उसके मानस में सद्गुणों का समावेश और संचय नहीं हो सकता और ऐसे व्यक्ति इस पृथ्वी पर केवल भारभूत होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुछ दिन पहले मैंने आपको भर्तृहरि का एक श्लोक सुनाया था—

येषाम् न विद्या न तपो न दानम्
ज्ञानम् न शीलम् न गुणो न धर्मः
ते मृत्युलोके भुविभारभूताः
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ।।

यानी, जिस व्यक्ति में विद्या, तप, दान, दया, शील आदि सद्गुण नहीं होते वह मनुष्य इस धरती पर भार-भूत होता है जैसे कि वन में चरने वाले मृग।

उस दिन मैंने यह श्लोक आपके समक्ष रखा था और साथ ही पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषि जी म० द्वारा रचित काव्यों के आधार पर यह भी बताया था कि मृग ने स्वयं को निर्गुणी व्यक्ति की तुलना में अपने अनेक गुण बताते हुए इसके समकक्ष होने से इन्कार कर दिया था। तो कवियों ने मृग के स्थान पर पहले गाय और फिर कुत्ते को रखना चाहा। किन्तु हाल वही हुआ। यानी गाय और कुत्ते ने भी अपने अनेक और उत्तम गुण बताए तथा निर्गुणी पुरुष के लिए अपनी उपमा दिये जाने से इन्कार कर दिया।

किन्तु आज हम पुनः इस विषय को ले रहे हैं क्योंकि कवि भी पीछा नहीं छोड़ते। वे कहते हैं कि आखिर कोई प्राणी या कोई न कोई वस्तु तो उसके समान गुणहीन होगी ही। ऐसा निश्चय करके के वे श्लोक की अंतिम पंक्ति में सुधार करते हुए कहते हैं—

'मनुष्य रूपेण खराश्चरन्ति।'

अर्थात् निर्गुणी, मनुष्य के रूप में गधे के समान हैं।

किन्तु यह बात गधे को भी पसन्द नहीं आई। और उसने क्या उत्तर दिया यह श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज बताते हैं:—

कहत गर्दभ शीत ताप खमू डील पर,
गुणी गुणी भार लाऊँ लगड़े से भारी है।
मल को सो घूंटी देवें, काम आवे औषधि में,
मिट्टी में मिलावे जल होवे एक तारी है।
शकुन सुलभ कहूँ, तुरत ही परगट,
और जो करूँ मैं मोक्ष मानन लिगारी है।
और भी अनेक गुण मोय में नराधिपति,
निगुणी की उपमा न लागत हमारी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गधा कह रहा है—"हे नरश्रेष्ठ ! आप मुझे चाहे बुद्धिहीन कह लें पर गुणहीन न कहें। गुणहीन के लिये तो मेरी उपमा कदापि नहीं दी जा सकती क्योंकि मुझमें तो कई गुण हैं।"

"सर्वप्रथम तो मेरी यह विशेषता है कि मैं असह्य शीत, ग्रीष्म और वर्षा सभी को सहन करता हूँ। काम करता हूँ तब भी इन्हें सहन करना पड़ता है और घर पर बँधा रहता हूँ तब भी। कोई भी मेरा मालिक मुझे सर्दी गर्मी से बचाने के लिये किसी तरह का साधन करने की परवाह नहीं करता। क्या निर्गुणी इतना सहनशील होता है ? गुण भले ही उसमें नहीं होंगे पर सर्दी, गर्मी आदि से बचाव तो वह करेगा ही उसमें सहन शक्ति मेरे जैसी नहीं होती।"

"दूसरे, मेरे जितना बोझा क्या निर्गुणी ढो सकता है ? मैं दिन भर अपनी पीठ पर पड़ी हुई गोनी में भर-भरकर मिट्टी, बालू रेत या कंकर ढोता हूँ। कितना भारी होता है यह सब ? फिर भी अपने मालिक की सहायता करने के लिये अपनी शक्ति से अधिक बोझ भी निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचाकर ही दम लेता हूँ।"

"तीसरी बात यह है कि मेरा मल एक तो औषधि के काम आता है। उसकी घूंटी देने से शरीर की कई बीमारियाँ नष्ट हो जाती हैं। और कच्चे घरों की दीवालों और जमीनों को छापने के लिये भी उसे मिट्टी में मिलाते हैं जिससे मिट्टी बड़ी मजबूत हो जाती है तथा चूने को भी मात करती है।"

"मेरा चौथा गुण यह है कि मैं परदेश जाने वाले को अच्छा शकुन बताता हूँ। आप लोग कहते ही हैं कि किसी दूसरे गाँव जाने पर अगर दाहिनी तरफ गर्दभ बोले तो शुभ होता है यानी जिस कार्य के लिये यात्रा की जाती है वह सफल होती है। इस प्रकार किसी कार्य के होने और न होने की सूचना मैं तुरन्त दे देता हूँ। अर्थात्—मैं दाहिने या बाँयें बोलकर बता देता हूँ कि आपके निर्धारित कार्य में लाभ होगा या हानि। पर गुणहीन के बोलने से क्या लाभ है ? वह चाहे जितना बोलता रहे कोई उसकी परवाह नहीं करता।"

"और इन सबके अलावा भी मेरा एक बड़ा भारी गुण है कि मैं अपने इतने परिश्रम का और अपने गुणों का कभी रंच मात्र भी घमंड नही करता। मेरा मालिक मेरे खाने पीने की भी परवाह अधिक नहीं करता, घास फूस भी कभी लाकर नहीं देता। छोड़ देता है कि खालो, जो मिले, पर मैं उसके लिये भी क्रोध नहीं करता। अपनी स्थिति से पूर्ण संतुष्ट रहता हूँ।

इस प्रकार भाई ! मुझमें तो अनेक गुण हैं जो कि निर्गुणी व्यक्ति में नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होते, फिर क्यों मुझे उसकी श्रेणी में रखते हो ? वह कभी भी मेरी तुलना नहीं कर सकता।

तो बंधुओ, गधे ने भी निर्गुणी की तुलना में अपने आपको रखने से इन्कार कर दिया। तब फिर कवियों ने उसे तृण की उपमा देना चाहा और भर्तृहरि के श्लोक में फिर परिवर्तन किया जिन मनुष्यों में विद्या, तप, दान, ज्ञान तथा शील आदि गुण नहीं है वे—

'मनुष्य रूपेण तृणानि सन्ति।'

अर्थात्—वे निर्गुणी व्यक्ति मनुष्य के रूप में तृण के समान हैं।

पर अब देखिये तृण क्या कहता है ?

कहत तरणा तब गाय को आहार हूँ मैं,
होत है अधिक क्षीर सो तो खीर म्हारी है।
वर्षा ऋतु मांहि शोभा, होत है जंगल बीच,
छावत छप्पर घर चूवे न लगारी है।
शीतकाल बिछावे तो होत है गरम अंग,
ताप किया तत्काल शीत होत न्यारी है।
और भी अनेक गुण, मोय में नराधिपत,
निगुणी की उपमा न लागत हमारी है।

कितनी विलक्षण बात है कि जब निर्गुणी को तृण की उपमा दी गई तो वह भी कविवर पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज को पसन्द नहीं आई और उन्होंने तृण का पक्ष लेकर उत्तर दिया कि यह भी सही नहीं है। तृण गुणहीन नहीं, वह कहता है—

"मैं तो पशुओं का आहार हूँ। घोड़े, बैल, गधे आदि सब मुझे खाकर ही दिनरात मनुष्यों का काम करते हैं और गाय मुझे ही उदरस्थ करके आपको अधिक दूध देती है जिससे आप मिठाइयाँ बनाते हैं तथा भोजन की सबसे मधुर वस्तु खीर भी बनाते हैं। यह मेरे कारण ही तो। अगर मैं न होऊँ तो गाय खायेगी क्या ? आप सब जानते ही हैं कि अकाल पड़ने पर जब मैं पैदा नहीं होता तो पशु कृशकाय हो जाते हैं और मर भी जाते हैं।"

"दूसरे जब वर्षाऋतु आती है तो मेरी बजह से ही जंगल की शोभा में वृद्धि होती है, चारों ओर सुन्दर हरियाली छा जाती है और देखने वालों का मन प्रसन्न होता है। सारे बाग-बगीचे और घर के सामने बने हुए लॉन मेरी बजह से ही शोभा पाते हैं।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"और जब मैं सूख जाता हूँ तो भी पशुओं की पेटपूर्ति तो करता हूँ साथ ही गरीबों की झोंपड़ियों का छप्पर भी बनता हूँ। निर्धन व्यक्ति आप लोगों के जैसे बड़े-बड़े मकान तो बनवा नहीं सकते, फूस की झोंपड़ी ही बना लेते हैं। मैं उनको बड़ी सहायता करता हूँ तथा झोंपड़ी का छप्पर तो ऐसा बन जाता हूँ कि पानी जैसे तरल पदार्थ को भी आने से रोक देता हूँ।"

"इसके अलावा भी शीत ऋतु में मैं लोगों की बड़ी सहायता करता हूँ। स्वयं जलकर बेचारे कपड़ों के अभाव में ठिठुरने वाले व्यक्तियों को गरमी पहुँचाता हूँ और मेरे द्वारा दी गई गरमी से वे अपनी जान असह्य शीत के कारण बचा पाते हैं। मैं साधु-संतों की भी बड़ी सेवा करता हूँ। साधु-संत आप लोगों के जैसे गद्दे रजाई तो रखते नहीं हैं पर मुझे नीचे बिछा लेते हैं तो मैं उन्हें कुछ राहत प्रदान करता हूँ।"

"मेरे एक-एक तिनके को जोड़कर बनाए हुए रस्से से ही मदोन्मत्त हाथी बाँधे जा सकते हैं जो सहज ही किसी के काबू में नहीं आते। कागज, जिस पर आप लिखते हैं, पुस्तकें छपवाते हैं। तथा अन्य सैकड़ों कामों में लेते हैं, वे भी मेरे द्वारा ही बनते हैं।

"इस प्रकार हे नराधिप! मुझ में अनेक गुण ऐसे हैं जो निर्गुणी व्यक्ति में नहीं होते। अतः उनसे मेरी तुलना मत करो, उनसे मेरी तुलना कभी नहीं की जा सकती।"

तो अब लीजिये साहब! तिनके ने भी गुणहीन को अपने से नीचा बता दिया। कवियों की मुसीबत! पर वे हिम्मत नहीं हारते। अब वे संसार की सबसे तुच्छ वस्तु धूल जो कि सदा पैरों के नीचे रहती है, उसे निर्गुणी की तुलना में लाये और भर्तृहरि के श्लोक की अन्ति पंक्ति में जोड़ा—

'मनुष्यरूपेण धूलेश्च पुंजः।'

कवियों ने सोचा कि और किसी भी पशु पेड़ या पोधे से जब निर्गुण की उपमा नहीं दी जा सकती तो धूल से तो आखिर वह गया बीता नहीं है? उससे तो गुणवान ही साबित होगा। किन्तु अफसोस कि धूल भी अपने गुण बताने से नहीं चूकी और बोली :—

धूल कहै बालक के खेल में आऊँ मैं काम;
ओटले बंधावे कोई, कोई बांधे पारी है।
हुतासन परब सो मेरे बिन होत नहीं,
कर्दम के मांही मेल्या होत पन्थ बारी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कागद लिखत लोग ऊपर प्रक्षेपे मोहे,
बिछावे से नरम न चुभे पग भारी है।
और भी अनेक गुण मोय में नराधिपत,
निगुणी की उपमा न लागत हमारी है।

मिट्टी कह रही है—"मैं कैसे निर्गुणी हूँ ? मुझ में तो अनेक गुण विद्यमान हैं। यथा—मैं बालकों के खेल का सर्वोत्तम साधन हूँ। मेरे द्वारा नानाप्रकार के खिलौने बनाये जाते हैं और उन पर रंग चढ़ाकर गुड्डे, गुड़िया, बन्दर, भालू आदि तैयार किये जाते हैं। बच्चे उन्हें पाकर बड़े खुश होते है तथा उनसे खेलते हैं। बड़ी बात तो यह है कि मेरे द्वारा निर्मित खिलौने बड़े सस्ते दो-दो पैसे या चार-चार पैसे में मिल जाते हैं अतः बेचारे निर्धन व्यक्ति भी उन्हें खरीद कर अपने बच्चों को खुश कर लेते है।"

"इसके अलावा वर्षाऋतु में तो मैं बिना पैसे के ही बालकों का खूब मनोरंजन कर देती हूँ। पानी बरसने पर जब मैं गीली हो जाती हूँ तो बच्चे स्वयं मेरे द्वारा मकान, लड्डू, चूल्हा, चक्की आदि बना-बनाकर खेलते हैं और खुश होते हैं।"

"दीवाली के आस-पास जब बरसात के कारण सबके कच्चे घरों की छपाई बह जाती है, उस समय तो घर-घर में मेरे ढेर लग जाते हैं और मैं दीवालें, चबूतरे तथा फर्श आदि बनाने के काम आती हूँ। अगर उस समय मैं सहायता न करूँ तो कैसे घरों की मरम्मत हो और कैसे घर के बाहर हताई करने के लिये चबूतरे बनें ? तालाबों की पालें अगर मेरे अभाव में न बनें तो क्या हाल हो ? क्या बाढ़ में सब कुछ नष्ट नहीं हो जाएगा ? सड़कों पर भी जब वर्षा के द्वारा कीचड़ हो जाता है या गन्दे हो जाते हैं तब भी मुझे ही जमीन पर डाल कर उन्हें सूखा और समतल बनाया जाता है तथा आप लोग उस पर निर्विघ्न चलते हैं। मेरे विषय में कवि 'माघ' ने कहा भी है:—

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः॥

जो धूल पैर से आहत होकर उड़ती है और आहत करने वाले के सिर पर चढ़ जाती है, वह अपमान होने पर भी स्वस्थ बने रहने वाले शरीर धारी मनुष्य से श्रेष्ठ है।"

"इस प्रकार मैं अपने गुण स्वयं ही कहाँ तक गिनाऊँ ? मेरे बिना तो संसार के अनेकानेक कार्य रुक जाते हैं। होली के दिनों में जब लोग मानाप-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मान और ऊँच-नीच का भेदभाव भूल जाते हैं तब नालियों में से मुझे ही कीचड़ के रूप में लेकर एक-दूसरे पर उछालते हैं। तथा व्यापारी बही खाता करते समय अक्षर लिखते जाते हैं और उन गीले अक्षरों पर मुझे डाल डालकर तुरन्त सुखा लेते हैं। यह उदाहरण लोग प्रेम की परीक्षा के लिये भी देते हैं। कहते हैं—

"चलत कलम सुखत अक्षर, यही प्रेम का मूल।
नेह टूटे गीला रहे, ताके मुंह पड़े धूल।"

मिट्टी आगे कहती है—"जहाँ ऊँची नीची जगह हो और कंकर पत्थर पैरों में चुभते हो वहाँ मुझे बिछाते ही जमीन नरम हो जाती है, पैरों में कुछ नहीं चुभता। और ब्याह-शादी या कोई भी अन्य समारोह होता है सबसे पहले शोभा बढ़ाने के लिये मुझे जमीन पर बिछाते हैं और उसके बाद ही मंडप या पंडाल बनाते हैं। मेरा उपयोग धर्म कार्य में भी होता है। अनपढ़ बहनें काच की दो तरफी घड़ियों बनवाकर मुझे उसमें भरवा लेती हैं और मैं बड़े हिसाब से दूसरी ओर गिरकर उनके सामायिक का समय पूर्ण हुआ कि नहीं यह बता देती हूँ।"

"इस प्रकार मुझ में तो अनेक गुण हैं, जिन्हें गिनाया नहीं जा सकता। अतः हे नराधिप, मेरी तुलना गुणहीन से कदापि नहीं की जा सकती। क्या वह मेरे मुकाबले में ठहर सकता है? नहीं, फिर उसके लिये मेरी उपमा आप देते ही क्यों हैं?"

तो बंधुओ, निर्गुणी पुरुष की उपमा देने के लिये कवियों ने मृग, गाय, श्वान, खर, वृक्ष, तृण तथा धूल तक नाम सुझाये। किन्तु इन सभी ने अपने-अपने अनेक गुणों का दिग्दर्शन कराकर उसकी तुलना में अपने आपको रखने से इन्कार कर दिया।

यह रूपक हैं और कविकुल भूषण पूज्यपाद श्री तिलोकऋषि जी म० ने प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि पशु, पेड़, पौधे या धूल ये सब बोलते नहीं हैं किन्तु उनके इन गुणों से कदापि इन्कार नहीं किया जा सकता। महाराज श्री ने उनके द्वारा कहा जाना तो काव्य में मनोरंजकता और कलापूर्णता लाने के लिये दर्शाया है। वह भी इसलिये कि उनके गुण यथार्थ हैं और वे स्वयं उनके द्वारा कहे हुए बताए जाँय या अन्य किसी के द्वारा ही कहे जाँय। अन्त में आप कहते हैं:—

मृग, गाय, श्वान, खर, तृण, वृक्ष धूल ही ते,
नेष्ट है अधिक मूल, मात भार भारी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाय के मनुष्य देह, प्रभु से न कियो नेह,
पुण्य पाप जाने नहीं धिक अवतारी है।
राच्यो राग रंग संग, माचो खाय खाय अंग,
कुल मरजादा भंग, नर्क अधिकारी है।
कहत त्रिलोक रिख, मान ले तू गुरु सीख,
भव-भव जै-जैकार लहे सुख भारी है।

कविकुल शिरोमणि महाराज श्री का कथन है कि भर्तृहरि के श्लोक के आधार पर मनुष्य को जिनकी सात उपमाएँ दीं गई हैं, उन सभी से वह नेष्ट यानी न-इष्ट है दूसरे शब्दों में हीन और निकृष्ट है।

अपनी माता के गर्भ में नौ मास रहकर प्रथम तो उसने माता की कोख को लज्जित किया है, दूसरे स्वयं भी मनुष्य शरीर पाकर उससे कोई लाभ नहीं उठाया। न तो उसने प्रभु की भक्ति ही की, और न ही पुण्य और पाप का अन्तर समझ कर पाप से बचा तथा पुण्य का उपार्जन ही किया।

पाप की प्रवृत्ति के विषय में कहा गया है—

"सज्जनो दुर्जनः स्यात् पापाद्विपरीतं फलं त्विह।"

पाप का फल सदा ही उलटा होता है। पाप करने से सज्जन पुरुष भी दुर्जन बन जाया करता है।

वस्तुतः पाप-प्रवृत्ति मानव जीवन के लिये कलंक है और इसमें लिप्त हुए जीव का इस पंक से उबरना कठिन हो जाता है। किन्तु जो व्यक्ति पापों से बचते हुए शुभ कर्म करता है वह सदा सुखी रहता है। 'स्थानांग सूत्र' में कहा गया है:—

इह लोगे सुचिन्नाकम्मा,
इह लोगे सुहफलविवाग संजुत्ता भवन्ति।
इह लोगेसुचिन्नाकम्मा,
पर लोगे सुहफलविवाग संजुत्ता भवन्ति॥

इस जीवन में किये हुए सत्कर्म इस जीवन में भी सुखदायी होते हैं। इस जीवन में किये हुए सत्कर्म अगले जीवन में भी सुखदायी होते हैं।

तो महाराज श्री फरमाते हैं कि जिस जीव ने मनुष्य शरीर पाकर भी पापों से किनारा नहीं किया और पुण्यों का उपार्जन नहीं किया तो उसका मनुष्य के रूप में अवतार लेना व्यर्थ है और उसे बार-बार धिक्कार है।

मानव-जन्म पाकर भी जो सदा राग-रंग में डूबा रहता है अर्थात् विषय-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगों के अथाह सागर में डुबकियाँ लगाता रहता है वह अपने कुल की मर्यादा को भंग तो करता ही है, मरने के पश्चात् नरक का भी अधिकारी बनता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है:—

इत कुल की करनी तजे, उतन भजे भगवान।
तुलसी ऊधंबर के भये, ज्यों बंधूर के पान॥

अर्थात्—जो गुणहीन व्यक्ति मनुष्य जन्म पाकर भी दान, शील, तप, संयम, क्षमा, संतोष आदि सद्गुणों को नहीं अपनाता तथा विषय-भोगों में रत रहता हुआ कदाचार का सेवन करता है वह इस जन्म में तो कुल का नाम डुबोता ही है साथ ही कभी भगवान का भजन न करने के कारण परलोक भी बिगाड़ लेता है। और इस प्रकार धूल के बवंडर में फंसे हुए पत्तों के समान उसकी दशा होती है जो कि न तो आकाश में ही जा पाते हैं और न ही पृथ्वी पर रहते हैं। केवल अधर में ही उड़ते रहते हैं।

इस प्रकार अनन्तानन्त पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ मानव-जन्म व्यर्थ चला जाता है और उसे इस प्रकार व्यर्थ गँवा देने को मूर्खता नहीं तो और क्या कहा जा सकता है? इसीलिये कविवर कहते हैं—

"अरे भोले प्राणी! तू निर्गुणता के इस कलंक को अपने मस्तक से हटाने का प्रयत्न कर तथा सद्गुरु की शिक्षा, उनके उपदेश और उनके आचरण से लाभ उठा। अपने में सद्गुणों का संकलन कर और उनकी सहायता से अपने कृत कर्मों को नष्ट करके आत्म-कल्याण कर। ऐसा करने पर इस लोक में तो तेरा जय-जयकार होगा ही, परलोक में भी तुझे अक्षय सुख की प्राप्ति हो सकेगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

११ आज-काल कि पाँच दिन, जंगल होगा वास

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

जीवात्मा को संसार-परिभ्रमण से छुड़ाने के लिये भगवान ने बारह भावनाओं का निर्देश किया है जिनका सतत् चिंतन करने से आत्मा अपने स्वाभविक गुणों का विकास करती है तथा धर्म पर दृढ़ प्रतीति रखती हुई शनैः-शनैः मुक्ति की ओर बढ़ती है।

बारह भावनाओं में से पहली भावना है अनित्यता। यह भावना बताती है कि इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं, सभी क्षणभंगुर हैं। कोई भी चिरस्थायी रहनेवाला नहीं है। संस्कृत में एक कहावत है—'यद् दृष्टम् तद् नष्टम्।'

अर्थात् जो भी वस्तु दृष्टिगोचर होती है यानि आंखों से दिखाई देती है, वह नष्ट होनेवाली है। आत्मा आँखों से दिखाई नहीं देती अतः उसका नाश नहीं होता। वह अक्षय और अविनाशी है। किन्तु दिखाई देने वाली प्रत्येक वस्तु नाश को प्राप्त होगी।

आपके मन में संदेह होगा कि दिखाई तो सूर्य और चन्द्र भी देते हैं, तो क्या ये भी कभी नष्ट हो जायेंगे ? हाँ, शास्त्र कहते हैं कि चन्द्र, सूर्य, तारागण और नक्षत्र सभी की जिन्दगी है, आयुमर्यादा है। अगर उनकी आयुमर्यादा की पूर्णाहुति हो गई तो उन्हें अपना स्थान छोड़ना पड़ेगा।

इस विषय में संत कबीर भी कहते हैं—

चन्दा भी जाएगा सूरज भी जाएगा,
जाएगा पवन और पानी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दास कबीरा की भक्ति नहीं जाएगी,
ज्योत में ज्योति मिलानी ।
आखिर जाएगी जिन्दगानी ।

कबीर का भी कथन है—'चन्दा भी जाएगा, सूरज भी जाएगा ।' सुनकर आपके मन में संकल्प विकल्प उठ रहे होंगे कि सूर्य और चन्द्र दोनों चले गए तो अंधेरा हो जाएगा और फिर संसार का कार्य कैसे चलेगा ?

पर भाइयो ! ऐसी बात नहीं है। आप जानते ही हैं कि किसी का भी स्थान कभी खाली नहीं रहता। यथा—एक राजा समाप्त होता है तो राज-गद्दी पर दूसरा राजा आसीन होता है। इसी प्रकार राज्य का प्रत्येक कर्मचारी चाहे वह मंत्री हो या गाँव का छोटा सा चौकीदार, अगर वह अपना स्थान छोड़ देता है तो तुरन्त ही उसके स्थान पर नई नियुक्ति हो जाती है। अपनी-अपनी योग्यतानुसार व्यक्ति स्थान प्राप्त करता जाता है।

यही बात चन्द्र एवं सूर्य के लिये भी है। वे जब तक विद्यमान हैं, विश्व को प्रकाशित करते हैं किन्तु जिस दिन उनकी पूर्णाहुति हो जाएगी उनके स्थान पर उतनी योग्यता रखने वाले यानी इन स्थानों को पाने लायक करनी करने वाले इनका स्थान ग्रहण कर लेंगे और वहाँ पैदा हो जाएँगे। अतः इस विषय को लेकर संकल्प-विकल्प करने की आवश्यकता नहीं है।

अब बचे पवन और पानी। वे तो बहते ही रहते हैं जो जाएँगे ही। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र तो क्या संसार की हर वस्तु जाने **वाली है यानी नष्ट** होने वाली है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

किन्तु कबीर जी कहते हैं कि मेरी भक्ति कभी नहीं जाएगी, उसका कभी नाश नहीं होगा। वह आंखों से दिखाई देनेवाली चीज नहीं है और तब तक विद्यमान रहेगी जब तक मेरी आत्मा जो कि परमात्मा का ही अंश है, पुनः उसमें नहीं मिल जाएगा। 'ज्योत में ज्योत मिलानी।' इससे यही आशय है कि परमात्मा कोई स्थूल पदार्थ नहीं है एक अवर्णनीय एवं उज्ज्वलतम प्रकाश है जिसकी एक किरण मेरे इस शरीर में कैद है और जिस दिन वह पापों से मुक्त हो जाएगी, परमात्मा रूपी उस विशाल प्रकाशपुंज में मिल जाएगी। महाभारत में कहा भी है—

"जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णमिवत्वचम्।"

जिसके हृदय में श्रद्धा या भक्ति का माधुर्य भर जाता है वह पापों का इस प्रकार परित्याग कर देता है जैसे सर्प अपनी जीर्ण-शीर्ण केंचुली का परित्याग करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः यही कहा जाता है कि जब तक सर्प के शरीर पर केंचुली रहती है, वह अंधा रहता है। अतः ज्योंही वह उसके शरीर पर से अलग हो जाती है अंधेपन से मुक्त होकर वह सरपट भागता है। पीछे मुड़कर भीन हीं देखता भय के कारण। इसी प्रकार भक्त पापों का ऐसे त्याग कर देता है कि पुनः उनको करने का स्वप्न में भी विचार नहीं करता। सर्प जैसे केंचुली से डरता है, उसीप्रकार भक्त या साधक पापों से डरता है। उनके भयभीत रहने के कारण ही वह संसार से अलिप्त रहता है तथा अनासक्तभाव से केवल ईश-भक्ति में लगा रहता है। यद्यपि संसार में रहते हुए समस्त सांसारिक पदार्थों से और सांसारिक नातों से विमुख रहना बड़ा कठिन कार्य है किन्तु जब वह संसार की अनित्यता को समझ लेता है तो उसमें गृद्ध रहकर अपने अमूल्य जीवन को क्षणिक सुखों के पीछे नष्ट करने की मूर्खता नहीं करता। यही सत्य भी है जिसके विषय में महात्मा कबीर ने कहा है: -

जब लग नाता जगत का, तब लग भक्ति न होय।
नाता तोड़े हरि भजे, भक्त कहावे सोय॥
कामी क्रोधी लालची, इनतें भक्ति न होय।
भक्ति करे कोई सूरमा, जाति बरन कुल खोय॥

कहते हैं—जब तक संसार से नाता नहीं टूट जाता, तब तक प्रभु की भक्ति नहीं हो सकती और जो भव्य प्राणी ऐसा करके परमात्मा का भजन करते हैं वे ही भक्ति कर सकते हैं तथा भक्त कहलाते हैं।

कोई व्यक्ति यह चाहे कि मैं संसार के समस्त सुखों का उपभोग भी करता रहूँ तथा ईश्वर को भी प्रसन्न कर लूँ तो यह कदापि संभव नहीं है। उसे दो में से एक को चुनना पड़ेगा। कबीर ने आगे कहा भी है—काम-भोगों में रत रहने वाला, क्रोध करनेवाला और लालच करनेवाला व्यक्ति कभी भगवान की भक्ति नहीं कर सकता। भक्ति का मार्ग तो इनसे उलटा है।

संस्कृत के एक श्लोक में बताया गया है कि भगवान पूजा में कौन से पुष्प चाहते हैं? यानी किस प्रकार उन्हें प्रसन्न किया जा सकता है। श्लोक इस प्रकार है—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं, द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया, चतुर्थं शान्तिरेव च॥
शमस्तु पञ्चमं पुष्पं, ध्यानं चैव तु सप्तमम्।
सत्यं चैवाष्टमं पुष्प एतैः स्तुष्यति केशवः॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एतैरेवाष्टभिः पुष्पैस्तुष्यते चार्चितो हरिः।
पुष्पान्तराणि सम्त्येव बाह्यानि नृपसत्तम ॥

—पद्मपुराण

पद्मपुराण में वेदव्यासजी ने कहा है—

पहला अहिंसा, दूसरा इन्द्रियसंयम, तीसरा जीवों पर दया करना, चौथा क्षमा, पांचवां शम, छठा दम, सातवां ध्यान तथा आठवां पुष्प सत्य होता है। इन पुष्पों के द्वारा भगवान संतुष्ट होते हैं। हे नृपश्रेष्ठ ! अन्य पुष्प तो पूजा के बाह्य अंग हैं, भगवान तो उपर्युक्त आठ पुष्पों से पूजित होने पर ही प्रसन्न होते हैं।

श्लोक में अत्यन्त सुन्दर और सत्य कथन दिया गया है। वास्तव में पूजा दो प्रकार की होती है—(१) द्रव्य पूजा (२) भाव पूजा।

आज हम शहरों और गांवों में सहज ही देख सकते हैं कि मंदिरों में फूल, नैवेद्य आदि चढ़ाते हुए तथा घंटे-टोकरी बजाकर आरती करते हुए व्यक्ति भगवान को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु उस पूजन क्रिया के साथ अंतरंग कितना जुड़ा हुआ होता है यह उनके जीवन से मालूम पड़ सकता है। यानी दुनियादारी के प्रपंचों में आकंठ डूबे हुए तथा एक-एक पैसे के लिए वे दुकान पर ग्राहक को धोखा देते हुए, अधिक से अधिक धन वृद्धि की लालसा से बात-बात में झूठ बोलते हुए तथा अपने धन और बड़प्पन के नशे में चूर रहकर निर्धनों पर अत्याचार करते हुए भी वे ही लोग देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी द्रव्य पूजा क्या परमात्मा को प्रसन्न कर सकती है ? नहीं, जो पूजा अन्तर्मन से नहीं की गई ही उसका कभी श्रेष्ठ फल नहीं मिल सकता।

श्रेष्ठ फल उस पूजा का ही मिलता है, जो अन्तर्मन से की गई हो। और और वह पूजा जैसी की श्लोक में बताई गई है आत्मा से संबंध रखती है। जिस व्यक्ति के हृदय में हिंसा की भावना नहीं होती तथा संसार के समस्त प्राणियों के प्रति स्नेह और दया की भावना होती है, वही सच्चे मायने में परमात्मा को प्रसन्न कर सकता है।

भक्त दामाजी

कहा जाता है कि महाराष्ट्र के एक गांव में दामाजी नामक एक अत्यन्त दयालु व्यक्ति रहता था। किसी भी दुखी का दुख देखकर वह द्रवित हो जाता, और प्राणपण से उसे दुख-मुक्त करने का प्रयत्न करता था। उसका एक नियम यह भी था कि अपने घर आए हुए किसी भी अतिथि को वह भूखा नहीं लौटने देता था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक बार एक अजनबी व्यक्ति संयोगवश उसके यहां आ पहुंचा और दामाजी ने आग्रहपूर्वक उसे भोजन करने के लिये आसन पर बैठा दिया। पर ज्यों ही उसने अपने मेहमान के सामने भोजन की थाली रखी, उसकी आंखों से आंसू बहने लगे।

दामाजी ने यह देखकर आश्चर्यपूर्वक पूछा—"भाई! क्या बात है? क्या तुम्हें किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव हो रहा है?"

अतिथि ने उत्तर दिया—"नहीं, मुझे कष्ट तो कुछ भी नहीं है। पर मेरे गांव में अकाल पड़ गया है अतः सोच रहा हूं कि मेरे बाल-बच्चे वहां भूखे होंगे। इसीलिये मुझसे खाया नहीं जा रहा है।"

अतिथि की बात से दामाजी की आंखों में भी अश्रु छलक आए, पर उसने आगन्तुक को समझा-बुझाकर खाना खिलाया और जाते समय उसे काफी अनाज साथ में बांध दिया ताकि वह अपने परिवार को भी खिला सके।

वह व्यक्ति जब अपने गांव में पहुंचा तो उसने दामाजी की उदारता की मुक्त कंठ से सराहना की। परिणाम यह हुआ कि उस गांव से अनेक व्यक्ति दामाजी के यहां आने लगे। पर वह उन सब के लिये अनाज की पूर्ति कैसे करता? यद्यपि उसके यहां कई कोठे अनाज के भरे हुए थे पर वे सब राज्य के थे। अतः वह बड़ी चिन्ता में पड़ गया। किन्तु आखिर उसने निश्चय किया कि अन्न के अधिकारी तो भूखे व्यक्ति ही होते हैं अतः उन्हें अन्न देना चाहिये भले ही राजा मुझे इसके लिये दंड देवें। मैं दण्ड सहर्ष भोग लूंगा।

यह विचार कर उसने राजकीय कोठे खोल दिये और अन्न बांटना प्रारम्भ कर दिया। अकाल-पीड़ित लोगों की कतारें लग गईं और वे बेचारे अनाज ले-लेकर दामाजी को आशीर्वाद देते हुए चले गए। सभी को जीवित रहने योग्य अन्न प्राप्त हो गया।

इधर जब राजा को यह बात मालूम हुई तो उसने राज्य के कर्मचारियों के द्वारा दामाजी को पकड़वा मंगाया। दामाजी भी प्रसन्न मन से सिपाहियों के साथ चल दिये। यह बात सारे गाँव में फैल गई और एक सहृदय श्रीमंत को भी इसका पता लगा। वह उसी समय राजा के पास गया और बोला—"महाराज! दामाजी ने जितना भी राज्य का अनाज दुष्काल-पीड़ित लोगों में बाँट दिया है, उस सबका पैसा आप मुझसे लेकर खजाने में जमा कर लीजिये और दामाजी को मुक्त कर दीजिये।"

राजा को बात जँच गई और उसने सेठ से धन लेकर दामाजी को छोड़ दिया। यही दामाजी 'भक्त दामाजी पंथ' के नाम से आगे जाकर प्रसिद्ध हुए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस उदाहरण को देने का अभिप्राय यही है कि दामाजी और धन देने वाले उस श्रेष्ठि की उदारता के समान ही जब व्यक्ति में दया और उदारता की भावना पनपती है तब वह ईश्वर का सच्चा भक्त कहलाता है। भगवान् अपनी पूजा से कभी प्रसन्न नहीं होते, वे निर्धनों पर दया करने से तथा दुखियों की सेवा करने से प्रसन्न होते हैं। यही उनकी सच्ची पूजा है कि मानव संसार के समस्त प्राणियों के प्रति सद्भावना और क्षमा के भाव रखे।

तो श्लोक में बताए गये अहिंसा, संयम, दया, क्षमा आदि जो आठ गुण हैं वे वस्तुतः आत्मा को शुद्ध बनाकर ऊँचा उठानेवाले हैं। हमारा जैनधर्म भी आत्म-शुद्धि और पाप-मुक्ति के लिये इन्हें पूर्णतया अपनाने का आदेश देता है। जो व्यक्ति इनका महत्त्व नहीं समझता वह लोभ-लालच से नहीं बच सकता और लोभ तो समस्त पापों का मूल है ही। इसलिये कबीर ने कहा है—

कामी, क्रोधी, लालची इन तें भक्ति न होय।
भक्ति करे कोई सूरमा, जाति वरन कुल खोय॥

कामी, क्रोधी और लालची व्यक्तियों का हृदय कभी भी निष्पाप नहीं रह सकता अतः वे ईश्वर की भक्ति स्वप्न में भी नहीं कर सकते। भक्ति वही शूरवीर कर सकता है जो इन्द्रियों पर पूर्णतया विजय प्राप्त कर सके तथा अपने मन को अंकुश में रख सके। साथ ही जो अपनी जाति, कुल और वर्ण का अभिमान त्याग कर अपने आप को केवल मानव समझे और अन्य समस्त प्राणियों को भी आत्मवत् समझे वही प्रभु का भक्त कहला सकता है और साधना के मार्ग पर बढ़ सकता है।

पर ऐसा कौन कर सकता है? केवल वही, जो संसार की अनित्यता पर विश्वास रखता है। ऐसा न माननेवाला व्यक्ति कभी मोह-माया के पाश से मुक्त नहीं हो सकता।

भारतभूषण शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने अपनी 'भावनाशतक' पुस्तक में एक श्लोक लिखा है:—

प्राज्यं राज्यसुखं विभूतिरमिता,
येषामतुल्यम् बलम्।
ते नष्टा भरतादयो नृपतयो,
भूमण्डलाऽखण्डलाः॥
रामो रावण मर्दनोऽपि विगतः।
क्वैते गताः पाण्डवाः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राजानोऽपि महाबला मृतिमगुः,
का पामराणां कथा ॥

कहा गया है—जो अखिल भूमण्डल के अधिकारी चक्रवर्ती सम्राट् थे और जिनके विशालतम राज्य, अपार वैभव और बल की तुलना किसी से नहीं हो सकती थी ऐसे भरत, सगर, तथा मघवा आदि पृथ्वी के शासक भी नष्ट हो गये अर्थात् उन्हें काल का भोग बनना पड़ा।

बंधुओ, चक्रवर्ती सम्राट् के वैभव की जिस प्रकार गणना नहीं हो सकती, उसी प्रकार उनके शारीरिक बल की भी किसी से तुलना नहीं की जा सकती थी। हमारे शास्त्रों में वर्णन है कि असली हीरा जो ऐरण और घन के बीच में आने पर भी नहीं फूटता उसे चक्रवर्ती सम्राट की दासी अपनी चुटकी से ही मसलकर चूर-चूरकर देती थी। तो मात्र जूठन खानेवाली दासी में जब इतनी शक्ति होती थी तो स्वयं चक्रवर्ती राजा में कितनी शक्ति होती होगी? किन्तु ऐसे सम्राटों को भी काल का संकेत पाते ही इस पृथ्वी पर से प्रयाण करना पड़ा। इससे स्पष्ट है कि जब ऐसे-ऐसे बलशाली व्यक्तियों को जाना पड़ा तो क्या हम सदा यहीं रह लेंगे? नहीं, जिस नदी में हाथी भी डूब सकता है उसके लिये खरगोश कहे कि मैं तो आराम से उस पार चला जाऊँगा तो यह संभव नहीं है। जहाँ हाथी का भी वश नहीं चलता वहाँ खरगोश की बिसात ही क्या है।

यहां आप कहेंगे कि भरत चक्रवर्ती तो भगवान आदिनाथ के पुत्र थे और यह बात बहुत पुरानी हो गई है तो अब श्लोक में दी गई उससे बहुत बाद की बात भी आपके सामने रखता हूं। वह राम और रावण के समय की है। राम और रावण चौबीस तीर्थंकरों में से बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत स्वामी के समय में हुए थे।

तो रावण भी तीन खण्ड का राजा था। और उसके पास विद्या, धन, बल तथा परिवार सभी की प्रचुरता थी। सूर्य और चन्द्र को भी अपनी इच्छानुसार चलानेवाला सोने की लंका का स्वामी रावण अपनी अनीति के कारण इस संसार से चला गया। खैर रावण को अपनी अनीति का फल भुगतना पड़ा किन्तु राम को तो यहीं रहना था। पर नहीं, रावण के मद का मर्दन करनेवाले मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भी यहां से जाना पड़ा। वे भी सदा के लिये यहां विद्यमान नहीं रह सके।

अब आते हैं कौरव और पांडव। ये बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भगवान के समय हुए थे। इन दोनों में से कौरव अत्याचारी थे अतः वे पांडवों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के हाथ से मारे गए। किंतु पांडव नीतिवान् और सदाचारी थे, क्या वे भी यहां रह पाते ? पर कहां, उनकी आयु सम्पूर्ण होते ही उन्हें भी यह लोक छोड़ना पड़ा।

और उसके बाद भी बड़े-बड़े बादशाह और राजा-महाराजाओं की परम्परा चलती रही। पर आज कोई भी उनमें से सदा के लिये यहां नहीं रह सका। इसीलिये उर्दू के कवि जौक ने कहा—

दिखा न जोशो-खरोश इतना, जोर पर चढ़कर।
गये जहान में दरिया बहुत उतर चढ़-कर॥

अरे मानव ! अपने बल, वैभव, अथवा परिवार के गर्व में आकर इतना जोश-खरोश न दिखा। इस दुनियां में बहुत से दरिया चढ़-चढ़कर उतर गए।

कहने का अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार संसार की अन्य समस्त वस्तुएँ नश्वर हैं उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी क्षणभंगुर है। प्रत्येक व्यक्ति मौत के नाम से कांपता है और मरना नहीं चाहता, पर उसे उससे छुटकारा नहीं मिलता। इसलिये विवेकी और बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने अल्पकालीन जीवन को भोग-विलास एवं कषायों के उद्रेक से पापमय न बनाए तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना से परिपूर्ण रखते हुए प्राणीमात्र की सेवा में लगाकर इसको सार्थक बनाए।

सेवाभावी मघा

बौद्ध ग्रन्थों में भगवान बुद्ध के पिछले जन्म की एक कथा आती है। पूर्व जन्म में उन का जीव मगध के एक गाँव में पैदा हुआ। उस समय 'मघा नक्षत्र' का समय था अतः उनका नाम ही मघा रख दिया गया।

मघा की आकृति बड़ी भव्य थी और अन्य सभी लक्षण शुभ थे। उनके आधार पर ज्योतिषियों ने कहा कि यह बालक बड़ा सेवा भावी होगा। और सचमुच ही जब वह बारह वर्ष की उम्र का मुशकिल से हो पाया, उसने सेवा व्रत अपना लिया।

वह अपने घर और बाहर की सफाई तो करता ही था, पूरे गाँव की सफाई भी करने लग गया। लोग उसे तंग करने के लिये उसके द्वारा साफ किये हुए स्थानों पर पुनः कूड़ा-करकट डाल दिया करते थे, किन्तु मघा शांतिपूर्वक उन स्थानों को फिर साफ कर देता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसके निरन्तर ऐसा करते रहने के कारण गाँव के नवयुवक उसकी ओर आकर्षित हुए और मघा के कार्यों में हाथ बटाने लगे। धीरे-धीरे मघा के बत्तीस साथी हो गए जो गाँव की सफाई तो करते ही थे, शराबियों को समझा बुझाकर उनका शराब पीना भी छुड़ाते थे। दुराचारी व्यक्तियों को भी सदाचारी बनाने का प्रयत्न करते और गाँव में होने वाले झगड़ों में बीच-बचाव करके लोगों को शांत करते थे। इस प्रकार लोगों के दिलों की भी वे शुद्धि किया करते थे। उनके ऐसे कार्यों से गाँव वाले उनकी सराहना करने लगे। किन्तु सभी व्यक्ति एक सरीखे नहीं होते। कुछ ऐसे भी उस गाँव में थे जो मघा और उसके साथियों से जलते थे।

मौका पाकर उन लोगों ने वहाँ के राजा से शिकायत कर दी कि इस गाँव में कुछ लुटेरे ऐसे हैं जो प्रजा को परेशान करते हैं तथा लोगों का धन-माल खतरे में है।

राजा शराबी और कान का कच्चा था। लोगों की बातों पर उसने विश्वास कर लिया और अपने कर्मचारियों को आज्ञा दी कि उन लुटेरों को पकड़ कर हाथी के पैरों तले कुचलवा दो। गाँव के निवासी राजा का यह हुक्म सुनकर बड़े चकित और दुखी हुए उन्होंने विरोध भी करना चाहा।

किन्तु मघा ने उन्हें समझा बुझाकर शांत किया और बिना अपने आपको सिपाहियों से पकड़वाये स्वयं ही अपने साथियों सहित राजा के समक्ष जा उपस्थित हुआ। सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ किन्तु राजाज्ञा थी अतः उन सबको हाथी से कुचलवाने का बन्दोवस्त किया गया।

मघा के सब साथी बहादुर थे और मघा ने उन्हें और भी बहादुर बना दिया था। उसने सबसे कहा—"आज ही हमारी सच्ची परीक्षा है अतः समभाव पूर्वक जो कुछ भी गुजरे सहन कर लेना। वैसे मैं तुम सबसे आगे लेटता हूँ। अगर तुम्हें हाथी मारेगा तो उससे पहले मुझे भी मारेगा।"

हाथी आया किन्तु लोगों ने महान् आश्चर्य से देखा कि उसने मघा को कुचलना तो दूर, उसे बड़े प्यार से सूँघा और वापिस लौट गया। यह देखकर राजा ने दूसरे मदोन्मत्त हाथी को लाने की आज्ञा दी। दूसरा हाथी भी आया। पर उसने भी ऐसा ही किया। वह मघा के पास गया किन्तु उसके आसपास चक्कर लगाकर और उसे सूँघकर वह भी वापिस लौट गया। इसी तरह तीसरे हाथी ने भी किया। इस पर राज्यकर्मचारी कहने लगे ये लोग तो जादू-मन्त्र जानते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस पर राजा ने मघा को अपने पास बुलाकर पूछा - "भाई ! तुमने कौन सा मन्त्र सिद्ध किया है, जिससे हाथियों को भी भगा देते हैं ?"

मघा ने विनय पूर्वक उत्तर दिया—"महाराज ! मुझे केवल एक ही मन्त्र याद है। वह यह कि तुम्हें जो अच्छा लगता है वही दूसरे के लिये करो।"

राजा ने फिर प्रश्न किया—"इस मन्त्र को किस प्रकार सिद्ध किया जाता है ?"

"अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच साधनों के द्वारा—" मघा ने उत्तर दिया, इनकी आराधना करने से यह मन्त्र सिद्ध हो जाता है।"

राजा ने मघा की बातों से अत्यन्त प्रभावित होकर पूछा—"क्या मेरे राज्य में तुम इसी का प्रयोग करते थे ?"

"हाँ महाराज ! मैं इसी मन्त्र का प्रयोग करता था।"

इसी बीच जबकि राजा मघा से बातें कर रहा था कुछ प्रजाजन समीप आए और बोले—"हुजूर ! मघा भाई और इनके साथियो के जैसे राज्य भक्त तो राज्य में और कोई हैं ही नहीं। ये जैसे कार्य करते हैं और कोई भी नहीं कर सकता। आप के कर्मचारियों ने तथा कुछ अन्य लोगों ने इर्ष्या के कारण ही आप से इनकी शिकायत की है।"

सारी बात समझने के पश्चात् राजा ने उन लोगों को और उन कर्मचारियों को जिन्होंने मघा की झूठ-मूठ शिकायत की थी, पकड़वा लिया और उन सबको हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा देने की आज्ञा दे दी।

लेकिन मघा ने अत्यन्त विनयपूर्वक राजा से प्रार्थना की—"महाराज ! मैं चाहता हूं कि आप मेरे भाइयों को इस प्रकार दंड न दें तथा इन्हें मुक्त कर दें। राजा मघा के अपने दुश्मनों के प्रति भी ऐसे क्षमापूर्ण एवं उदार बर्ताव से अत्यन्त प्रभावित हुए और उसे अपना प्रधान बना लिया।

मघा ने राज्य का ऐसा सुन्दर संचालन किया और इतनी उत्तम व्यवस्था की कि उसके नाम पर ही उस देश का नाम मगध देश प्रसिद्ध हो गया।

आशय यही है कि स्नेह और सद्भावना रखते हुए जो सेवा-धर्म को अपनाता है वह इस लोक में तो यशस्वी बनता ही है, पर-लोक में भी अक्षय सुख की प्राप्ति करता है। और ऐसे व्यक्ति ही सच्चे भक्त कहलाते हैं जिनकी भाव-पूजा से भगवान प्रसन्न होते हैं। सच्चे भक्त की निर्मल एवं शुद्ध आत्मा ही अन्त में परमात्मा पद को प्राप्त करती है जिस आशय से कबीर ने कहा हैं—"दास कबीरा की भक्ति न जाएगी ज्योति में ज्योत मिलानी।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान में रखने की बात है कि भगवान अपनी सेवा-पूजा से प्रसन्न नहीं होते अपितु वे दीन, दरिद्र एवं दुखियों की सेवा करने से प्रसन्न होते हैं। और यह वही कर सकता है जिसके हृदय में अहिंसा, सत्य, संयम, स्नेह, शील, तथा सदाचार के समस्त गुण हों।

अब समस्या यह सामने आती है ये सब गुण आत्मा में पनपें कैसे ? वे तभी पनप सकते हैं या जागृत हो सकते हैं जबकि व्यक्ति सद्गुणियों की संगति में रहे, सद्गुरु के उपदेश सुने तथा शास्त्रों का स्वाध्याय एवं श्रवण करें। पर गुरु के उपदेश और शास्त्रों का श्रवण केवल कानों तक ही न रखे अन्यथा वह तोता-रटंत हो जाएगा। यानी सुनना है अतः सुन लिया, किन्तु उस पर चिन्तन मनन नहीं किया और उसे आचरण में भी नहीं उतारा तो सुनने का कोई लाभ नहीं है। श्रोताओं का सबसे बड़ा कर्तव्य ही यह है कि वह जो कुछ सुने उसे आत्मा की गहराई तक पहुँचाए तथा अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसते हुए व्यवहार में ही लाए।

आप अपने अमूल्य समय का लाभ लेने के लिये अनेक काम-काज छोड़कर यहाँ आते हैं और शास्त्रों की वाणी सुनते हैं। किन्तु यहाँ से जाकर अगर उस पर चिन्तन न करें तो फिर वह आपके आचरण में कैसे उतर सकती है ? उसके लिये आपको गाय के समान जुगाली करनी चाहिये।

हम प्रायः देखते हैं कि गाय जंगल में चरती है या घर पर भी घास खाती है किन्तु अपनी भूख को मिटाने जितना खा लेने के पश्चात् वह घास से मुँह हटाकर एक ओर शांति से बैठ जाती है और फिर जुगाली करती रहती है। उस जुगाली को मराठी भाषा में बाघुल भी कहते हैं। जब तक वह बाघुल नहीं करती यानी खाये हुए का अच्छी तरह से चर्वण नहीं करती, तब तक उसका खाया हुआ घास पचता नहीं है और उस स्थिति में वह उसके शरीर को लाभ नहीं पहुंचाता।

इसी प्रकार आप उपदेश सुनते हैं, शास्त्र श्रवण करते हैं किन्तु उसके पश्चात् अगर एकान्त में बैठकर उस पर मनन नहीं करते तो आपका सुना हुआ विषय आपको लाभ नहीं पहुंचाता और आपकी आत्मा तक नहीं पहुंच पाता आगे जब वह आत्मा को भी नहीं छूता तो फिर आचरण में उतर भी कैसे सकता है ?

आद्य शंकराचार्य ने कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"श्रवण की अपेक्षा मनन में हजार गुनी अधिक शक्ति है और मनन की अपेक्षा अनुसरण में हजार गुनी और अधिक।"

इसलिये बंधुओ ! आप केवल सुनने का ही शोक मत रखो अपितु उसके मनन करने का और उसके पश्चात् अनुसरण करने का भी ध्यान रखो। तभी सुना हुआ पल्ले पड़ेगा और उस से आत्मा को कुछ लाभ हासिल हो सकेगा।

आज हमारा विषय अनित्यता है। अगर आप इस पर ध्यान देंगे तथा संसार की अनित्यता पर गम्भीरतापूर्वक मनन करेंगे तो आपकी आत्मा स्वयं ही धीरे-धीरे संसार से विरक्त होती जाएगी। पर खेद की बात है कि लाखों लोगों को प्रतिदिन मरते हुए देखकर भी अपनी मृत्यु को याद नहीं रखता तथा जीवन से लाभ उठाना नहीं चाहता। संत-महापुरुष बार-बार हमें चेतावनी भी देते हैं जैसे—

यह तन काँचा कुम्भ है, मांहि किया रहवास।
कबिरा नैन निहारिया, नहीं पलक की आस॥
कबिरा जो दिन आज है, सो दिन नाहीं काल।
चेत सके तो चेतिये, मीच परी है स्याल॥
कबिरा सपने रैन के, उधरी आये नैन।
जीव परा बहु लूट में, जगे तो लेन न देन॥
आज काल कि पांच दिन, जंगल होगा वास॥
ऊपर ऊपर हल फिरे, ढोर चरेंगे घास॥

कबीर जी कहते हैं—यह मनुष्य-शरीर मिट्टी के कच्चे घड़े के समान है और इसी में जीवात्मा निवास करता है। हम सदा आँखों से देखते हैं कि इसके निकल जाने में एक पल का भी भरोसा नहीं है। जिस तरह कच्चे घड़े को फूटने में देर नहीं लगती, उसी प्रकार इस शरीर के नष्ट होने में भी देर नहीं लगती। एक बार पलक के पकड़ने में जितनी देर लगती है, उतना भी इसका भरोसा नहीं है।

आगे कहा है—जो दिन आज है वह कल भी वैसा ही होगा यह कोई नहीं कह सकता। मौत सदा सिर पर सवार रहती है अतः हे जीव ! तू चेत सके तो तुरन्त ही चेत जा। अज्ञानी जीव बरसों का बन्दोबस्त करते हैं जैसे उतने समय तक वे निश्चय ही जीवित रहेंगे। किन्तु बरस छोड़कर महीने, दिन घंटे या पलभर की भी कोई गारंटी नहीं ले सकता। हँसता-खेलता व्यक्ति किस क्षण लुढक जाएगा कोई भी नहीं जान सकता। इसलिये मनुष्य को तो प्रतिपल सफर का प्रबन्ध करके तैयार रहना चाहिये। और वह बंदोबस्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ का बैंक-बैलेंस, महल-मकान, गाड़ी-घोड़े, बाग-बगीचे और लम्बा-चौड़ा परिवार नहीं है। अपितु केवल शुभ कर्मों का संचय है। अगर जीव ने यहाँ पुण्योपार्जन कर लिया तो समझ लो कि उसने परलोक-यात्रा की तैयारी की है।

यह जीवन तो स्वप्नवत् है। रात को सपने में देखते हैं कि जीव लूट में पड़ा हुआ है, नाना प्रकार के भोगोपभोगों को भोग रहा है तथा ऐश-आराम कर रहा है। किन्तु नींद खुलते ही वह सब गायब हो जाता है। यही हाल जीवन के पश्चात् होता है। क्षणिक जीवन में हजारों तरह से भोगे हुए सुख और समस्त राज-पाट या धन दौलत, आँख मूदँते ही काल के अतल में विलीन हो जाते हैं।

कबीर की लिखी हुई अंतिम लाइनें कितनी मार्मिक हैं? कहा है—अरे भाई! जीवन का कोई भरोसा नहीं है। कदाचित प्राण आज ही यहाँ से प्रयाण कर जाएँ, आज बच गए तो कल की खैर नहीं, और भाग्य ने अधिक जोर मारा तथा यमराज के खाते में कुछ सांस जमा हुए तो दस-पाँच दिन और निकल जाएँगे पर आखिर मरना तो अनिवार्य है। पर उसके बाद क्या होगा? तुम्हारी इसी देह को देखकर लोग डरेंगे, पत्नी भी समीप नहीं आएगी। और शीघ्र से शीघ्र तुम्हारा डेरा जंगल में पहुँचा दिया जाएगा। जहाँ न तुम्हारा कोई स्वजन रहेगा, न तुम्हारे रहने के लिये हवेली होगी और न ही तुम्हारे बैठने के लिये घोड़ा गाड़ी या मोटर होगी। सुनसान स्थान पर केवल छ हाथ जमीन खोदकर तुम्हें गाड़ दिया जाएगा और चंद दिन बाद ही उस पर हल चलने लगेंगे या घास ऊग जाने पर उसे जानवर चरेंगे। तुम्हें कौन फिर याद करेगा और तुम्हारी जीवनभर कमाई हुई दौलत किस काम आएगी?

इसलिये बंधुओ, हमें संसार की अनित्यता को स्मरण रखते हुए कभी नहीं भूलना है कि जीवन भी क्षणभंगुर है। और इसीलिये बिना समय बर्बाद किये धर्म के स्वरूप को समझ लेना है तथा आत्मकल्याण के सच्चे उपायों को जान लेना है। मृत्यु के पश्चात् बोधि अत्यन्त दुर्लभ है—बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो सकती है। गया हुआ समय कभी लौटकर नहीं आता -

'यदतीतमतीतमेव तत्।'

जो गया सो गया। हाथ से छूटा हुआ तीर पुनः हाथों में आना कठिन है। इसी प्रकार दोबारा मानव जीवन की उपलब्धि होना भी सरल नहीं है। क्षण-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षण में क्षीण होती हुई आयु समाप्त हो गई और धर्माचरण न किया गया तो मानव-जन्म के लक्ष्य की सिद्धि होना असभव है। क्योंकि धर्माचरण से रहित मनुष्य अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करते रहता है।

खेद की बात है कि मृत्यु को पहचानता हुआ भी मानव केवल अपने वर्तमान को देखता है और भविष्य के संबंध में नितान्त उपेक्षा की वृत्ति रखता है। कदाचित् कभी भविष्य की ओर देखता भी है तो इस प्रकार मानों उसे सदैव जीवित ही रहना है। 'मैं' और 'मेरी' के संकल्प-विकल्पों में उलझा हुआ वह, उन्हीं की संतुष्टि के प्रयत्न में रहता है।

वह भूल जाता है कि इस लोक में संचित किया हुआ धन परलोक में तो काम आता ही नहीं, उलटे अवसर पड़ने पर इस लोक में भी सहायक नहीं बनता। हम देखते ही हैं कि अनेक बार अशुभ कर्मों के उदय होने पर व्यक्ति मानसिक या शारीरिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है और लाखों रुपया लुटा देने पर भी उनसे छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार सर्वस्व त्याग देने पर भी वह मौत से नहीं बच पाता। तो बताइये, धन इस लोक में भी क्या काम आया ? यही बात स्वजन-परिजनों के संबंध में भी है। जिस प्रकार धन से रोग नहीं हटाये जा पाते और मृत्यु से नहीं बचा जाता, उसी प्रकार स्वजन-परिजन भी किसी को मृत्यु से नहीं बचा सकते। कहा भी है—

कौन बचाएगा तुझको जब मृत्यु दूत घेरेंगे।
आसपास हो खड़े स्वजन सब टुकुर-टुकुर हेरेंगे॥

इसलिये मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य यही है कि वह प्राप्त-जीवन का सम्पूर्ण लाभ उठाकर आत्मकल्याण करे। प्रकृति ने उसे असीम शक्तियाँ प्रदान की हैं, जिनकी सहायता से वह ऊँचे से ऊंचा उठ सकता है, यहाँ तक कि परमात्मा का पद भी पा सकता है। पर यह सहज ही हो सकनेवाला नहीं है। इसके लिये धर्माराधन करना पड़ेगा, शास्त्रों के विधानों को अपनाना होगा, भूतकाल के पापों का प्रायश्चित करते हुए भविष्य में उत्कृष्ट भावनाओं को हृदय में स्थायी स्थान देना होगा तथा सद्गुणों की सौरभ से जीवन को महकाना होगा।

ऐसा करने पर ही श्रद्धाशील एवं विवेकी साधक स्व एवं पर का कल्याण करने में समर्थ बनता हुआ अक्षय शांति और अनन्त सुख का भागी बनेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१२ | मन के मते न चालिये

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारा जैन दर्शन मन, वचन एवं काया को स्थिर रखते हुए एकाग्र चिंतन का आदेश देता है। यानी मन को स्थिर करो, वचन को काबू में रखो और काया को भी अनुशासनपूर्वक चलाओ। क्योंकि ये तीनों ही पापों का उपार्जन करते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चारों कषाय मोह को भी साथ लेकर जब मन, वचन और शरीर, इन तीनों योगों से मिलते हैं तो कर्मों का बंधन होता है। यद्यपि तीर्थंकर में भी मन, वचन और काया ये तीनों योग होते हैं, किन्तु उनके कर्म नहीं बँधते। इसका कारण यही है कि उनमें कषाय नहीं होते। जहाँ कषाय होते हैं वहीं कर्म बँधते हैं। इसलिये जहाँ कषायों पर प्रतिबंध लगाना आवश्यक है वहाँ तीनों योगों को भी काबू में रखना जरूरी है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है:—

तुलसी ये तन खेत है, मन वच कर्म किसान।
पुण्य, पाप दो बीज हैं बवे सो लवे सुजान॥

दोहे में बड़ी सुन्दर बात बताई गई है कि मनुष्य का शरीर एक खेत के समान है और मन, वचन तथा कर्म ये किसान हैं। ये तीनों किसान खेती करते हैं और फसल पैदा किया करते हैं। प्रश्न उठता है कि मन, वचन और कर्म-रूपी किसान इस शरीर रूपी क्षेत्र में बीज किस प्रकार के बोते हैं? उत्तर दोहे में आगे दिया गया है कि शरीर-रूपी खेत में बोये जा सकनेवाले बीज दो प्रकार के होते हैं। एक पाप के और दूसरे पुण्य के। तो तीन योग रूपी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किसान अगर पाप के बीज बोते हैं तो उनसे पाप कर्मों का बंधन होता है और पुण्य के बीज बोते हैं तो पुण्य कर्मों का। पाप कर्मों का बंध होना आत्मा के लिये अशुभ है और पुण्य कर्मों का बंधन होना शुभ।

पद्य में आगे कहा है—बवे सो लवे सुजान।' जैसा बोयेंगे वैसा ही फल प्राप्त होगा। बाजरा बोने पर गेहूं नहीं मिलेगा और चने बो देने से चावल पैदा नहीं होंगे। गेहूँ पैदा करने के लिये गेहूँ ही बोने पड़ेंगे और चावल प्राप्त करने के लिये चावलों को बोना पड़ेगा। बाजरा बोकर गेहूँ पाने की इच्छा रखना और चने बोकर चावल प्राप्त करने की अभिलाषा करना मूर्खता है।

बंधुओ ! आप सोचेंगे कि हम ऐसे मूर्ख कदापि नहीं है जो बाजरा बोकर गेहूँ और चने बोकर चावल पाने की आशा रखें। आपका यह विचार गेहूँ और चने की दृष्टि से तो बिलकुल ठीक है और आप बहुत समझदार हैं यह मैं मानता हूँ। किन्तु मैं यह जरूर कह सकता हूँ कि आप पापों के बीज बोकर पुण्य की फसल प्राप्त करना चाहते हैं और इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

जरा दृष्टि फैलाकर देखिये कि इस संसार में मनुष्य करता क्या है और उसका फल क्या चाहता है ? आज का मनुष्य बीड़ी, तम्बाकू, सिगरेट यहां तक कि शराब पी-पीकर भी स्वस्थ रहना चाहता है, बेइमानी, धोखेबाजी और अनीति से अतुल धन कमाकर उसका एक अंश-मात्र दान के नाम से निकाल कर महादानी कहलाना चाहता है, अपने हृदय में क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषायों को ज्यों का त्यों रहने देकर स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा रखता है, ईर्ष्या, द्वेष, मोहादि दुर्गुणों को मन से न निकालकर भी सद्गुणी और सदाचारी कहलाना चाहता है, किताबी शिक्षा हासिल करके अपने कुतर्कों से लोगों को निरुत्तर करके अपने आपको ज्ञानी सिद्ध करना चाहता है। इतना ही नहीं वह अन्तरंग को न छूनेवाली केवल जबान व शरीर से की जाने वाली थोथी भक्ति, पूजा और उपासना से भगवान को भी भुलावा देकर उसे खुश करना चाहता है। सारांश यही है कि वह अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ तो कर्म बंधनों को उत्पन्न करने वाली करता है, किन्तु उनके द्वारा आत्मा के कर्ममुक्त हो जाने की आकांक्षा रखता है।

तो बताइये भला, यह सब पापों के बीज बोकर पुण्य-रूपी फसल को काटने की इच्छा रखना नहीं तो और क्या है ? आप सुनार को देंगे तो पीतल और उससे अपेक्षा रखेंगे कि वह सोने के आभूषण आपको बना दे। तो क्या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह संभव है ? नहीं, सुनार पीतल लेकर आपको सोने के जेवर नहीं देगा। इसी प्रकार परमात्मा भी आपकी कपट क्रियाओं के बदले में आपको सच्चा सुख अथवा मुक्तावस्था कभी भी प्रदान नहीं करेगा।

नेकनीयती का परिणाम

बम्बई की एक घटना सुनने में आई थी कि एकबार किसी श्रीमंत की जेब से एक पुड़का, जिसमें सत्रह हजार रुपयों के नोट थे, कहीं गिर गया। बम्बई जैसे शहर में जहाँ पॉकेटमार और गुंडे कदम-कदम पर मिलते हैं जो कि क्षण भर में व्यक्ति को छुरा मारकर पैसा छीन लेते हैं या फिर ऐसी सफाई से जेब काटकर चंपत हो जाते है, वहाँ सत्रह हजार रुपयों का पुड़ा पुनः मिल जाना कहाँ संभव है। किन्तु संयोग वश वह पुड़ा एक निर्धन किन्तु सत्यवादी और ईमानदार व्यक्ति को मिल गया।

सत्रह हजार रुपये लेकर वह व्यक्ति अपने घर आया और अपनी पत्नी से उसने यह बात बताई। हालांकि अगर वे दरिद्र दंपति चाहते तो सत्रह हजार रुपया सहज ही अपने पास रखकर जीवन भर के लिये अपनी दरिद्रता दूर कर सकते थे। किन्तु जैसा धर्मपरायण वह व्यक्ति था वैसी ही उसकी पत्नी थी, धर्मपत्नी कहना चाहिये उसे। पति की बात सुनकर वह बोली—

"यह रुपया हमें जिसका है उसे ही लौटा देने का प्रयत्न करना चाहिये। अगर और किसी को यह मिल गया होता तो वह कदापि लौटाने की बात नहीं सोचता, किन्तु अच्छा हो हुआ जो आपको मिला। हमें तो दूसरे का धन रखना ही नहीं है। करना भी क्या है ? इन नोटों के बिना भी हम भूखे तो रहते नहीं, ईश्वर पेट भरता ही है। उसकी सृष्टि में चींटी को कन भर और हाथी को मन भर भी अवश्य मिलता है।"

कवि सुन्दरदास जी ने भी यही कहा है—

काहे को फिरत नर दीन भयो घर-घर,
देखियत तेरो तो आहार इक सेर है।
जाको देह सागर में सुन्यो शत योजन को,
ताहू कुँ तो देत प्रभु या में नहीं फेर है।
भूखे कोऊ रहत न, जानिये जगत मांहि,
कीरी अरु कुंजर सबन ही को देत है।
सुन्दर कहत विश्वास क्यों न राखे शठ,
बेर-बेर समझाय कह्यो केती बेर है॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस पद्य में तृष्णा के मारे हाय-हाय करने वाले पुरुष को संबोधित करके कहा गया है—अरे मूढ़ ! तू इस प्रकार दीन होकर क्यों • घर-घर मारा-मारा फिरता है ? देखी हुई बात है कि तेरा पेट तो बहुत भी खाए तो सेर भर आटे में भर सकता है, पर प्रभु तो समुद्र में रहनेवाले प्राणी के चार कोस लम्बे शरीर को भी खुराक पहुँचा देते हैं। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि संसार में कोई भी प्राणी भूखा नहीं रहता। ईश्वर चींटी और हाथी सभी का पेट भरता है। क्या मैंने यह बात तुझे बार-बार नहीं समझाई है ? फिर क्यों नहीं इस पर विश्वास करके रात-दिन हाय-हाय करता है।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि सत्रह हजार रुपये प्राप्त करने वाले निर्धन व्यक्ति की पत्नी ने अपने पति से कहा कि हमें यह रुपया पराया धन मानकर अपने पास नहीं रखना है और आप कोशिश करो कि जिसका यह रुपया है, उसे ही मिल जाय।

'नेकी और बूझ बूझ।' पति तो यह चाहता ही था। अतः वह सीधा थाने में पहुँचा और थानेदार के समक्ष रुपयों का पुड़ा रखते हुए उन्हें सारी बात बताई। थानेदार उस निर्लोभी व्यक्ति की सचाई से अत्यन्त प्रभावित हुआ और मन ही मन उसके समक्ष श्रद्धा से मस्तक झुकाते हुए उसने नोटों को वहाँ जमा किया।

ठीक उसी समय वह श्रीमंत भी, जिसके नोट गुम गए थे, वहाँ आया और उसने अपने रुपये गुम हो जाने की रिपोर्ट लिखानी चाही। उसी समय उसकी दृष्टि थानेदार के समक्ष मेज पर पड़े हुए रुपयों के पुड़े पर पड़ी और उसने कहा—"थानेदार साहब ! यही मेरा नोटों का पुड़का है। मैं ही इसका मालिक हूँ।"

थानेदार बोला—"आपके कितने रुपये पुड़े में थे ?"

उत्तर देने के लिये सेठ ने मुँह खोला ही था कि उसके मन में विचार आया—'अगर मैं सत्रह हजार रुपयों के लिये ही कहता हूँ तो अभी इसमें से इसे पाने वाले व्यक्ति को इनाम देना पड़ेगा। अतः एक हजार अधिक बता दूँ तो यह साबित हो जाएगा कि एक हजार रुपया इसे यहाँ लाने वाले ने रख लिया है तो फिर उसे कुछ देना नहीं पड़ेगा।'

यह विचार कर उस बदनीयतवाले श्रेष्ठि ने उत्तर दिया—"थानेदार साहब ! इस पुड़के में मेरा अठ्ठारह हजार रुपया था।"

थानेदार चकराया, पर उसने पुड़ का लाने वाले व्यक्ति से जो कि तब

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तक वहीं था इस विषय में पूछा। व्यक्ति निर्धन अवश्य था किन्तु नीयत का साफ था। उसने पहले भी कहा था और पुनः थानेदार के पूछने पर भी कह दिया—"साहब, मैंने एक पाई भी इसमें से नहीं रखी है जैसे का तैसाही आपके पास लेकर आया हूँ।"

सत्य बोलने वाले का चेहरा छिपता नहीं, थानेदार को पहले ही उसका विश्वास था पर नोटों के मालिक के कहने पर पुनः उसे पूछना पड़ा और उसके उत्तर से उनका विश्वास पक्का हो गया कि इस व्यक्ति ने सचमुच ही एक पैसा भी इसमें से नहीं रखा है। इसके अलावा धन के मालिक का चेहरा स्वयं ही चुगली खा रहा था कि यह झूठ कह रहा है।

थानेदार को मन ही मन उस पर बड़ा क्रोध आया पर अपने काम करने के तरीके को ध्यान में रखते हुए उसने शांति से सेठ को संबोधित करते हुए कहा "सेठ जी! अगर आपके पुड़े में अठारह हजार रुपये थे तो निश्चय ही आपका रुपयों का पुड़का दूसरा होगा। अतः आप इस समय तशरीफ ले जाइये और अगर आपके रुपयों के पुड़े का हमें पता चलेगा तो हम आपको बुलवा भेजेंगे, अपना पता दे जाइये।"

साथ ही उस निर्धन व्यक्ति से कहा —"भाई! यह रुपया तुम्हें मिला है अतः अभी तुम इसे ले जाओ। अगर इसका मालिक हमें मिलेगा तो हम तुमसे यह रुपया मंगवाकर उसे सौंप देंगे, अन्यथा तुम्हें मिला हुआ रुपया तुम्हारा है। तुमने चोरी तो की नहीं है जो किसी प्रकार का भय हो।"

तो बंधुओ, फिर उस पुड़े का मालिक कहाँ मिलता? अतः रुपया निर्धन व्यक्ति को मिल गया और असली मालिक अपनी कपट नीति पर सिर पीटता हुआ वहाँ से चल दिया। क्योंकि उसके एक कथन के बाद दूसरी प्रकार की बात कहने पर कैसे विश्वास किया जाता?

इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि रुपयों का मालिक सेठ झूठ बोलकर अपना पैसा तो लेना चाहता ही था साथ ही बिना दिये भी एक हजार रुपये का इनाम देने की उदारता को अपने नाम के साथ जोड़ना चाहता था। यही आज के मानव की करतूत है। क्या वह झूठ बोलकर पाप का बीज नहीं बो रहा था? और उसका परिणाम दान या उदारता के पुण्य-फल के रूप में नहीं चाह रहा था? निश्चय ही वह ऐसा चाहता था और इसीलिये मैं कहता हूँ कि आज व्यक्ति भले ही बाजरा बोकर गेहूँ और चना बोकर चावल न चाहे पर पाप का बीज बोकर पुण्य की फसल तो प्राप्त करना चाहता ही है जबकि पुण्य की फसल पुण्य का बीज बोकर ही प्राप्त की जा सकती है। जिस प्रकार उस निर्धन व्यक्ति ने अपनी नेकनीयती से प्राप्त की।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मन महाराज

अब हमें यह देखना है कि पाप का बीज किसकी सहायता से बोया जाता है ? यद्यपि मैंने अभी आपको बताया था कि कषाय जब मन, वचन और काय इन तीनों योगों से मिलते हैं तब पापों का जन्म होता है। पर मुझे अपनी इस बात में थोड़ा सा संशोधन करना है। वह यही कि कषाय के साथ तीनों योगों के मिलने से पाप का बीज बोया अवश्य जाता है किन्तु इन तीनों योगों का मुखिया मन है और इसीलिये वचन और काया की अपेक्षा कषायों के साथ मन का सहयोग अधिक होता है पापों के जन्म लेने में।

इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि पापों का मुख्य कारण मन है। वचन और शरीर तो केवल इसके आदेशानुसार चलते हैं। जब तक मन नहीं जीता जाता, कषाय शांत नहीं होते और मनुष्य इन्द्रियों का गुलाम बना रहता है। लोकभाषा में कहा जाता है

'जिसने मन पर ताबा मिलाया, उसने सब मिला लिया।
जिसने मन पर काबू नहीं पाया उसने सब गमा दिया।

पुंडरीक राजा ने अपनी हजारों वर्षों की तपस्या को मन पर अंकुश न रख पाने के कारण तीन दिन में ही खो दिया। तात्पर्य यही है कि मन की शक्ति बड़ी जबर्दस्त है। अगर यह संसार की तरफ आकृष्ट हो जाता है तो आत्मा को अधोगति दिलाता है और अगर संसार से विमुख हो जाता है तो इससे मुक्ति दिलाकर छोड़ता है।

एक संस्कृत श्लोक में भी यही बात बताई गई है:—

मन एव मनुष्याणां, कारण बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम्॥

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयासक्त मन बन्धन के लिये है और निर्विकार यानी विषय रहित मन मुक्त माना जाता है।

इस प्रकार हमने यह जान लिया कि पापों का असली जनक मन है, पर अब यह ही जानना चाहिये कि मन किस मुख्य भावना के वशीभूत होकर पापों का उपार्जन करता है ? इस विषय में महापुरुष कहते हैं कि मन जितने भी पापों में हाथ बटाता है उसका मुख्य कारण मोह है। सांसारिक ऐश्वर्य एवं सुख सुविधा के पदार्थों के प्रति आसक्ति या मोह ही मन को कुकर्मों के लिये प्रेरित करता है। धन-दौलत या स्वजन-परिजनों के प्रति जब तक मनुष्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का मोह रहता है तब तक वह अंधे के समान करणीय-अकरणीय का विचार किये बिना वचन तथा शरीर को साथ लेकर पापों का बीज बोता रहता है।

इसीलिये भक्त तुलसीदास जी ने परेशान होकर भगवान से कहा है—

माधव, मोह पाश किम छूटे ?
बाहर कोटि उपाय करिये, अभ्यंतर ग्रन्थि न छूटे।

माधव.... ॥

अपने अन्तर्द्वन्द्व से घबराकर कवि कह रहे हैं—हे कृष्ण ! इस मोह रूपी जबर्दस्त पाश से मैं किस प्रकार छूट सकूँगा ? बाहर से करोड़ों उपाय करता हूं। पूजा, भक्ति जप-तप आदि में मन को लगाए रखने का तथा कर्मों से मुक्त होने का नाना विध प्रयत्न करता हूँ किन्तु यह मोह रूपी आंतरिक ग्रंथि तो खुल ही नहीं पा रही है। और ऐसी अवस्था में मेरा किस प्रकार कल्याण हो सकेगा ?

वास्तव में ही मोह के द्वारा मनुष्य बिना बाँधे हुए भी बड़ी कड़ाई से बंधा रहता है। पशुओं को खूटे से बाँधा जाता है पर कभी वह जोर लगाकर रस्सी तोड़ देता है और कभी खूंटा ही उखाड़ डालता है किन्तु मोह के इस आभ्यंतर और जबर्दस्त पाश को तोड़ना बड़ा ही कठिन होता है।

मोह में बंधे रहने के कारण मनुष्य को कहीं भी चैन नहीं पड़ती। दो दिन संतों के यहाँ ठहर गए तो तीसरे दिन ही भागने के लिये उतावले हो उठते हैं कि घर पर बाल-बच्चे परेशान हो रहे होंगे या कि दुकान और फैक्टरी का नुकसान होगा। मोह के विषय में कहाँ तक कहा जाय ? व्यक्ति घरबार छोड़ देता है, राज्य-पाट त्याग देता है, क्रोध, मान और माया को भी घटा कर ग्यारहवें गुण स्थान तक पहुँच जाता है, किंतु मोह का एक झोंका आते ही वह पुनः फिसलकर नीचे आ गिरता है। बड़े-बड़े साधक, महात्मा और संयमी पुरुष भी, मोह के वशीभूत होकर अपनी साधना को मिट्टी में मिला लेते हैं। मोह के नष्ट हुए बिना अन्य समस्त बाह्यक्रियाएँ किस प्रकार व्यर्थ चली जाती हैं, इस बात को कवि ने उदाहरण देते हुए इस प्रकार समझाया है—

घृत पूरण कड़ाह अन्तर्गत, शशि प्रतिबिंब दिखावे।
ईंधन अग्नि लागत कल्पशत, औटत नाशन पावे ॥

माधव.....।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

घी से पूर्णतया भरी हुई एक कड़ाही है और उसमें चन्द्रमा का प्रतिबिंब पड़ रहा है। पर सैकड़ों कल्पों तक ईंधन जलाकर ओटाते रहने पर भी चन्द्रमा को नष्ट नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार वर्षों तक जप-तप-पूजा उपासना आदि बाह्यक्रियाएँ करते रहने पर भी अगर वे अन्तर्मन को नहीं छूतीं तो कर्मों का नाश नहीं हो सकता तथा आत्मा संसार मुक्त नहीं हो सकती। भले ही कोई द्रव्यलिंगी मुनि ही क्यों न हों और वे पाँच समिति और तीन गुप्तियों का पूर्णतया खयाल रखते हुए अपने आचार का भली-भाँति पालन करते हों। किन्तु उनकी समस्त क्रियाएँ भी अगर मन पर पूर्ण संयम रखते हुए न की जाँय तो उनसे जैसा लाभ होना चाहिये, नहीं हो पाता। दूसरे शब्दों में मुनि भले ही व्यवहार चारित्र का पूर्णतया पालन करते हों पर अगर वे निश्चय चारित्र नहीं अपनाते तो आत्मा को जन्म-मरण से मुक्त नहीं कर पाते।

अभिप्राय यही है कि अन्तरंग को जोड़े बिना, अर्थात् मन पर संयम रखे बिना बाह्य क्रियाएँ चाहे जितनी और चाहे जितने वर्षों तक की जाय वे पापों को नष्ट नहीं कर सकतीं जिस प्रकार चन्द्रमा के प्रतिबिंब को वर्षों कड़ाही में औंटाने पर भी चन्द्रमा नष्ट नहीं किया जा सकता।

लोक व्यवहार में ही आप देखते हैं कि अगर किसी पेढ़ी का मालिक अल्पवयस्क है, किन्तु उसका मुनीम ईमानदार और नमक-हलाल है तो वह पेढ़ी को सम्हाल लेगा और अपने मालिक के प्रति बफादार होने के कारण पेढ़ी को धक्का नहीं लगने देगा। अपना आत्मा भी जीवन रूपी पेढ़ी का मालिक है और मन उसका मुनीम। अगर यह मन रूपी मुनीम जीवन-रूपी पेढ़ी के मालिक आत्मा का वफादार और हितचिन्तक है तो वह वचन एवं शरीर रूपी अन्य समस्त कर्मचारियों को अपने अनुशासन में सही मार्ग पर चलाता हुआ इस दुर्लभ जीवन-रूपी पेढ़ी को कदापि धक्का नहीं लगने देगा यानी इसे निरर्थक नहीं जाने देगा। और इसका पूर्णतया सदुपयोग करके शुभ कर्म रूपी नफा आत्मा को सौंप देगा। पर अगर यह अपने ही स्वार्थ यानी इन्द्रियों के विषयों के प्रति मोह में पड़ गया तो आत्मा को अपनी जीवन-पेढ़ी से कोई लाभ नहीं होगा और यह मन-मुनीम उसे जबर्दस्त घाटा दिला-कर पुनः भव-सागर में गोते लगाने के लिये बाध्य कर देगा।

भजन में आगे कहा गया है.—

तरु कोटर मँह बसे विहंगम, तरु काटे न मरे जैसे,
साधन कार्य विचार हीन मन, सिद्ध होय न तैसे।

माधव·····।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ पुनः एक उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार एक पेड़ के कोटर में बैठा हुआ पक्षी उस पेड़ को काट देने पर भी नहीं मरता, उसी प्रकार ऊपरी साधना, भक्ति, तपस्या एवं अन्य बाहरी क्रियाएँ करने पर भी मन रूपी कोटर में बैठा हुआ कषाय रूपी पक्षी नहीं मरता। उसे नष्ट करने के लिये तो सीधे ही मन-कोटर में प्रवेश करके काम अथवा कषाय रूपी विहगम को पकड़ना पडेगा।

अर्थ स्पष्ट है कि विवेक रहित साधना करने से या बाह्य साधना के साथ ही मन को न साध पाने से मनुष्य को कभी इच्छित सिद्धि हासिल नहीं हो सकती।'

अब भजन में तीसरा उदाहरण दिया गया है—

अन्तर मलीन विषय मन मति, पावन करीये पखारे।
मर हीं न उरग अनेक यतन करी बाल्मीक विविध-विध मारे॥
माधव .....॥

कहते हैं—जब तक मन विषय—विकारों की गंदगी से मलिन है, तब तक साधना में शुद्धि कैसे आ सकती है और अशुद्ध साधना से कर्म किस प्रकार कट सकते हैं? व्यक्ति अगर कोई कपड़ा रंगना चाहे तो पहले उसे कपड़े को पूर्णतया साफ करना पड़ेगा और तभी उस पर इच्छित रंग चढ़ेगा। इसी प्रकार मन पर भक्ति और विरक्ति का रंग चढ़ाने के लिये भी उसे पहले उसी प्रकार शुद्ध और स्वच्छ बनाना पड़ेगा जिस प्रकार किसान बीज बोने से पहले खेत में रहे हुए घास-फूस व काँटों को हटाता है। जब तक खेत साफ नहीं हो जाता तब तक उसमें बीज नहीं बोये जाते और बोने पर फसल अच्छी प्राप्त नही होती, उसी प्रकार मन के शुद्ध न होने पर उसमें शुद्ध कर्मों के बीज प्रथम तो बोये ही नहीं जा सकते और अगर बोने का प्रयत्न किया जाय तो वे फसल के रूप में नहीं आ सकते। इसलिये सबसे पहले मन को शुभ विचारों से पखार लेना चाहिये तभी हमारा मन-चाहा हो सकता है।

पद्य में सर्प और बांबी का उदाहरण भी दिया गया है कि सर्प अगर बांबी में छिपा बैठा है तो बांबी पर चाहे जितने प्रहार किये जाँय वह मर नहीं सकता इसी प्रकार मन रूपी बांबी में विषय विकार या कषाय का सर्प छिपा बैठा है तो शरीर को तपादि के द्वारा सुखा देने पर भी वह नाश को प्राप्त नहीं हो सकता। मैंने बचपन में एक भजन याद किया था—

मन मेला तन का अति उज्ज्वल, बगले जैसा तोल।
घोड़ा काष्ट का होंसन पूरे, बाजे न फूटा ढोल॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मन दुर्गुणों की मलिनता से भरा हुआ है उसे बगुले के समान समझना चाहिये।

ऐसे शरीर के होने से जीव को कुछ भी लाभ नहीं होता जिस प्रकार काठ का घोड़ा सवारी का लाभ नहीं देता और फूटा हुआ ढोल अपनी मधुर ध्वनि से शुभ समारोहों को पूर्ण सफल नहीं बना सकता।

इसी भजन में आगे कहा है—

समझ समझ कर बोल अज्ञानी,
समझ-समझ कर बोल।

अज्ञानी मनुष्य को संबोधित करते हुए सीख दी है कि भाई! तू अपनी बुद्धि का प्रयोग करता हुआ बहुत सावधानी से बोल, अन्यथा वह उसी प्रकार व्यर्थ चला जाएगा, जिस प्रकार फूटे हुए ढोल का कर्णकटु शब्द निरर्थक जाता है।

वाणी-वाणी में अन्तर

एक सेठ जी थे उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया तो उन्होंने दूसरा विवाह किया। दूसरी पत्नी निर्धन घर की थी और उसके एक भाई के अलावा कोई भी नहीं था।

जब उनकी पत्नी ने अपनी ससुराल को सम्पन्न देखा तो अपने पति, सेठ जी से बोली—"आपके यहाँ धन की कमी नहीं हैं और इतने आदमी पल रहे हैं तो मेरे भाई को भी अपनी दुकान में किसी काम पर लगा लीजिये।"

सेठजी ने उत्तर दिया—"सेठानी! तुम कहो तो हम तुम्हारे भाई को हजार-दो हजार रुपया साल अथवा और भी किसी प्रकार की सहायता करने के लिये तैयार हैं। किन्तु उसमें दुकान पर रहने लायक योग्यता नहीं है, दुकान का काम तो कोई होशियार व्यक्ति ही कर सकता है।"

इस बात पर सेठानी बहुत नाराज हुई और यह देखकर सेठ जी ने अपने साले को दुकान पर काम करने के लिये रख लिया।

कुछ समय बाद सेठ और सेठानी तीर्थ यात्रा के लिये गये और जब लौट कर आए तो उन्होंने अपने साले को वहाँ के राजा के पास राजदरबार में भेजा। साथ में बहुत सी सौगात थी जो कि राजा को भेंट करने के लिये थी। जब राजा ने सुना कि अमुक श्रेष्ठि तीर्थ यात्रा से लौटे हैं तो उन्होंने सहजभाव से पूछ लिया—"कहो भाई! सेठजी हमारे लिये क्या लाए हैं?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साले साहब को और किसी चीज का नाम बताना तो हड़बड़ी में याद नहीं रहा छूटते ही बोल पड़े—"सेठ साहब तीर्थ यात्रा से आपके लिये 'राख' लाये हैं।"

यह सुनते ही राजा को क्रोध आ गया। राजा लोग होते भी ऐसे ही है क्षणभर में ही वे रुष्ट हो जाते हैं और क्षणभर में तुष्ट। तो जब राजा ने सेठजी के साले की यह बात सुनी तो वे नाराज हो गए और उन्होंने साले जी को दरबार से निकलवा दिया। साथ ही कहा—"मुझे क्या तपस्या करनी है जो राख लेकर आए हो।"

सेठजी ने जब सारा वृत्तान्त सुना तो बड़े चिंतित हुए। राजा से विरोध करके नगर में रहा भी कैसे जा सकता है? पर उनकी चिंता को उनके मुनीम जी ने मिटाने का वचन दिया और कुछ दिन ठहर कर वे भी एक दिन राजा के दरबार में सेठजी की ओर से सौगात लेकर पहुंचे। राजा ने उनसे भी पूछा— "क्या लाए हैं सेठजी हमारे लिये?"

अनुभवी मुनीम जी ने बड़ी शांति से लाई हुई सभी चीजें राजा को बताई और उसके पश्चात् कहा—"हुजूर! सेठ साहब एक विशेष चीज और वह भी केवल आपके लिये ही लाए हैं। यह कहकर उन्होंने मखमल में लपेटी हुई अत्यन्त सुन्दर और छोटी सी डिब्बी निकाली और राजा की ओर बढ़ाते हुए कहा—

"महाराज! इस डिब्बी में सेठ साहब ऐसी चमत्कारिक भस्म लाए हैं जिसका प्रयोग करने पर कैसी भी भयंकर बीमारी क्यों न हो, मिट जाती है। बड़ी कठिनाई से एक बड़े भारी तपस्वी से इसे प्राप्त किया गया है सिर्फ आपके लिये ही।

राजा यह सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—

"ओह! सेठजी कितना ध्यान रखते हैं मेरा? उन्होंने बड़ा अच्छा किया, मेरी तबियत भी ठीक नहीं रहती है।"

बंधुओ! बात एक ही थी। सेठजी के साले भी वही राख लेकर गए थे और मुनीम जी भी उसे ही लेकर गए। किन्तु बोलने के ढंग से जमीन आसमान का अन्तर पड़ गया। विवेक पूर्वक और बुद्धि सहित बोलने से अनर्थ टल जाता है और बिना विवेक बोलने से अर्थ का भी अनर्थ हो जाता है। कहा भी है—

बुद्धि थोड़ी ने बहु भरमे, जिन समझ मोहाना वेण भरडे।
समझणे बिना कहेशे सांचू, एक बहुना बिना सगेलू कांचू।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस व्यक्ति में बुद्धि कम होती है वह अपने आपको बुद्धिमान साबित करने के लिये अधिक बोलता है तथा अपने से बड़ों के वचनों की काट करता रहता है। यह विवेक की कमी के लक्षण हैं।

किन्तु इसके विपरीत जो विवेकवान होता है वह बहुत सोच विचारकर थोड़ा और उपयोगी बोलता है। ठीक एक सुनार के समान जो कि सोने को तोलते समय उसका वजन रत्ती भर भी कम या अधिक नहीं होने देता। बात ठीक भी है। बिना सोचे समझे और विवेक की कसौटी पर कसे बिना बोलने का परिणाम अच्छा नहीं निकलता, जिस प्रकार सेठ के साले की राजा से हुई बात का परिणाम निकला था।

तुलसीदास जी के भजन में भी आगे यही बात बताई जा रही है विवेक के अभाव में मानव जन्म के उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। भजन की अन्तिम लाइनें इस प्रकार हैं—

तुलसीदास हरी करुणा बिन, विमल विवेक न होवे।
बिन विवेक संसार घोर निधि पार न पाये कोई॥

माधव·····

कहा है—'हरि की कृपा के बिना बिवेक विमल नहीं हो सकता और शुद्ध विवेक के अभाव में तो यह भयानक भव-सागर पार हो ही कैसे सकता है ?

इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु को चाहिये कि वह सद्गुरु की संगति करे और उनके द्वारा भगवत् वाणी सुनकर उस पर चिन्तन-मनन करते हुए अपनी बुद्धि को निर्मल बनाए और बुद्धि व विवेक की सहायता से अपने चारित्र का सम्यक् रूप से पालन करे। जिस व्यक्ति का विवेक जागृत हो जाता है, वह गुणानुरागी बनता है और बुरी से बुरी वस्तु में से भी अच्छाई को ढूँढ़ निकालता है। आचार्य चाणक्य का कथन है:—

विवेकिनमनुप्राप्ता, गुणा यान्ति मनोज्ञताम्।
सुतरां रत्नमाभाति, चामीकरनियोजितम्॥

विवेकी मनुष्य को पाकर गुण सुन्दरता को प्राप्त होते हैं, सोने में जड़ा हुआ रत्न अत्यन्त सुशोभित होता है।

वस्तुतः विवेकशील पुरुष कीचड़ में पड़े हुए रत्न को भी ग्रहण करते हैं उसे कीचड़ में लिप्त होने के कारण अग्राह्य नहीं करते। विवेक उनमें सत्य, सयम, निर्भयता और पुरुषार्थ को जगाता है। विख्यात दार्शनिक 'शेक्सपियर' ने भी कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"The better hart of valour is discretion."

पराक्रम का प्रमुख अंग विवेक है।

कहने का आशय यही है कि विवेक के जाग्रत हो जाने पर पुरुषार्थ भी सही दिशा में अपना कार्य करता है और उस हालत में वह अपने साधनामार्ग में आने वाली किसी भी बाधा से हतोत्साहित नहीं होता। बल्कि निश्चित होकर अपने मन रूपी मानस में पुण्य के बीजों का वपन करता है। उसका विवेक मानस-क्षेत्र में रही हुई विषय-विकारों की मलिनता को हटाकर उसे शुद्ध बना देता है। और उस स्थिति में ही उसकी भक्ति, उपासना और तप साधना अपना सही प्रभाव डालती है।

विवेकशील व्यक्ति ही अपने मन पर पूर्ण संयम रखता हुआ वचनयोग एवं शरीरयोग को सच्चे धर्म के साथ जोड़ सकता है। पुण्य और पाप की जननी मनुष्य की मनोवृत्ति ही होती है। वह अपने अन्तःकरण के विचारों से ही देवता और दानव बनता है। अगर उसके मानस में करुणा, दया, समता, सहानुभूति और संवेदना की लहरें उठती हैं तो वह निस्संदेह देवता है और अगर ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, ममता एवं निर्दयता का तूफान बहता है तो उसे दानव के अलावा और क्या कहा जा सकता है?

इसलिये बंधुओ, हमें यह अमूल्य मानव-भव पाकर दानव नहीं बनना है अपितु अपने उत्कृष्ट विचारों के अनुसार उत्कृष्ट आचरण करते हुए देवता ही नहीं परमात्मा बनने का प्रयत्न करना है।

एक बात और भी मैं अपको यहाँ बताना चाहता हूँ कि यद्यपि पापकर्मों की अपेक्षा पुण्य कर्म अनन्त गुना श्रेष्ठ हैं, किन्तु पुण्य कर्मों का बंधन कर लेना ही मनुष्य जीवन के लक्ष्य की सिद्धि हो जाना नहीं है। क्योंकि पुण्यों का संचय करके आप भले ही स्वर्ग में देवता या इन्द्र भी बन जाएँ पर आखिर तो वहाँ का आयुष्य पूर्ण होते ही आपको पुनः जन्म और फिर मरण करना पड़ेगा। यानी अनन्त पुण्यों का संचय कर लेने पर भी जीव रहेगा तो संसार ही में। संसार से मुक्त वह नहीं हो सकता। संसार मुक्त तभी हुआ जा सकता है, जबकि पाप कर्मों के साथ-साथ पुण्य कर्म भी समाप्त हो जाँय।

उदाहरण के लिये हम पापों को लोहे की बेड़ी और पुण्यों को सोने की बेड़ियाँ कह सकते हैं। कष्ट कर दोनों हैं। भले ही पापों के कारण जीव को अधिक कष्ट भोगने पड़ते हैं और पुण्य से कम, पर कष्टों की परम्परा समाप्त नहीं हो जाती। जीवन में सुख अवश्य मिल सकते हैं पर जन्म-मरण के दुख कहां जाएँगे? वे तो भोगने ही पड़ेंगे। इसीलिये हमारे शास्त्र पाप और पुण्य दोनों को बंधन मानते हुए कहते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हेमं वा आयसं वावि, बंधणं दुक्खकारणा।
महग्घस्सावि दंडस्स, णिवाए दुक्खसंपदा॥

अर्थात्— बंधन चाहे सोने का हो या लोहे का, बन्धन तो आखिर दुःख-कारक ही है। बहुत मूल्यवान् डंडे के प्रहार से भी दर्द तो होता ही है।

अतः बंधुओ ! आपको यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि पापों का बंधन करने से तो अनेक गुना अच्छा पुण्य कर्मों का बंधन करना है, किन्तु सबसे अच्छा है दोनों का ही बंधन न करना। इसलिये हमें यही भावना रखनी चाहिये कि हम दोनों ही प्रकार के बंधनों से मुक्त होकर सदा के लिये सच्चे सुख को उपलब्ध कर सकें। तभी हमारा मनुष्य जन्म पाना पूर्णतया सार्थक हो सकेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१३ | कहाँ निकल जाऊँ या इलाही !

धर्म प्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज अपने विचार आपके समक्ष रखने से पहले मैं एक गाथा आपके समक्ष रख रहा हूँ। इस वह प्रकार है—

पुरिसो ! रम पावकम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काम मुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुड़ा ॥

गाथा में कहा गया है—हे पुरुष ! तुम पाप-कर्मों से विरत हो जाओ। काम-भोगों में मूर्छित रहने से तथा मोह में ग्रस्त रहने से तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकेगा। असंवृत्त जीवन त्याग कर तुम निरासक्त भाव अपनाओ, क्योंकि मनुष्य का जीवन बहुत थोड़ा होता है।

आज के युग में हमारे अनेक भाई इस बात पर ध्यान नहीं देते। वे कहते हैं—स्वर्ग और नरक किसने देखा है ? कहीं कुछ भी नहीं है। जो है वह यही जन्म है, खाओ, पीओ मौज करो। उनका कथन है।

लोकायता वदन्त्येव, नास्ति देवो न निर्वृत्तिः।
धर्माधर्मौ न विद्यते, न फलं पुण्य-पापयोः ॥
पंचभूतात्मकं वस्तु, प्रत्यक्षं च प्रमाणकम्।
नास्तिकानां मते नान्यदात्माऽमुत्र शुभाशुभम् ॥

अर्थात् न तो कोई परमात्मा है न ही मुक्ति, न धर्म है और न अधर्म और न ही पुण्य या पाप का फल ही भोगना पड़ता है। यह समग्र संसार मात्र पाँच भूतों में ही समाविष्ट है। यानी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के अलावा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। हम जो कुछ प्रत्यक्ष में देखते हैं बस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वही प्रमाण है । अनुमान या आगम कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है । परलोक में जाने वाली भी कोई आत्मा नहीं है ।

ऐसी विचारधारा रखने वाले व्यक्ति सांसारिक विषय-भोगों में ही सुख मानते हैं । तथा उन्हें जीवन में अधिक से अधिक भोग लिया जाय ऐसा प्रयत्न करते हैं । उनका जीवन-सूत्र ही यह होता है—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ?

क्या शानदार बात कहते हैं वे ? मनुष्य जब तक जीवित रहे खूब सुखसे रहे तथा पास में पैसा न हो तो ऋण लेकर घी पिया करे । क्योंकि जब यह देह भस्म हो जायेगी तो फिर किस प्रकार सुखों का उपभोग करेंगे ? पुनः-पुनः जन्म-मरण या परलोक तो कुछ है नहीं, भस्म होने के बाद पुनः आना कैसा ? अतः जिस प्रकार बने और जितना भी बने सुख भोगना ही बुद्धिमानी है । तथा इसी में इस शरीर का कल्याण है । उसके अलावा आत्मा और उसका कल्याण क्या ? न तो किसी ने आत्मा को देखा है और न परमात्मा ही दृष्टिगोचर हुआ है । परलोक जाकर भी कभी कोई वापिस नहीं आया जिसने वहाँ के बारे में कुछ बताया हो । और इधर संसार तथा सांस्सारिक सुख तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं । फिर इन प्राप्त सुखों को छोड़कर कल्पित सुखों के लिये प्रयत्न करना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

पर बन्धुओ ! हमें बड़ी गंभीरता और दूरदर्शिता से इस बात पर विचार करना चाहिये । परलोक को देख न पाने मात्र से ही उस पर सन्देह और अविश्वास करना बुद्धिमानी नहीं है । व्यक्ति अपने पिता, दादा या कभी-कभी परदादा को भी देख लेता है । किन्तु अपनी पाँचवीं, छठीं, सातवीं और उससे पहले की पीढ़ियों में हुए पूर्वजों को तो कभी नहीं देख पाता, पर वह उनके होने से इन्कार नहीं कर सकता है । क्या वह यह कह सकता है कि मैंने उन्हें देखा नहीं । नहीं, ऐसा वह नही कह सकता क्योंकि अगर वे नहीं हुए होते तो वह स्वयं कैसे जन्म लेता ?

इससे स्पष्ट हो जाता है कि न देख सकने मात्र से ही किसी वस्तु के अस्तित्व को मिटाया नहीं जा सकता । भविष्य के सहारे तो इस संसार में सभी व्यापार होते ही हैं । किसान भविष्य में फसल प्राप्त करने की आशा से खेतों में बीज बोता है, व्यापारी भविष्य में अर्थ लाभ की आशा से व्यापार में पूँजी लगाता है और मानव वृद्धावस्था में सुख पाने की आशा से पुत्र का लालन-पालन करता है । अगर ये सब भविष्य की आशा न रखकर अपने कार्य छोड़ दें तो फिर संसार की स्थिति क्या हो जायेगी ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमें ऐसी भूल नहीं करनी है तथा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी प्रभु की वाणी पर विश्वास करते हुए आत्मा, परमात्मा तथा जीव और जगत के रहस्य को समझ कर वही करना है जिससे आत्मा का कल्याण हो सके। हमें जीवन की नश्वरता तथा अल्पकालीनता को भी भली-भाँति जान लेना है।

मनुष्य का जीवन अधिक से अधिक कितना है ? तीन पल्योपम का। यह परिमाण अकर्मभूमि के जीवों के जीवन का है। आप संभवतः पल्योपम का अर्थ नहीं समझ पाये होंगे अतः संक्षिप्त में आपको बताता हूं।

कल्पना कीजिये कि एक चार कोस लम्बा, चार कोस चौड़ा और चार कोस ही गहरा कोई कुआ है। उसमें बारीक बाल इस प्रकार ठसाठस भरे हुए हैं कि उन पर से चक्रवर्ती की सेना भी अगर गुजर जाय तो वे दब न सकें। तो बालों से ठसाठस भरे हुए कुए में से एक-एक बाल बाहर निकाला जाय और उन सबको निकालने में जितना समय लगे उसे एक पल्योपम कहते हैं। ऐसे तीन पल्योपमों का आयुष्य जैसा कि मैंने अभी बताया अकर्म भूमि के जीवों के अनुसार होता है।

आप सोचेंगे कि ऐसी अजीब उपमा क्यों दी गई है ? इसका उत्तर यही है कि भगवान् ने जहाँ तक हो सका गिनती बता दी और जब गिनती होना असंभव हो गया तो उपमा के द्वारा समझाया। यह बात सही है कि ऐसा कुआ किसीने भरा नहीं और भरना संभव ही नहीं है किन्तु समय की अधिकता को समझाने के लिये ऐसी उपमा दी गई है।

आप स्वयं भी समझ सकते हैं कि एक बोरी में नारियल भरे हैं, उन्हें गिना जा सकता है। दूसरी बोरी में अखरोट भरे हैं उन्हें भी गिन लिया जा सकता है। तीसरी बोरी में सुपारियाँ हैं, किसी तरह वे भी गिनती में आ सकती हैं किन्तु चौथी बोरी में खसखस के दाने भरे हैं तो बताइये आप उन्हें गिन सकते हैं क्या ? नहीं, उन्हें गिनना संभव नहीं है अतः उनके लिये केवल तौल या माप ही काम आता है। इसी प्रकार आयुष्य के वर्षों की गिनती हो सकनी जब संभव नहीं रही तो भगवान् ने पल्योपम के रूप में समय का अन्दाज करने के लिये माप बता दिया। इस प्रकार हम जान सकते हैं कि माप का काम माप से बजन का तौल से, और गिनती का गिनती से करना चाहिये।

पल्योपम के आधार पर समय का अंदाजा लगाना अविश्वासनीय नहीं है। भगवद् गीता में भी एक श्लोक के द्वारा समय के माप को दूसरे तरीके से बताया है। श्लोक की एक लाइन है —

"चतुर्विध सहस्रांश ब्रह्मणो एकं विदं।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—चार युग निकल जाने पर ब्रह्मा जी का चार प्रहर का एक दिन होता है।

चार युगों में सबसे छोटा कलियुग है। पंचांग में बताया गया है कि कलि-युग चार लाख बत्तीस हजार वर्षों का है। द्वापर युग इससे दुगने समय का, यानी आठ लाख चौसठ हजार वर्षों का। द्वापर से दुगने युग का त्रेता युग था और त्रेता युग से दुगने का सतयुग। इस प्रकार चार युगों के बीत जाने पर चार पहर ब्रह्माजी की रात्रि होती है। ऐसे तीन दिनों का महीना, बारह महिनों का वर्ष और सौ वर्ष की ब्रह्माजी की आयु बतायी गई है।

तो ब्रह्माजी की आयु की भांति अकर्मभूमि के मनुष्यों की आयु इसीप्रकार अधिक से अधिक तीन पल्योपम की हमारे शास्त्र बताते हैं। किन्तु इस कलि-युग के अथवा आज के मनुष्यों की आयु देखते ही हैं कि अधिक से अधिक सौ वर्ष कुछ ही ऊपर, सौ या इससे भी बहुत कम होती है। सौ वर्ष भी मनुष्य जीवित नहीं रह पाते, उससे बहुत पहले ही उनकी आयु समाप्त हो जाती है।

इसलिये प्रारम्भ में बोले गए श्लोक में भगवान् महावीर का उपदेश बताया गया है कि—"हे पुरुष ! मनुष्य जीवन बहुत थोड़ा है और इतने अल्प समय में ही तुम्हें आत्म-कल्याण का प्रयत्न करना है अतः पापों से विरक्त हो जाओ।"

क्रोध, मान, माया, मत्सर, मोह तथा ईर्ष्या-द्वेष आदि पापों के जनक हैं। इनके कारण ही जीव कर्म-बंधनों में जकड़ता जाता है और जन्म-जन्मा-न्तर तक भी उनसे छुटकारा नहीं पाता। अतः इनसे विरक्त होना मानव के लिये आवश्यक है और वही धर्म है। संस्कृत का एक श्लोक देखिये—

यस्य न राग द्वेषौ, नापि स्वार्थो ममत्वलेशो वा।
तेनोक्तो यो धर्मः, सत्यं पथ्यं हितम् मन्ये॥

जिनके न राग है, न द्वेष है, न स्वार्थ है और न ही लेश मात्र भी ममत्व है। ऐसे वीतराग के बताये हुए धर्म को मैं सत्य, उपयुक्त और हितकर मानता हूँ।

वीतराग का अगर कोई आदर सम्मान करे और उनकी पूजा उपासना करे तो वे प्रसन्न नहीं होते और कोई उनका अपमान करे या डंडों से पीटे तब भी वे नाराज नहीं होते। भगवान् महावीर के एक पैर का अंगूठा चंडकोशिक सर्प के मुँह में था और दूसरे पैर पर इन्द्र का मस्तक। फिर भी दोनों के लिये भगवान् के नेत्रों से समान स्नेह-सुधा प्रवाहित होती रही थी।

गौतम स्वामी भगवान् महावीर के सबसे बड़े शिष्य थे लेकिन उनके लिए भी भगवान् के हृदय में कहीं पक्षपात नहीं था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आनंद श्रावक को अवधिज्ञान हुआ था किन्तु जब गौतम स्वामी उनके यहाँ गए और उन्हें आनन्द जी ने यह बात बताई तो गौतम स्वामी ने विश्वास नहीं किया और कहा—"श्रावक जी ! गृहस्थ को इतना बड़ा अवधिज्ञान नहीं हो सकता, अतः अपनी इस गलत बात के लिये आपको प्रायश्चित करना चाहिये। आनंद श्रावक जी ने गौतम स्वामी की बात को बुरा नहीं माना केवल विनम्रता से पूछा—"भगवन् ! प्रायश्चित दोषी को आता है या निर्दोषी को ?"

गौतम स्वामी कुछ उत्तर नहीं दे पाये और सीधे भगवान् के समक्ष आ उपस्थित हुए तथा अपनी शंका बताए हुए आनन्द श्रावक के विषय में पूछा—"भगवन् ! आनन्द जी कहते हैं कि उन्हें अवधिज्ञान हो गया है तो क्या यह यथार्थ है ? गृहस्थ को अवधिज्ञान होना संभव है क्या ?

भगवान् ने उत्तर दिया—"आनन्द श्रावक को अवधि ज्ञान हुआ है यह सत्य है। और गृहस्थ को केवल ज्ञान भी हो सकता है।"

अब समस्या सामने आई कि गौतम स्वामी के आनन्द श्रावक जी को जो गलत साबित किया था उस भूल का सुधार कैसे हो ? आनन्द श्रावक जी गृहस्थ थे और गौतमस्वामी भगवान् के पट्टधर शिष्य।

बंधुओ ! आज हमारे जैसा कोई संत होता तो यही कह देता—"कोई बात नहीं है, मैं श्रावक जी को बुलाकर समझा दूँगा।"

किन्तु भगवान् ने अपने प्रिय शिष्य का भी मुलाहिजा नहीं रखा। स्पष्ट कह दिया—"गौतम ! आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान हुआ है यह तो सत्य है। और उसने तुम्हारे समक्ष जो बात प्रकट की यह भी ठीक ही है। उसकी कहीं भूल नहीं हुई। पर तुमने उसे झूठा साबित किया अतः गलती तुम्हारी है। तुम्हारे शब्दों की प्रतिष्ठा भी गृहस्थ के शब्दों से अधिक है, अतः तुम स्वयं जाकर आनन्द के समक्ष अपनी भूल स्वीकार करो। और खमतखामना करो।"

कितनी उदारता और न्याय प्रियता थी भगवान् के हृदय में ? अहं का लेश भी उनमें नहीं था।

आज तो थोड़ा सा धन भी किसी के पास अधिक हो जाता है तो वह सीधे मुँह किसी से बात नहीं करता। अपने गुरु के पास भी स्वयं न जाकर उन्हें अपने वहाँ बुलवाता है ; और तो और, घर में साधु-साध्वी आहार-पानी के लिए आ जायँ तो उन्हें अपने हाथ से आहार देने में भी लज्जा का अनुभव करता है तथा यह कार्य रसोईदार के जिम्मे छोड़ दिया जाता है। धन के नशे में चूर होने के कारण अपने से तिगुनी उम्र वाले अपने मुनीम-गुमाश्तों को भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपमानित और तिरस्कृत करने में नहीं चूकता। बुजुर्गों की कोई कद्र उसके हृदय में नहीं रह जाती।

किन्तु इसका परिणाम आखिर क्या होता है ? यह जीवन तो थोड़े समय में समाप्त हो जाता है पर अहं के कारण जो क्रोध और कषाय की भावनाएँ उसकी आत्मा पर कर्मों की तहें चढ़ा देती हैं वे उसके साथ ही चलती हैं। कैसी अजीब बात है कि जिस धन के लिए वह जिंदगी भर खटता रहता है और उसके नशे में चूर होकर अन्याय, अनीति, बेईमानी, धोखा सभी कुछ करता है, वह तो यहीं रह जाता है और जिनकी वह चाह भी नहीं करता तथा जिन्हें पाने का प्रयत्न नहीं करता वे कर्म स्वयं ही उससे जुड़कर उसके साथ जाते हैं। यह सब राग, द्वेष और अहंकार के कारण ही होता है।

किंतु वीतराग में इनका लेश भी नहीं होता। भगवान् महावीर के दर्शन करने एक बार महाराज श्रेणिक अपनी सेना और लाव-लश्कर के साथ आया था। साथ ही एक ओर से एक मेंढ़क भी दर्शन करने के लिये आया। पर भगवान् की प्रेम भावना श्रेणिक राजा और उस लघु शरीरधारी मेंढ़क पर समान रही। जबकि एक मनुष्य था और एक छोटा-सा जानवर।

आज तो व्यक्ति मानव-मानव में ही जमीन आसमान का अन्तर कर देता है। आपके यहाँ अगर कोई रईस या ओहदेधारी स्थानक में प्रवचन सुनने आता है तो आप उसे सबसे आगे लाकर बैठाते हैं, किन्तु कोई गरीब आए तो ? उसकी ओर दृष्टि भी डालने की इच्छा नहीं करते जबकि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी वीतराग के मुकाबले में हमारे पास है ही क्या ? उनके ज्ञान के समक्ष हमारा ज्ञान क्या है, सागर के जल में एक बूंद के जितना भी नहीं। जिन चक्रवर्तियों ने अपनी अथाह दौलत छोड़कर अपने आपको संयम मार्ग पर डाल लिया था, उन सगर चक्रवर्ती भरत चक्रवर्ती आदि की दौलत के मुकाबले में आपकी दौलत भी कितनी है ? कुछ भी नहीं, इसी प्रकार शारीरिक बल और सौन्दर्य की भी बात है। कुछ समय पहले ही मैंने बताया था कि चक्रवर्ती की जूठन अर्थात् खारचन-खुरचन खाने वाली दासी भी अपनी चुटकी में मसल कर वज्र-हीरे का चूरा कर देती थी।

कहने का अभिप्राय यही है कि उन महामानवों का मुकाबला हम किसी दृष्टि से रंच-मात्र भी नहीं कर सकते फिर अहं किस बात का ? हम किस बात का गर्व करते हुए राग-द्वेष और मोह के वशीभूत होकर अपने छोटे से जीवन को बर्बाद करते हैं ?

गुजराती भाषा के एक कवि ने अपने भजन में भी कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवो रे रूडो, मनुष्य जन्म शीद खुवे !
संसारी जन कहे अमे छीए सुखिया,
धन पुत्र ने जुवे । आवो रे.....
हैते हलावे ने प्रीते परणावे,
मूआ पच्छी धसको । आवो रे....
मूलचन्द कहे भोली दुनिया,
देखो परखी ने पड़े कूवे । आवो रे

क्या कहा गया है ? यही कि ऐसा उच्च मनुष्य-जन्म पाकर उसे तू कहाँ खोये दे रहा है ? जप, तप भक्ति, साधना कुछ भी तो नहीं करता । क्या इन सबके न करने पर तू भविष्य में सुखी हो सकेगा ?

पर संसारी पुरुष अपने आपको तो धोखा देते ही हैं, सन्त महापुरुषों को भी धोखा देने का प्रयत्न करते हुए कहते हैं—"हम कहाँ अपने जीवन को व्यर्थ गँवा रहे हैं ? बहुत सुख और आराम से रहते हैं । घर में बहुत धन है, परिवार है, पुत्र है और चाहिए भी क्या ?

अरे भाई ! मैं मानता हूँ कि आपके यहाँ सात पीढ़ियों तक चल सकने वाली दौलत है, स्वजन परिजन पुत्र-पुत्रियाँ सभी हैं । और तुम इन सबको लेकर जिसे सुख मानते हो वह तुम्हें मिला हुआ है । किन्तु यह सब कितने दिन का है ? जीवन के पचास-साठ या सत्तर साल ही तो तुम इनसे सुख का अनुभव कर सकते हो । पर उसके बाद ? फिर भी तो तुम्हारी आत्मा विद्यमान रहेगी और कहाँ वह रहेगी । क्या तुम इन सब सुखके साधनों को अपने साथ रख सकोगे ? कहीं नरक, निगोद और तिर्यंच योनि में पहुँच गए तो फिर क्या होगा ? इस सम्पत्ति और परिवार का सुख कैसे भोगोगे ?

स्पष्ट है कि तब तुम्हारे साथ यह कुछ नहीं रहेगा केवल रहेंगे कर्म, जैसे भी तुम यहाँ उपार्जन कर लोगे । पर ऐश्वर्य के मद में भूले रहकर तुम शुभ कर्मों का उपार्जन भी तो नहीं करते हो, फिर स्वयं ही सोच लो कि कैसे कर्मों को साथ लेकर यहाँ से जाओगे ।

अभी तो तुम पुत्र-जन्म की खुशी से पागल हो जाते हो । बड़े लाड़-प्यार से उसका पालन-पोषण करते हो और फिर उसका विवाह करके समझते हो कि हमें सुख की चरम सीमा प्राप्त हो गई है । किन्तु कुछ वर्ष बाद ही जब तुम्हारी आयु पूरी हो जाएगी, तुम्हारे ये पुत्र ही एक पल भी तुम्हें अपने घर में न रखकर निकाल बाहर करेंगे । और तुम्हारे सारे सुख आँखें बन्द करते ही तुम्हारे लिये विलीन हो जायेंगे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिये कवि कहता है—"बड़े दुख की बात है कि इस दुनिया के भोले प्राणी देख-परख कर भी कुए में जा गिरते हैं। यह नहीं सोचते कि वैसे भी हमें जीवन में जो क्षणभंगुर सुख प्राप्त हुए हैं, पिछले जन्मों में संचित किये पुण्य कर्मों के बल पर मिल सके हैं। पर अगर इस जीवन में कुछ नहीं किया तो आगे फिर क्या होगा ? पिछला कमाया हुआ तो समझो कि इस जीवन में भोग ही लिया है पर अब कमाई नहीं की तो अगले जन्म में क्या पाओगे ?

श्री भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक में कहा है :—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं, यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

श्लोक में मानव को यही प्रेरणा दी है कि— जब तक तुम्हारा शरीर निरोग और तन्दुरुस्त है, बुढ़ापा दूर है तथा इन्द्रियों की शक्ति बनी हुई है तब तक आत्मा की भलाई के लिये प्रयत्न कर लो ! अन्यथा जब तुम्हारे इस सुन्दर और सशक्त सरीर को रोग जर्जर और कुरूप बना देंगे, इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी और वृद्धावस्था तुम्हें अपंग बना देगी तब फिर क्या कर सकोगे ? कुछ भी नहीं, और कुछ करने का प्रयत्न करोगे भी तो क्या तुम्हारी दशा उस अज्ञानी व्यक्ति के समान नहीं होगी जो घर में आग लग जाने के पश्चात कुआ खोदना प्रारम्भ करता है ?

इसलिये भाई ! जो बीत गई सो तो बीत ही गई, पर जितनी बाकी है उसको ही सार्थक करने के लिये आज ही, बल्कि अभी ही से प्रयत्न चालू कर दो। आज का काम कल पर मत डालो। क्योंकि मृत्यु तो हर समय घात लगाये ही रहती है। कहते भी हैं—

मौत तभी से ताक रही जब जीव जन्म लेता है।

तो बन्धुओं ; जब वह सामने आजायेगी, फिर कुछ करते-धरते नहीं बनेगा। न उस समय मुँह से परमात्मा का नाम ही निकल सकेगा और न ही हाथों से दान-पुण्य ही हो सकेगा। आज तो अगर दरवाजे पर कोई दीन-दुखी या भिखारी आ जाता है तो तुम तुरन्त कह देते हो—"आगे जाओ !" तुम्हारे पास अपनी सन्तान के लिये तो धन है। कहते हो सात पीढ़ियाँ खा लेंगी, किन्तु भिखारी को खाने के लिए एक रोटी भी देने में हिचकिचाते हो, उसे दुतकार कर आगे जाने को कह देते हो। कभी कह देते हो—"कोई है नहीं देनेवाला।" अरे तुम स्वयं तो बैठे ही हो और नहीं तो घर भी भरा है खाली तो है नहीं। चाहने पर जो चाहो दे सकते हो। किन्तु इच्छा ही नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होती अतः बहाने बना लेते हो। पर अगर उस समय कोई लेन-देन वाला आ जाय तो ? तो उसी समय उठकर बहीखाता सम्भाल लेते हो। भिखारी को कुछ देने के लिए भले ही न उठो पर पैसे का जहाँ काम आया फौरन सुस्ती उड़ जाती है चाहे बीमार ही क्यों न होओ।

पर भाई ! ऐसे काम चलने वाला नहीं है। अभी तो तुम्हारी बहानेबाजी और धांधली चल जाएगी किन्तु आगे जाने पर जब तुम्हारे सुकर्म और कुकर्म का हिसाब होगा उस समय धांधली नहीं चलेगी। दूध का दूध और पानी का पानी हो जायगा। उस समय फिर पश्चात्ताप और दुःख आड़े नहीं आएगा।

इसलिये अगर बाद में पश्चाताप नहीं करना है और कुछ पूँजी इकट्ठी करनी है तो अभी समय है। और कुछ किया जा सकता है। अतः मन के विकारों को नष्ट करके धर्माराधन करो। सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति हटाकर मन को विरक्ति की ओर उन्मुख करो। तृष्णा तो कभी शान्त होती नहीं। यह वह अग्नि है जिसमें चाहे जितनी धन-दौलत डाली जाय अधिक से अधिक धधकती है। इसलिये इसे तृप्त करने की इच्छा रखने वाला अज्ञानी है। ज्ञानी वह है जो अपनी तृष्णा को खुराक न देकर उसे मूल से ही नष्ट कर देता है।

कवि सुन्दरदासजी ने भी ज्ञानी उसी को कहा है जो :—

कर्म न विकर्म करे, भाव न अभाव धरे,
शुभ न अशुभ परे, यातें निधड़क है।
बस तीन शून्य जाके, पापहु न पुण्य ताके,
अधिक न न्यून बाके, स्वर्ग न नरक है।
सुख दुःख सम दोऊ, नीचहु न ऊँच कोऊ,
ऐसी विधि रहे सोऊ, मिल्यो न फरक है।
एक ही न दोय जाने, बन्ध-मोक्ष भ्रम मानै,
'सुन्दर' कहत, ज्ञानी ज्ञान में रहत है।

अर्थात्-ज्ञानी वही है जो आजीविका के लिये भी कभी हाय-हाय नहीं करता और न ही किसी की खुशामद या आजीजी ही करता है। वह तो भिक्षा के द्वारा रूखा-सूखा प्राप्त करके भी आनन्द से अपनी पेट-पूर्ति कर लेता है। न वह भाव को धारण करता है और न अभाव की परवाह करता है। उसके लिये शुभ और अशुभ कोई महत्त्व नहीं रखते इसलिये वह बेधड़क होकर अपना समय ईश-भक्ति में व्यतीत करता है।

अच्छा पहनने को मिल जाय तब भी यह खुश, नहीं होता और चिथड़ों की गुदड़ी ओढ़ना पड़े तब भी दुखी नहीं होता। मान-अपमान और सुख-दुख

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसके लिये समान होते हैं। न वह किसी से कुछ लेता है और न किसी को कुछ देता है। अपने बन्धु-बान्धवों में रहकर भी उनमें ममत्व नहीं रखता और उनके न होने पर तनिक भी दुखी नहीं होता। वह न किसी को नीचा समझता है और न किसी को ऊँचा। चाहे जैसी स्थिति में रहे, मस्त रहता है। सभी प्राणियों को वह समान दृष्टि से देखता है क्योंकि सभी की आत्मा को एक ही परमात्मा का अंश मानता है।

सच्चा ज्ञानी शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक को कोई चीज नहीं समझता तथा बन्धन और मोक्ष को भी मन का संकल्प या भ्रम मानता है। ब्रह्मज्ञान में वह ऐसा डूबा रहता है कि दीन-दुनिया की उसे कोई खबर नहीं रहती।

एक बार में एक ही काम

एक महात्मा किसी वन में एक छोटी सी कुटिया बनाकर रहते थे। रात-दिन वे भगवान् की भक्ति करते और मस्त पड़े रहते थे। न उन्हें खाने की सुधि रहती न पीने की। जब कभी ध्यान आ जाता तो पास के एक गाँव की ओर चल देते तथा जो कुछ भी मिल जाता उसे खा लेते। उनकी लगन एक परमात्मा से ही थी, बाकी और कोई कार्य उनके लिये महत्त्व नहीं रखता था।

एक बार कई दिन बाद वे गाँव में आये और किसी गृहस्थ के द्वार पर पहुँचे। गृहस्थ ने उन्हें बड़े आदरपूर्वक आसन पर बिठाया और खाने के लिए थाली में हलुआ परोस दिया।

ठीक उसी समय गाँव का कोई व्यक्ति अत्यन्त जरूरी काम से उस गृहस्थ को बुलाने आ गया अतः अपने पुत्र को महात्माजी का ध्यान रखने को कहकर वह घर से बाहर चला गया।

महात्माजी अनमने भाव से हलुआ खा रहे थे। गृहस्थ का पुत्र पास ही बैठा था, उसके मन में अचानक कुछ विचार आया और महात्माजी की थाली में उसने बाहर से लाकर गोबर परोस दिया। पर महात्माजी का ध्यान उधर गया ही नही और हलुआ खाते-खाते वे गोबर भी उसी प्रकार खाने लगे जिस प्रकार हलुआ खा रहे थे।

यह देखकर वह लड़का बड़ा ही चकित हुआ और महात्माजी के चरणों पर गिर पड़ा तथा उनसे अपने अपराध की क्षमा माँगने लगा। महात्माजी तब कुछ चौंके और बोले—"क्या हुआ भाई ?"

"भगवन् ! मैंने आपको हलुए के स्थान पर गोबर परोस दिया था पर आप उसी भाव के साथ वह खाते रहे ऐसा कैसे हो सका ?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"बेटा ! अगर मैं खाते समय हलुए का और गोबर का अन्तर ही समझता रहूँ तो फिर भगवान को किस प्रकार स्मरण रखूँ ? काम तो एक बार में एक ही होता है। या तो भगवान को याद करना या अन्य सांसारिक व्यापारों को निपटाना।"

वस्तुतः भगवान के प्रति ऐसी तन्मयता होने पर ही उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। कोई व्यक्ति यह चाहे कि मैं संसार के सुखों का उपभोग भी करता रहूँ और आत्मा का कल्याण भी कर लूँ, तो यह कदापि सम्भव नहीं है। भोग और योग परस्पर विरोधी हैं। प्राणी इनमें से एक को ही अपना सकता है। अगर वह संसार से मुक्त होना चाहता है तो उसे संसार से विरत होना पड़ेगा। और अगर वह संसार के सुखों को भोगना चाहता है तो मुक्ति उसके पास भी नहीं फटक सकती। मुक्ति का अधिकारी वही बन सकता है जो संसार से ऊब कर उनसे छुटकारा पाने के लिये छटपटाता हो, जिस प्रकार उर्दू के कवि दाग ने घबराकर कहा है :

भरे हुए हैं हजारों अरमां,
फिर उस पै है हसरतों की हसरत।
कहां निकल जाऊं या इलाही,
मैं दिल की बसअत से तंग होकर ॥

कवि का कथन है—मेरे मन में हजारों वासनाएँ तो विद्यमान हैं और वासनाओं के पूरे न होने का दुख और भी अधिक है। हे ईश्वर ! मैं तो अपने हृदय की उलझनों से परेशान हो गया हूं। लगता है कि दिल के इस झमेले से पीछा छुड़ाकर कहीं दूर भाग जाऊँ।

बन्धुओं, साधक के हृदय में जब ऐसी ही छटपटाहट संसार में रहकर होने लगती है, तभी वह इससे मुक्त होने का प्रयत्न कर सकता है। अन्यथा नहीं। मैं पूछता हूँ कि क्या आपका दिल भी इस दुनियादारी से तंग नहीं हो गया है तो फिर इससे मुक्ति पाने के प्रयत्न में ढील क्यों ? आपको तो इसी क्षण में **'शुभस्य शीघ्रम्'** को चरितार्थ करना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१४ | छः चंचल वस्तुएँ

धर्मप्रेमीबंधुओ, माताओ एवं बहनो !

इस संसार में हमें जितनी भी वस्तुएँ दिखाई देती हैं, सब नाशवान हैं। प्रत्येक वस्तु धीरे-धीरे परिवर्तित होती जाती है, अन्त में नष्ट होती है। काल का स्वभाव है कि वह नई चीज को पुरानी और पुरानी को नष्ट कर देता है। किसी भी वस्तु को वह एक सा नहीं रहने देता। भले ही हमारे नेत्रों से यह परिवर्तन शीघ्र दिखाई नहीं देता किन्तु वस्तु में प्रतिपल परिवर्तन आता रहता है और उसे कोई रोक नहीं सकता। गीता में कहा गया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

असत् का अस्तित्व नहीं है और सत् का नाश नहीं है।

अर्थ स्पष्ट है कि जो शाश्वत है वह कभी नाश को प्राप्त नहीं हो सकता और जो असत् है वह कोटि प्रयत्न करने पर भी शाश्वत नहीं हो सकता। हमारा शरीर अशाश्वत है और इसीलिये इसमें नित्य परिवर्तन आता रहता है। बालक के जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक हम इस परिवर्तन को होते हुए देखते हैं। शैशवावस्था में शिशु कितना भोला, नाजुक और शक्तिहीन दिखाई देता है, युवावस्था में वही शिशु सब तरह से शक्तिशाली बन जाता है। क्योंकि उसकी मानसिक एवं शारीरिक दोनों ही शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। जिस प्रकार इसका शरीर पुष्ट होता है, उसी प्रकार साहस और आत्म-विश्वास भी बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि जवानी, जोश, बल, साहस, आत्म-विश्वास एवं गौरव का ही दूसरा नाम है। किन्तु वह भी कभी स्थायी नहीं रह सकती। किसी ने सुन्दर शब्दों में इसकी अनित्यता बताते हुए कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहती है कब, बहारे जवानी तमाम उम्र,
मानिन्द बूये गुल, इधर आई उधर गई।

यानी, युवावस्था की बहार तमाम उम्र एकसी कहाँ रह सकती है ? वह तो पुष्प की खुशबू के समान है जो एक तरफ से आती है और दूसरी तरफ चली जाती है।

इसप्रकार इस विश्व में कोई भी वस्तु सदा एक सी नहीं रहती, वह प्रत्येक क्षण बदलती रहती है और अन्त में नष्ट हो जाती है। किन्तु कुछ चीजें तो और भी अधिक चंचल हैं। जो कि अत्यन्त शीघ्रता पूर्वक बदल जाती हैं। उनके लिये कहा जा सकता है· आज हैं और कल नहीं।

संस्कृत के एक श्लोक में ऐसी ही छः वस्तुओं के लिये बताया गया है जो कि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा शीघ्र परिवर्तित हो जाती हैं अर्थात् अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक चंचल हैं। श्लोक में बताया है :—

यौवनं जीवितं चित्तं, छाया लक्ष्मी च स्वामिता।
चंचलानि षडेतानि, ज्ञात्वा धर्मरतो भवेद्॥

(१) युवावस्था

श्लोक में छः प्रकार की चंचल वस्तुओं में पहला नंबर यौवन का आया है यौवनावस्था, जो कि अपने साथ असीम बल, सौन्दर्य, उत्साह, साहस एवं गर्व लेकर आती है बहुत थोड़े समय में ही वृद्धावस्था में बदल जाती है। जिस प्रकार बरसाती नदी में बाढ़ आती है पर शीघ्र ही पुनः समाप्त हो जाती है उसी प्रकार युवावस्था भी बड़े जोश और शोरगुल के साथ आती है किन्तु शीघ्र ही चली भी जाती है।

जब यह शरीर में विद्यमान रहती है, तब तक मनुष्य मारे घमंड के मस्तक ऊँचा रखकर, गर्दन अकड़ाकर और आँखे लाल करके चलता है। न किसी की परवाह करता है और न किसी का लिहाज। वह भूल जाता है कि यौवन आता हुआ दिखाई देता है पर जाता हुआ नहीं। पवन की अपेक्षा भी अधिक तेज चाल से दिन-रात बीतते हैं और जवानी समाप्त हो जाती है। जब तक वह रहती है, व्यक्ति किसी से सीधे मुंह बात नहीं करता तथा दया, करुणा एवं सेवा आदि के गुण उससे दूर भागते हैं। उसके हृदय में केवल अहं, निर्दयता एवं विलास का निवास रहता है।

जवानी के नशे में चूर रहनेवाले व्यक्ति को शील और सदाचार का नाम ही नहीं सुहाता। उसका ध्येय केवल यही रहता है कि किस प्रकार इन्द्रियों को अधिक से अधिक सुख दिया जाय तथा भोगों का उपभोग किया जाय। बड़ों की सीख और गुरु की शिक्षा भी उसे रुचिकर नहीं लगती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु जब बुढ़ापा आने को होता है तो उसकी सारी उछल-कूद, अकड़-तकड़, जोश, चेहरे की चमक और सुर्खी सब न जाने कहाँ गायब होने लगती है। उस समय उसे ध्यान आता है कि मैंने अपने जीवन का अमूल्य भाग विषय-भोगों में और अशुभ कृत्यों में गँवा दिया उस समय पश्चाताप करते हुए वह कहता —

बाले लीला मुकुलितमभी मन्थरा दृष्टिपाताः।
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एष श्रमस्ते॥
संप्रतन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते।
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः॥

हे बाले ! अब तू अपने अर्धनिर्मित नेत्रों से क्यों मेरी ओर कटाक्ष-बाण चलाती है ? अब इस दृष्टि को रोकले, क्योंकि इस परिश्रम से तुझे कोई लाभ नहीं होगा। अब हम पहले जैसे नहीं रहे। हमारी युवावस्था जा चुकी है और हमने मोह का त्याग कर वन में रहने का निश्चय कर लिया। अब हम विषय-सुख को तृण से भी निकम्मा समझते हैं।

वास्तव में ही वृद्धावस्था आने पर मनुष्य को होश आता है और वह अपनी युवावस्था में किये गए कुकृत्यों पर पश्चात्ताप करता है। पर फिर इतना समय और शक्ति उसके पास नहीं रह जाती कि वह अपने बिगड़े हुए कार्यों को सुधार सके और नये सिरे से जीवन-यापन कर सके। कहने का अभिप्राय यह है कि युवावस्था बड़े से बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि भी इस प्रकार मलिन कर देती है, जिस प्रकार वर्षाकाल में निर्मल नदी का जल भी अत्यन्त मलिन हो जाता है।

मर्यादापुरुषोत्तम राम ने महामुनि वशिष्ठ जी से कहा था—"हे मुनिवर ! जिस महासागर में अनन्त और अगाध जलराशि है तथा लाखों करोड़ों बड़े-बड़े मगर, मच्छ और घड़ियाल हैं, उसका पार करना बड़ा कठिन है। पर मैं उसको पार करना उतना मुश्किल नहीं समझता जितना कि युवावस्था को पार करना कठिन समझता हूँ। युवावस्था विषयों की ओर ले जाने वाली, महाअनर्थकारी और लोक-परलोक को नष्ट करनेवाली है। जिस प्रकार आकाश में वन का होना आश्चर्य की बात है, उसी प्रकार युवावस्था में शाश्वत सुख के मूल वैराग्य, विवेक, सन्तोष और शांति का होना आश्चर्य है।"

इसलिये कहा गया है कि युवावस्था चंचल होने के साथ ही मनुष्य के जीवन को अपने दुर्गुणों से मलिन बनानेवाली है। अतः इसको संयमित रखते हुए धर्माराधन की ओर भी लक्ष्य रखा जाय। ताकि कुछ सूत्र व्यक्ति के पास ऐसे रहें जिससे मन भान न भूले और भटक न जाय।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) आयुष्य—

संसार की मुख्य-मुख्य चंचल वस्तुओं में से आयुष्य भी एक है। आयुष्य की चंचलता से कोई भी अजान नहीं है। सभी जानते हैं कि अनेक जीव जन्म लेते ही मर जाते हैं। और उससे पहले माता के गर्भ में ही कई स्वर्गस्थ हो जाते हैं। अगर वहाँ बच गए तो जन्म के समय या उसके पश्चात् भी कब काल आ जाय और प्राणी को इस पृथ्वी पर से उठालें, कुछ कहा नहीं जा सकता। जीवन एक स्वप्न के समान है। जिस प्रकार हम स्वप्न देखते हैं और उसमें न जाने कितनी क्रियाएँ करते हैं हास-विलास, परिहास आदि। किन्तु आंख खुलते ही उन सबका चिन्ह भी कहीं दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार यह जीवन है। अभी बैठे हैं, हँस रहे हैं, गीत सुन रहे हैं और भी जीवन के सुखों का उपभोग कर रहे हैं पर अगले क्षण ही लुढ़क कर निष्प्राण हो सकते हैं। और भोगा हुआ सब स्वप्न के समान ही विलीन हो सकता है। कबीर कहते हैं कि इस जीवन को अनित्य मानकर परमात्मा की भक्ति भी करते रहो ताकि अंत में पश्चाताप न करना पड़े। उनके सुन्दर पद्य इस प्रकार हैं—

तन सराय मन पाहरू, मनसा उतरी आय।
को काहू को है नहीं, सब देखा ठोक बजाय॥
कबिरा रसरी पाँव में, कहं सोवे सुख चैन?
स्वास नकारा कूच का, बाजत है दिन रैन॥
इस चौसर चेता नहीं पशु ज्यों पाली देह।
राम नाम जाना नहीं, अन्त परी मुख खेह॥

कहा है—यह शरीर एक सराय के समान है, मन यहाँ चौकीदार है तथा आत्मा इसमें मुसाफिर के समान आकर अल्पकाल के लिए ठहरा हुआ है। जिस प्रकार सराय में ठहरे हुए अन्य मुसाफिर किसी का साथ नहीं देते तथा अपने-अपने समय पर अपने गन्तव्य को चल देते हैं। इसी प्रकार इस शरीर रूपी सराय में भी जो आत्मा है उसका भी कोई अपना नहीं हैं, यह अच्छी तरह जांच-पड़ताल करके जान लिया है।

कबीर जी कहते हैं—"अरे जीव! तेरे पैरों में तो मृत्यु की रस्सी बँधी हुई ही है। जिसके द्वारा किसी भी पल यमराज तुझे खींच ले जाएगा। फिर भी आश्चर्य की बात है कि तू चैन की नींद सो रहा है। क्या तू जानता नहीं कि इस दुनियां में कुछ करने के लिए श्वास रूपी नगाड़ा दिन-रात बजता रहता है।"

इस जीवन को कवि ने चौपड़ का खेल बताया है। कहा है कि इस खेल में भी तू नहीं जीतेगा यानी इस जन्म में भी नहीं चेतेगा और पशु के समान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

खाने, पीने और सोने की क्रियाएँ करता हुआ इस देह को पालेगा तथा राम के नाम को नहीं जानेगा तो अन्त में तेरे मुँह पर धूल ही पड़ेगी।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो अज्ञानी व्यक्ति संसार की अनित्यता को समझकर इस अल्पकालीन जीवन से लाभ नही उठाते तथा संसार के असली तत्व को न समझकर इसके मोह में फंसकर नष्ट हो जाते हैं वे पतिंगे के समान मूर्ख कहलाते हैं। यह संसार भी दीपक की लौ के समान माना जा सकता है और प्राणियों को पतिंगों के समान। मूर्ख पतिंगे दीपक के मोह में पड़कर उसीके आसपास मंडराते रहते हैं तथा उस पर गिरकर भस्म हो जाते हैं। वे यह नहीं जानते कि दीपक से प्रेम करने में मेरे हाथ तो कुछ लगेगा नहीं उलटे प्राणों का नाश होगा।

उसी प्रकार संसार में आसक्त व्यक्ति यह नहीं समझ पाते कि संसार की इन आकर्षक विषय-वासनाओं में फँसने से तथा इनमें मोह रखने से मेरी आत्मा कर्म-बन्धनों में जकड़कर अनन्त काल तक महा भयानक दुःख भोगेगी। जो बुद्धिमान् और विचारवान् हैं वे इस सत्य को समझते हैं और केवल समझते ही नहीं उससे पूरा लाभ उठाते हैं। अर्थात् वे संसार को अनित्य और सर्वनाश का कारण मानकर समय रहते ही चेत जाते हैं तथा दान, शील, तप एवं भाव का आराधन करते हुए अपने जीवन को सार्थक कर लेते हैं।

उर्दू के कवि ने भी लिखा है—

दुनिया से जौक रिश्तये उल्फत को तोड़ दे।
जिस सर का है यह बाल उसी सर में जोड़ दे॥

छोटे से इस पद्य में बड़ी गम्भीर बात कही गई है—"हे प्राणी! इस दुनियां से तूने जो प्रेम का रिश्ता कायम कर लिया है उससे तुझे लाभ नही होगा वरन् हानि ही होगी। अर्थात्—इसके मोह में पड़कर तू अपने जन्म-मरण बढ़ा लेगा और परमात्मा से दूर होता चला जाएगा।"

इसलिये तेरे हक में अच्छा यही है कि इससे तो अपने झूठे नाते को तोड़ दे और—'यह बाल जिस सर का है उसी में जोड़ दे'। यानी जिस परमात्मा का अंश है उसी में ले जाकर मिला दे।"

पर यह होगा कैसे? क्या इच्छा करते ही प्राणी सीधा चलकर परमात्मा के पास पहुंच जाएगा? नहीं, उसके लिये बड़े पापड़ बेलने पड़ेंगे। पंजाबी-कवि नत्थासिंह ने परमात्मा के पास पहुंचने का उपाय बताया है—

बिना प्रभु दे तूं होर नाल प्यार न करीं—
ओ मना याद रखीं।
जे तू नेड़े जाना चाहे भगवान दे।
पंजा वैरियां नूं नेड़े भी न आन दे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काम क्रोध मोह लोभ ते हङ्कार न करौं—
ओ मना याद रखौं।

प्रभु के पास पहुंचने की पहली शर्त तो कवि ने यह रखी है कि प्रभु के अलावा अन्य किसी से भी मोह न रखा जाय। वे कहते हैं—"भाई! अगर तुम्हें प्रभु को पाना है तो मेरी यह बात याद रखो कि तुम्हारा प्रेम भगवान के अलावा और किसी से भी नहीं होना चाहिये।"

अगर तुम्हें प्रभु के नज़दीक जाना है तो अपने दुश्मनों को अपने पास मत आने दो। ये दुश्मन कौन हैं? काम, क्रोध, मोह, लोभ एवं अहंकार आदि। कवि का कहना है कि अपनी आत्मा के इन दुश्मनों से बचो, इन्हें समीप मत फरकने दो, तभी तुम परमात्मा के पास पहुंच सकोगे। मेरी यह बात सदा याद रखो भूलो मत!"

तो बन्धुओ, मूल बात यही है कि यह जीवन चंचल चपला के समान ही चपल है। कुछ कहा नहीं जा सकता किस क्षण आयुष्य की डोर टूट जाएगी। चाहे बचपन हो, जवानी या वृद्धावस्था। काल को किसी का लिहाज नहीं है और न किसी का भी पक्षपात है। उसके लिए बच्चे, युवा और बूढ़े सब समान हैं। वह जब चाहे जिसको भी सहज ही ले जा सकता है और ले जाता भी है। हम अपने नेत्रों के समक्ष ही किसी भी आयु के प्राणी को काल गाल में समाते हुए देखते हैं अतः इसका तनिक भी भरोसा न रखते हुए हमें जितना आयुष्य मिला हुआ है उसमें ही अपने आत्म-कल्याण का प्रयत्न कर लेना चाहिए। अगर हम अपने समय को बर्बाद करेंगे तो अन्त में वह हमें ही बर्बाद कर देगा। इसलिये समय रहते ही चेत जाना बुद्धिमानी है। ईश्वर ने हमें संसार के अन्य असंख्य प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि इसीलिये प्रदान की है कि इसका हम उपयोग करें। अगर हम ईश्वर की इस महान् सहायता से भी लाभ नहीं उठाते हैं तो बुद्धि का होना न होना समान ही है।

(३) चित्त

युवावस्था और आयुष्य के पश्चात् चित्त को चंचल बताया गया है। और यथार्थ में ही केवल इन दोनों से नहीं, अपितु संसार की समस्त चंचल वस्तुओं की अपेक्षा चित्त यानी मन चंचल है। वह पलभर भी एक सी स्थिति में नहीं रह पाता। चाहे आप सामायिक करें, प्रतिक्रमण करने बैठें, शास्त्र श्रवण करलें चाहें या कि अपने सांसारिक व्यापार और व्यवसाय संबंधी मसलों को सुलझाने की कोशिश कर रहे हों, पर आपका मन कभी एकाग्र होकर आपका सहायक नहीं बन सकता। जिसमें सांसारिक कार्यों में तो वह फिर भी कुछ काल तक एक जगह टिक भी सकता है किन्तु धर्म-कार्य में वह कभी नहीं टिकता। उसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थिर करने में विरले ही महा-मानव समर्थ हो पाते हैं जो कि दृढ़ संयम के द्वारा अपनी इन्द्रियों को मारे, साथ ही मन को कब्जे में रखते हैं।

साधारण व्यक्ति की विसात ही नहीं है कि वह अपने मन को अपनी इच्छानुसार एक ही स्थान पर कुछ समय के लिये टिकाये रख सके। क्योंकि मन की चंचलता पारे के समान होती है। जिस प्रकार पारा एक जगह स्थिर नहीं रहता उसी प्रकार महान योगियों के अतिरिक्त किसी का भी मन एक ही वस्तु या विचार पर स्थिर नहीं रह सकता।

भगवद्गीता में मन को पवन के समान चपल बताया है। यह एक क्षण में यहाँ है तो दूसरे ही क्षण में न जाने कहाँ चला जाता है। इसे वश में करने की दुष्करता बताते हुए कहा—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करं।।

अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं—"यह मन बड़ा चंचल और प्रमथन स्वभाव वाला है। अत्यन्त बलवान और दृढ़ है। मुझे तो ऐसा लगता है कि इसको वश में रखना वायु को वश में रखने के समान दुष्कर है।"

वस्तुतः मन की दौड़ का कोई ठिकाना नहीं है कि यह किस समय कहाँ रहता है और किस समय कहाँ चला जाता है। पर इसका यह भी अर्थ नहीं है कि इसे वश में किया ही नहीं जा सकता।

अगर मन का निग्रह करना संभव ही नहीं होता तो शास्त्रों में इसके निग्रह करने के उपायों का वर्णन भी नहीं किया जाता। हमारे तीर्थंकर वीतरागों ने तथा अनेक महापुरुषों ने इन्हीं शास्त्रोक्त उपायों से अपने मन का निग्रह किया है और तभी वे संयम-साधना करके अपने कर्मों को चूर कर पाए हैं। जब-जब भी उसके मन ने अपनी चपलता दिखाई, उन्होंने उसे तिरस्कृत करते हुए कहा है—

पातालं विशसि यासि नभो विलंघ्य,
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानस चापलेन।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मलीनं,
तद्ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेषि येन।।

—भर्तृहरि

हे चित्त ! तू अपनी अत्यधिक चंचलता के कारण पाताल में प्रवेश करता है, आकाश के भी परे जाता है, दसों दिशाओं में घूमता है; या भूल से भी तू उस विमल परम ब्रह्म को स्मरण नहीं करता, जो तेरे हृदय में ही मौजूद है, जिसके याद करने से ही तुझे परमानन्द रूपी मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वास्तव, में इस मन की बड़ी अद्भुत लीला है। यह कभी आकाश में उड़ता है, कभी पाताल में जाता है और कभी विभिन्न दिशाओं में भटकता फिरता है किन्तु भूलकर भी वहाँ नहीं जाता, जहाँ इसे सच्चे सुख की उपलब्धि हो सकती है। वह सच्चे सुख का स्थान आत्मा है। आत्मा में आनन्द का असीम सागर लहरा रहा है, आपके नजदीक भी यह नहीं भटकता। अगर यह आत्म-स्वरूप को समझने का प्रयत्न करे तथा उसमें स्थित परमात्मा का चिंतन करे तो सहज ही समस्त पापों से मुक्त हो सकता है और सदा के लिए संसार में आवागमन से बच सकता है, किन्तु उसकी अस्थिरता उसे टिकने नहीं देती।

पर जो महा-मानव इसे वश में करने का दृढ़ संकल्प कर लेते हैं वे कुछ उपायों के द्वारा इसे वश में करते हैं। वे उपाय हैं—मन को स्वाध्याय में लगाना तथा अनित्यता, अशरणता आदि बारह भावनाओं के तथा शुभ और अशुभ कर्मों के फलों के चिन्तन में लगाना। मन का स्वभाव हर समय कुछ न कुछ विचार करने का होता है। वह पलभर के लिए भी खाली नहीं रह सकता। अतः इसे इन क्रियाओं में उलझाए रहने से यह प्रशस्त क्रियाओं में लगा रहेगा तो विषय-वासनाओं की ओर जाने का अवकाश नहीं पाएगा। और धीरे-धीरे जब इसकी आदत शुभ परिणति में रहने की हो जाएगी तब वह स्वयं ही विषय-विकारों से विरक्त होता हुआ आत्मा में स्थिर हो जाएगा। मुनिजन इसे स्थिर करने के लिए ही शान्त और एकान्त स्थान में रहकर चिंतन, मनन, स्वाध्याय एवं साधना करते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि यद्यपि मन अत्यन्त चंचल, दुष्ट और उद्दण्ड होता है। किन्तु फिर भी वह आत्मा का स्वामी नहीं है अपितु आत्मा ही उसका स्वामी है, अतः प्रयत्न करने पर आत्मा निश्चय ही उसे नियंत्रण में ला सकता है। जब वह आत्मा द्वारा प्राप्त की हुई शक्ति से इतना बलवान बनता है तो आत्मा निश्चय ही उसे अपने अधीन कर सकती है और करती भी है।

(४) छाया

छाया को गणना भी चंचल वस्तुओं में आती है। यह भी एक जगह कभी स्थिर नहीं रह सकती। घड़ी में यहाँ और घड़ी में वहाँ चली जाती है। प्रातःकाल जब सूर्य अपनी किरणों को पृथ्वी पर फेंकता है तो यह बड़ी लम्बी रहती है पर धीरे-धीरे मध्यान्ह का सूर्य मस्तक पर आता है त्यों-त्यों यह छोटी होती जाती है। छाया को पकड़ सकना सरल नहीं है। अगर व्यक्ति इसे छूने दौड़े तो यह भी उतनी ही तेजी से आगे दौड़ती चली जाती है। पर इसे पकड़ने का उपाय भी हमारे शास्त्र बताते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'आचारांगसूत्र' में एक दृष्टांत मैंने पढ़ा था—एक बालक ने अपने अज्ञानपने के कारण यह विचार किया कि मैं अपनी छाया को पकड़ूँ। यह सोचकर वह छाया को पकड़ने के लिये जल्दी-जल्दी चलने लगा। किन्तु छाया भी उतनी ही तेज उससे आगे चलती रही।

तब वह बालक दौड़ने लगा कि दौड़कर उसे पकड़ ले, किन्तु वह जितना तेज दौड़ा, उसकी छाया भी ठीक उतनी तेजी से दौड़ती रही। बच्चा थक गया और जोर-जोर से हाँफने लगा। संयोगवश उसी समय एक मुनि उधर आ निकले और बच्चे की दशा देखकर उन्होंने उसका कारण पूछा—बालक ने अपनी परेशानी बता दी।

संत मुस्कराने लगे और बोले—'वत्स ! तू छाया के पीछे इस प्रकार मत दौड़, मेरे साथ चल।' मुनिराज ने जिधर छाया पड़ती थी उससे विपरीत दिशा में अपना रुख किया और उस बालक को अपने साथ चलाने लगे। बालक ने देखा कि इस प्रकार चलने में छाया उसके पीछे-पीछे चली आ रही है। इस बीच ही मध्याह्न भी हो गया और बालक ने छाया को बिलकुल अपने साथ देखा तो वह अत्यन्त प्रसन्न हो गया।

यह उदाहरण शास्त्रकार धनके लिए, लालच और विकारी भावनाओं के लिए भी देते हैं। वे बताते हैं कि जिस प्रकार वह बालक छाया के पीछे दौड़ा तो उसे नहीं पा सका और जब छाया की ओर से मुँह मोड़कर चला तो छाया उसके पीछे-पीछे आने लगी।

इसी प्रकार जो व्यक्ति सुख प्राप्त करने के लिये सांसारिक सुखों के पीछे दौड़ते हैं, उन्हें कभी सुख की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि ज्यों-ज्यों सांसारिक सुख भोगे जाते हैं, उन्हें अधिकाधिक भोगने की लालसा बढ़ती हैं। किन्तु जो व्यक्ति संसार के इन सुखों से मुँह मोड़कर विरक्ति की ओर चल देते हैं, उसे असीम सन्तोष का अनुभव होता है और संतोष के द्वारा सच्चे सुख का। आचार्य चाणक्य ने भी कहा है—

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
न च तद्धनलुब्धानामित श्चेतश्च धावताम्॥

अर्थात्—संतोष रूपी अमृत से जो लोग तृप्त होते हैं, उनको जो शांति और सुख होता है वह धन के लोभियों को, जो इधर-उधर दौड़ा करते हैं, नहीं प्राप्त होता।

(५) लक्ष्मी

पाँचवीं चंचल वस्तु लक्ष्मी है। लक्ष्मी की चंचलता के विषय में सभी जानते हैं। हम आए दिन देखते हैं कि कल ऐश्वर्य में लौटने वाला व्यक्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आज दाने-दाने को मोहताज बना हुआ हैं और भिखारी लाटरी का एक टिकिट खुलते ही श्रेष्ठि बना घूमने लगा है। लक्ष्मी आज किसी के पास है तो कल किसी के पास। किसी को व्यापार में घाटा लगा तो वह अन्यत्र चली गई। और किसी को राह चलते ही प्राप्त हो गई। लक्ष्मी किसी की नहीं होती और उसको लेकर गर्व करने वाला व्यक्ति अज्ञानी ही साबित होता है। पुण्य का उदय हो तो वह किसी को मिल जाती है। और पाप का उदय होने पर हाथ में आई हुई भी सरक जाती है।

दो पैसे में जवाहिरात बेच दिए

बहुत पहले लखनऊ का नवाब आसिफुद्दौला था। वह बड़ा उदार और दानी था। कहा जाता है कि उसके यहाँ से कोई भी अभावग्रस्त व्यक्ति खाली हाथ नहीं लौटता था।

एक बार वह दरबार में बैठा हुआ था कि उसके कानों में एक फकीर के ये शब्द पड़े—

जिसको न दे मौला,
उसको दे आसिफुद्दौला।

यह सुनकर नवाब बड़े गर्व से भर गया उसने समझा कि लोग उसकी उदारता से बड़े प्रभावित हैं और यह कहते हैं कि भगवान भी जिसको नहीं दे पाता उसे मैं देता हूं। इस प्रकार मैं भगवान से भी बढ़कर हूं। अपनी प्रशस्ति से खुश होकर नवाब ने उस फकीर को बुलाया और उसे एक तरबूज प्रदान किया।

फकीर बहुत असन्तुष्ट हुआ। उसने सोचा था कि नवाब के यहाँ से बहुत कुछ मिलेगा पर केवल एक तरबूज पाकर वह बड़ा खिन्न हुआ पर कहता क्या, मन मारे हुए वहाँ से चल दिया।

मार्ग में उसे एक दूसरा फकीर मिल गया। वह भूखा था अतः उसने पहले वाले से पूछा—"बाबा, यह तरबूज बेचोगे क्या?" तरबूज लाने वाला फकीर उदास तो था ही, उसने केवल दो पैसे में ही तरबूज माँगनेवाले दूसरे फकीर को दे दिया। और उस खरीदने वाले ने जब घर आकर तरबूज काटा तो उसमें से हीरे, मोती और माणिक निकल पड़े। दो पैसे की खरीदी में इतना धन पाकर फकीर निहाल हो गया और छप्पर फाड़ कर देने वाले अल्लाह को लाख-लाख दुआएँ देने लगा।

इधर कुछ दिन बाद ही पहले फकीर ने पुनः राज-दरबार में आकर आवाज लगाई—

"जिसको न दे मौला, उसको दे आसिफुद्दौला।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नवाब ने फ़कीर को पुनः राजदरबार में देखा तो बड़ा चकित हुआ और उससे पूछ लिया—क्यों साईं बाबा ! वह तरबूज खाया था क्या ?"

"नहीं हुजूर ! मैंने तो उसे दो पैसे में किसी और फ़कीर को बेच दिया था।"

सुनकर नवाब आसन से उछल पड़े और बोले—अरे ! तुम तो बड़े बदनसीब निकले। उस तरबूज में तो जवाहिरात भरे हुए थे।

यह सुनकर फ़कीर ने तो सिर पीट लिया और नवाब को अपने अहंकार पर बड़ा दुःख हुआ। उसने फ़कीर से कहा—"बाबा ! अब कभी झूठी हाँक मत लगाना। क्योंकि जिसे खुदा देना नहीं चाहता उसे मैं किस प्रकार दे सकता हूं ? लक्ष्मी बड़ी चंचल है अतः उसी के पास जाकर रहेगी जिस के पल्ले में पुण्य होगा। अगर ऐसा नहीं होता तो तुम तो लाखों का धन दो पैसे में कैसे दे देते ?

उदाहरण से स्पष्ट है लक्ष्मी बड़ी चपल है और बिना पुण्य के लाख प्रयत्न करने पर भी टिक नहीं सकती। सागर में जिस प्रकार तरंग उठती है और विलीन हो जाती है, उसी प्रकार लक्ष्मी आती है और चली जाती है फिर भी मनुष्य न जाने क्यों माया के लिए पागल बना रहता है। वह जानता है कि इस संसार से मुझे खाली हाथ आना है, साथ में धन-दौलत नहीं, केवल पाप-पुण्य जाता है। फिर भी वह धन के लिए अठारहों पापों का सेवन करने से नहीं चूकता। धन के लिए वह चोरी करता है, झूठ बोलता है, हत्या करता है अधिक क्या कहा जाय कोई बड़ा या छोटा पाप करने से भी नहीं हिचकता। पर जिस चंचल लक्ष्मी के लिए वह यह सब करता है, क्या उसके पास वह टिकी रहती है ? नहीं, वह या तो उसके जीवित रहते ही किसी दूसरे के हाथों में चली जाती है या फिर मरने पर स्वयं ही यहाँ पड़ी रहती है। अतः उसके लिये गर्व करना और अनेकानेक पापों का बंधन करना व्यक्ति की बड़ी भारी भूल और अज्ञानता है।

(६) स्वामित्व

स्वामित्व माने अधिकार। यह भी चंचल है। सत्ता कभी एक के हाथों में नहीं रहती। संसार में बड़े-बड़े राजा-महाराजा और बादशाह हुए हैं जिनका चंद क्षणों, मिनिटों या घंटों में ही तख्ता बदल गया है। इतिहास हमें ऐसे अनेक उदाहरण बताता है, जिनमें सत्ता के लोभी व्यक्तियों ने भाई, बाप या मित्र को षड्यन्त्र रचकर कत्ल किया और राज्य का स्वामित्व अपने हाथ में ले लिया। एक राजा का दूसरे पर आक्रमण करके उसे हराना और राज्य को अपने हस्तगत कर लेने के उदाहरण तो इतने हैं कि जिनकी गणना भी नहीं हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकती। संसार में अनेकों क्रांतियाँ ऐसी हुई हैं जबकि एक मामूली सैनिक या व्यक्ति भी अल्पकाल में ही सत्ताधारी बना दिखाई दिया है। स्पष्ट है कि एक दिन पहले जो पेट भरने का भी मुहताज दिखाई देता था वहीं अगले दिन सम्राट बन गया था और जो राजगद्दी का मालिक था वह अगले दिन भूखा-प्यासा और ऊपर से अपनी जान बचाने को व्याकुल मारा-मारा फिरा था। उसकी सत्ता, उसका राज्य और अधिकार में रही हुई लम्बी-चौड़ी पृथ्वी भी अल्पकाल में ही दूसरे की होती देखी गई है।

राजा भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक में कहा भी है कि अपने राज्य, ऐश्वर्य और पृथ्वी पर के स्वामित्व का गर्व करना पूर्णतया निरर्थक है। क्योंकि –

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न यात नृपशतं—
भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभुजाम्।
तदंशस्यात्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो;
विषादे कर्तव्ये विदधति जड़ाः प्रत्युतमुदम्॥

अर्थात्—सैकड़ों-हजारों राजा इस पृथ्वी को अपनी-अपनी कहकर चले गये, पर यह किसी की भी न हुई। तब फिर राजा लोग इसके स्वामी होने का घमण्ड क्यों करते हैं? खेद की बात है कि छोटे-छोटे राजा, पृथ्वी के छोटे से छोटे टुकड़े के मालिक होकर ही अपने स्वामित्व के लिए फूले नहीं समाते। असल में जिस बात से दुख होना चाहिए, मूर्ख उससे उलटे खुश होते हैं।

वस्तुतः इस पृथ्वी पर आज तक असंख्य व्यक्तियों का स्वामित्व हुआ लेकिन अपनी चंचलता के कारण वह किसी के पास भी स्थिर नहीं रह सका। कभी वह सत्ताधारी के जीवित रहते ही बदल गया और नहीं तो उसकी मृत्यु होने पर दूसरे के पास गया। लंकेश्वर रावण, जिसने यक्ष, किन्नर, गन्धर्व और देवताओं तक को अपने अधीन कर लिया था और त्रिलोकी को अपनी अंगुलि पर नचाता हुआ कहता था—मेरी बराबरी का प्राणी इस विश्व में कहीं नहीं हैं। क्या उसका स्वामित्व कुछ काल में ही राम के पास नहीं चला गया था? और वह राम जिन्होंने समुद्र पर भी सेतु बांधकर रावण का मान मर्दन किया था वह भी आज कहाँ हैं? रावण के मस्तक पर चिराग रखकर उसे जलाने वाला सहस्रबाहु जीवित नहीं रहा तथा अपने भुजबल से वीरता का सिक्का चारों दिशाओं में जमानेवाले भीम व अर्जुन, महादानी हरिश्चन्द्र, कर्ण और बलि से दानी भी अपने स्वामित्व को स्थिर नहीं रख सके।

कहने का अभिप्राय यही है कि स्वामित्व और प्रभुता अति चंचल है। जिस प्रकार बिजली की चमक और बादल की छाया चपलता के कारण क्षण-क्षण में परिवर्तित हो जाती हैं, उसी प्रकार स्वामित्व अथवा अधिकार भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किसी एक के पास नहीं रहता। वह कभी किसी के हाथ में आती है और कभी किसी के। अतः अहंकार वृथा है।

अहंकार महा अनर्थों का मूल है तथा आत्मगुणों का सर्वथा नाश करने वाला है। अहंकारी के हृदय में कभी परमात्मा का निवास नहीं हो सकता और जिससे परमात्मा दूर रहता है उसके दुखों का अन्त भी कैसे हो सकता है? इसीलिए पूर्व में हमारे कहे गये श्लोक में मनुष्य को सीख दी गई हैं कि यौवन, आयुष्य, चित्त, छाया, लक्ष्मी एवं स्वामित्व, ये सब अति चंचल है अतः इन छहों की चंचलता को भली-भांति जानकर इनके लिए कभी गर्व मत करो तथा अपनी आत्मा को कर्मरत बनाओ। धर्माराधन के लिए किसी विशेष वस्तु की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए न राज्य चाहिए, न सत्ता। न शारीरिक बल चाहिए और न ही धन, जो कि सभी अनर्थों का मूल है। उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है—

धणेण किं धम्मधुराहिगारे?

धर्म की धुरा को खींचने के लिये धन की क्या आवश्यकता है?

आशय स्पष्ट है कि धर्म के लिये धन की नहीं वरन आत्मिक गुणों की आवश्यकता है, जिन्हें अपनाने पर इस लोक में तो प्रतिष्ठा प्राप्त होती ही है, परलोक में भी शाश्वत सुख हासिल होता है।

संस्कृत के एक श्लोक में भी बड़े सुन्दर ढंग से बताया है कि शाश्वत सुख की प्राप्ति के मार्ग क्या हैं?—

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं,
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथा मूकभावःपरेषाम्।
तृष्णास्रोतो विभंगो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा,
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पंथाः॥

अर्थात्—किसी भी जीव की हिंसा न करना, दूसरे के धन को न चुराना सत्य बोलना, समय पर सामर्थ्य के अनुसार दान करना, पर-स्त्रियों की चर्चा न करना और कोई करता हो तो स्वयं मूक रहना, गुरुजनों के सामने नम्र रहना, सभी प्राणियों पर दया करना तथा भिन्न-भिन्न शास्त्रों में समान विश्वास रखना—ये सब नित्य एवं सच्चे सुख की प्राप्ति के अचूक मार्ग हैं।

बंधुओ, आपने समझ लिया होगा कि श्लोक में बताए गए, गुणों से धर्म भिन्न नहीं है। आत्मा को निर्मल बनाने वाले इन गुणों का सामूहिक नाम ही धर्म है। जो व्यक्ति इन गुणों को अपने जीवन में उतार लेता है वह इस संसार रूपी घोर अटवी में आधि, व्याधि एवं उपाधि रूप दुखों से परितप्त नहीं होता तथा इस दुखमय संसार में पुनः नहीं आता। उसकी आत्मा संपूर्ण कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध-स्थान को प्राप्त करती है तथा अक्षयसुख की अधिकारिणी बन जाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१५ | मुक्ति का द्वार-मानवजीवन

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज हम अपने वेगवान मन की ओर दृष्टिपात करेंगे। आप और हम सभी अनुभव करते हैं कि मन की गति बड़ी विचित्र और तीव्र है। यह इतना चंचल है कि समय मात्र के लिये भी एक स्थान पर नहीं टिकता। कभी तो यह आकाश की ओर उड़ान भरता है और कभी पाताल में प्रवेश कर जाता है। इसकी दौड़ का कोई ठिकाना नहीं है। अपनी असाधारण चपलता के कारण यह प्रतिपल इधर-उधर भटकता रहता है। बड़े-बड़े साधकों के लिये भी इसे स्थिर करना बड़ा कठिन हो जाता है। किसी से भी इसे डर नहीं लगता। माला फेरते समय, स्वाध्याय करते समय, पूजा-पाठ करते समय अथवा चिंतन-मनन के समय भी यह अपने शरण-दाता जीव की परवाह न करता हुआ निर्भय होकर इतस्ततः विचरण करता रहता है। इसलिये मुमुक्षु प्राणी सर्वप्रथम इसे ही वश में करने का प्रयत्न करते हैं। कबीर का कथन है—

कबीर मन मरकट भया, नेक न कहुं ठहराय।
सत्त नाम बांधे बिना, जित भावे तित जाय॥

अभिप्राय यही है कि साधक को अपनी साधना प्रारम्भ करने से पहले ही मन की गति का निरन्तर निरीक्षण करना चाहिये तथा इसे स्थिर रखने का अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि यह चपल है और इसका निग्रह करना कठिन है किन्तु फिर भी असंभव नहीं है। अगर यह कार्य असंभव होता तो हमारे शास्त्रों में इसके निग्रह करने के उपायों का वर्णन ही न किया जाता। प्राचीन काल के महा-मानवों ने इसका निग्रह किया है तथा शास्त्रोक्त उपायों का अवलंबन करने से आज भी इसे वश में किया जा सकता है।

भगवान महावीर ने फरमाया है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं ।।

—उत्तराध्ययन सूत्र २३-५८

अर्थात् मन बड़ा साहसी और उद्दंड है, वह दुष्ट घोड़े के समान इधर-उधर दौड़ता है। मैं उसको धर्मरूप शिक्षा की लगाम से अच्छी तरह वश में किये हुए हूं।

गाथा से स्पष्ट है कि भले ही मन बन्दर के समान चपल तथा दुष्ट घोड़े के समान उद्दंड और वेगवान होता है, फिर भी इसे चिंतन, मनन, स्वाध्याय एवं अन्य धर्म क्रियाओं में लगाकर वश में किया जा सकता है। इसका स्वभाव है कि यह क्षण भर के लिये भी खाली नहीं रह सकता। अतः इसे बिचारों से रोकना तो संभव नहीं है, और ऐसी चेष्टा करना भी निरर्थक है। किन्तु स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रशस्तक्रियाओं में उलझाए रखने से इसे विषय-वासनाओं की ओर जाने का अवकाश नहीं मिलेगा और धीरे-धीरे जब यह इन्हीं में रमण करने का अभ्यासी बन जाएगा तो अन्य विषयों की ओर से विरक्त होकर यह आत्म-स्वभाव में लीन बना रहेगा यानी आत्मा में स्थिर हो सकेगा।

मन की उलटी गति— जब तक मन पर काबू नहीं किया जाता तब तक वह उलटा चलता है। आप यह सुनकर आश्चर्य करेंगे और विचार करेंगे कि मन के लिये उलटा और सीधा रास्ता कौन-कौनसा है? इसका उत्तर ध्यान पूर्वक समझने की आवश्यकता है।

जीवन का वह व्यवहार या क्रियाएँ जो आत्मा को कर्म बन्धनों से जकडती हैं वह उल्टा मार्ग है और जो प्रशस्त अथवा शुभ क्रियाएं आत्मा को कर्म-मुक्त करती हैं, वह सीधा मार्ग है। तो मन को जब तक सीधा मार्ग बताया न जाय और उस पर प्रयत्न पूर्वक चलाया न जाय, वह स्वयं तो उलटे मार्ग पर ही चलता है। आप और हम सभी जानते हैं कि इन्द्रियों के विषय में इतना आकर्षण है कि वे सहज ही बिना प्रयत्न के मन को अपनी ओर खींच लेते हैं। और मन स्वतः ही उनमें आनन्द का अनुभव करता हुआ उन्हीं में लीन रहता है। स्पष्ट है कि विकार और वासनाओं की पूर्ति जो कि कर्मों के बंधनों का कारण है, उलटा मार्ग कहलाता है तथा मन उस मार्ग पर बिना चलाए और बिना प्रयत्न किये ही चलता रहता है। धर्म-क्रियाओं के अथवा शुभ कामों के करने में तो मन सदा पीछे रहता है किन्तु पाप कार्यों में बिना कहे भी प्रवृत्त हो जाता है।

होना तो यह चाहिये कि वह धर्म कार्यों में आगे रहे और पाप कार्यों में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में पीछे। किन्तु वैसा न होकर उलटा ही होता है। यानी जो कार्य करने लायक होते हैं, उन्हें तो मन करता नहीं और जो कार्य नहीं किये जाने चाहिये, उन्हें करने के लिये बावला रहता है। इस विषय में शास्त्रकारों ने कहा है कि मन उस हरिण के समान है जो शंका करने लायक स्थानों में तो शंका नहीं करता किन्तु शंका न करने वाले स्थान पर आशंकित होता है। आपके हृदय में भी इस बात पर शंका होगी कि ऐसा क्यों ? उत्तर में सूयगडांग सूत्र की एक गाथा आपके सामने रखता हूं। गाथा इस प्रकार है—

जविणो मिगा जहा संता, परिताणेण वज्जीया।
असंकीयाइं संकन्ती, संकीयाइं असंकिणो॥
परियाणियाणि संकंता, पासिताणी असंकिणो।
अन्नाणभय संविग्गा, संमिति तंहि तंहि॥

गाथा बड़े मर्म की है। इसमें भगवान महावीर फरमाते हैं—जविणो मृग अर्थात् वेगवानी हरिण को शिकारी अपने जाल में फंसाने का प्रयत्न करते हैं। वे चारों तरफ जाल डाल देते हैं तथा जहां रास्ता होता है वहां थोड़ा सा कपड़ा बिछा देते हैं।

तीव्र गति से भाग कर आने वाला हरिण जो कि बहुत दौड़-धूप करने से क्लांत हो चुकता है, वह समझ नहीं पाता कि किधर भाग कर प्राण बचाया जाय। वह जहाँ शंका करनी चाहिये वहाँ शंका नहीं करता और जहाँ शंका नहीं करनी चाहिये वहाँ शंका करता हुआ शिकारी के पास में जा फँसता है। नाना प्रयत्न करके भी वह उससे छुटकारा नहीं पा सकता।

यही हाल मनुष्य का भी है। वह सदा दुनियादारी के प्रपंचों में पड़ा रहता है। धर्म-कार्य जो कि उसकी आत्मा को पवित्र बनाते हैं उनसे तो वह दूर रहता है और पाप-कार्य, जो आत्मा को पतन की ओर ले जाते हैं उनमें प्रवृत्त रहता है। खेल-तमाशे, नाटक या सिनेमा आदि देखने के लिये जाने में तो उसे कोई संकोच नहीं होता। किन्तु संत महात्माओं की संगति का लाभ उठाने के लिये जाने में शंकित होता है कि लोग कहेंगे —"साधु बनने का इरादा है क्या ?" तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों की खुराक जुटाने में तो उसे लज्जा नहीं आती किन्तु आत्मा की खुराक जुटाने में वह लज्जित और संकुचित होता है। माया-मोह में फंसे रहने में उसे कोई झिझक नहीं होती पर सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध अथवा स्वाध्याय आदि करने में उसे बड़ी कठिनाई और झंझट महसूस होती है।

यद्यपि हमारे पूर्वजों ने सत्संगति करने की, शास्त्र श्रवण की तथा धर्मोपदेशों को अंगीकार करने की परिपाटी कायम की है। किन्तु आज के अधिकांश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति संत मुनिराजों के समीप भी नहीं फटकना चाहते। वे सोचते हैं—"प्रथम तो संत पूछेंगे, माला फेरते हो ? सामायिक करते हो ? चिन्तन, मनन, या भजन करते हो ? तो उत्तर में केवल लज्जित होना पड़ेगा। दूसरे अगर उन्होंने इन सबमें से किसी चीज का नियम दिलवा दिया तो उसका पालन करना भी एक मुसीबत हो जाएगी।

ऐसा विचार करता हुआ उनका मन आत्मा का कल्याण करने वाले धर्म मार्ग पर नहीं चलता और आत्मा को अधोगति की ओर ले जाने वाले पाप मार्ग पर चलता है। दूसरे शब्दों में धर्म मार्ग पर चलने में मन संकुचित व शंकित होता है किन्तु पाप मार्ग पर निश्शंक बढ़ता चला जाता है। धर्म का फल मिलेगा या नहीं, इस पर चलने से सुख की प्राप्ति होगी या नहीं इसमें तो उसे शंका या संदेह बना रहता है। किन्तु दुनियादारी के पाप मार्ग पर चलने से तुरन्त उसे सुख का अनुभव होता है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।

वह दीर्घदृष्टि से गंभीरता पूर्वक यह नहीं सोच पाता है कि इन्द्रियों के विषयों की तृप्ति करने पर जिस सुख का अनुभव होता है, वह सुख सच्चा और स्थायी सुख नहीं है, केवल सुखाभास और क्षणभंगुर है। तथा इसके विपरीत धर्ममार्ग पर चलने से भविष्य में जो सुख मिलेगा वह शाश्वत तथा अव्याबाध होगा। मन की ऐसी ही विचित्र गति हैं। जिन धार्मिक और पवित्र विचारों को हृदय में स्थान देने से तथा उनके अनुसार शुभ एवं उत्तम क्रियाएँ करने से एक पैसे का भी अपव्यय नहीं होता उन्हें तो वह अपनाता नहीं। किन्तु नाटक, सिनेमा, एवं कदाचार को अपनाने में वह पैसे का अपव्यय, और शरीर की क्षति भी बर्दाश्त कर लेता है। अपना समस्त चैन, धन और नींद गँवाकर भी वह पापों के बीज बोता है।

इसका कारण यही है, वह दीर्घदृष्टि से अपने भविष्य का विचार नहीं करता, केवल वर्तमान के सुख को देखता है। उसका मन गम्भीरता पूर्वक यह नहीं सोचता कि यह जीवन तो क्षणिक है, इसके बीत जाने पर फिर आत्मा का क्या होगा ? थोड़े से जीवन में भी पाप-कर्मों की भारी गठरी बाँध लेने पर उस बोझ को कब तक ढोना पड़ेगा और कितने जन्मों तक इस जीवन के थोड़े से सुख के बदले असह्य दुख भोगने पड़ेंगे ?

बंधुओ, यह मानव जन्म हमें इसलिये नहीं मिला है कि हम इसके द्वारा अपने भविष्य को बिगाड़ें और दुखों के सागर में जा पड़ें। अगर व्यक्ति ऐसा करता है तो उसका मनुष्य होने के बजाय तो पशु-पक्षी होना ज्यादा अच्छा होता। क्योंकि पशु-पक्षी बुद्धिहीन होने के कारण तथा पापों को बढ़ाने वाले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सांसारिक साधनों का उपयोग करना न जानने के कारण मनुष्यों की तुलना में बहुत कम पाप करते हैं। पर मनुष्य संसार की प्रत्येक वस्तु को अपने कर्म-बंधन में सहायक बना लेता है तथा पापों का अंबार लगाकर अनन्तकाल के लिये उन में उलझ जाता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि पशु, पक्षी अथवा अन्य प्राणी बनने की बजाय मनुष्य इसलिए ही मनुष्य बना है कि वह इस जीवन का सर्वोत्तम लाभ उठाए और वह लाभ है आत्मा को कर्म-मुक्त करते हुए उसके असली स्वरूप में लाना। नियति ने इसीलिए उसे इस पृथ्वी पर मनुष्य बनाकार भेजा है। किसी कवि ने मानव को ताड़ना देते हुए कहा भी है—

भलाई खल्क के खातिर, तुझे, भेजा था मालिक ने,
मगर अफ़सोस उलटा हो, चला तू जानकर गोया।
अरे मतिमंद अज्ञानी ! जन्म प्रभु भक्ति बिन खोया ॥

क्या कहा है कवि ने ? यही कि—"अरे मूर्ख और अज्ञानी मनुष्य ! तुझे तो भगवान् ने इस संसार में भलाई करने के लिए भेजा था। मालिक ने सोचा था कि तू इस सर्वोत्तम योनि को प्राप्त करके अपनी आत्मा का भी भला करेगा और अन्य प्राणियों का भी। यानी जिस प्रकार जल में पड़ा हुआ जहाज स्वयं तैर जाता है तथा अपने आश्रय में आए हुए प्राणियों को भी सागर पार करा देता है, उसी प्रकार तू भी स्वयं सन्मार्ग पर चलकर अपनी आत्मा का कल्याण करेगा तथा अपने संपर्क में आने वाले अन्य प्राणियों को भी उसी मार्ग पर चलाकर उनके उद्धार में भी सहायक बनेगा।"

किन्तु खेद की बात है कि तू सब कुछ जानने और समझने की क्षमता रखते हुए भी जानबूझ कर उलटा चला यानी कुमार्ग पर चलने लग गया। भलाई को छोड़कर तूने बुराई से गठजोड बाँध लिया और भक्ति को भूलकर आसक्ति में बंध गया। तू भूल गया कि आत्मा का कल्याण करने वाली एक-मात्र भक्ति है—'**भक्तिः श्रेयोऽनुबंधिनी।**'

अर्थात्—भक्ति ही मनुष्य के लिये श्रेयस्कर और आत्मा को पावन करने करने वाली है। परमात्मा की भक्ति के अलावा और कोई भी ऐसी वस्तु संसार में नहीं है जो आत्मा के मैल को धो सके और उसे कर्म-भार से रहित बना सके। किन्तु उसको अपनाने में शर्त एक ही है कि उसके साथ-साथ सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति नहीं चल सकती। भक्ति के मार्ग पर चलने वाला आसक्ति के मार्ग पर नहीं चल सकता और आसक्ति के मार्ग पर चलने वाला भक्त नही बन सकता। भक्ति और आसक्ति का आंकड़ा छत्तीस का होता है।

महात्मा कबीर ने भी कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब लग नाता जगत का, तब लग भक्ति न होय।
नाता तौड़ै, हरि भजै, भक्त कहावै सोय ॥

यानी जब तक मनुष्य का जगत से लगाव रहता है तब तक वह ईश्वर की भक्ति कदापि नहीं कर सकता। जग से ममत्व त्याग देने पर ही वह सच्चा भक्त बन सकता है। और उसकी भक्ति में असाधारण शक्ति आ सकती है।

भक्ति की शक्ति—

भक्ति की शक्ति के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि हम इतिहास को देखें तो सहज ही मालूम हो जाता है कि किस प्रकार भक्तों ने भगवान् को भी अपने वश में कर लिया था।

भक्त मीराबाई के विषय में आज सारा संसार सुन चुका है कि उसने अपनी भक्ति के बल पर निस्संकोच होकर जहर का प्याला पी लिया और भगवान् को स्वयं आकर उस जहर को अमृत बनाना पड़ा। चीर-हरण के समय द्रौपदी ने आपने आपको भगवान् के भरोसे छोड़ दिया और इसलिए भगवान् को दौड़कर उसकी लाज बचानी पड़ी। भक्त प्रल्हाद को स्वयं उसके पिता हिरण्यकश्यप के अत्याचार से अनेक बार बाल-बाल बचाना पड़ा।

हमारे धर्म ग्रंथों में भी ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनमें भक्तों की शक्ति के विषय में बताया गया है। कामदेव श्रावक की भक्ति ने उन्हें अनेक संकटों से बचाया। चंदनबाला की भक्ति ने हथकड़ियों और बेड़ियों को तिनके के समान टूक-टूक कर दिया तथा सेठ सुदर्शन की भक्ति और शील की शक्ति ने सूली को भी सिंहासन बना दिया।

वस्तुतः भक्ति में असीम शक्ति होती है। अगर वह अन्तर्मन से की जाती है। इसके विपरीत अगर व्यक्ति दुनियां को दिखाने के लिये और संसार के द्वारा ख्यातिप्राप्त करने के लिये दिखावटी भक्ति या भक्ति का ढ़ोंग करता है तो वह भले ही कुछ काल के लिये लोगों की आँखों में धूल झोंक दे, किन्तु उससे कोई भी शुभ फल प्राप्त नहीं कर सकता। उलटे उसकी आत्मा पतित हो जाती है और भविष्य में उसे दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। भक्ति का ढोंग करनेवाला व्यक्ति अपने मानव-जन्म का लाभ कभी नहीं उठा पाता और उसका यह जन्म प्राप्त करना न करना समान हो जाता है।

ऐसे व्यक्ति को तिरस्कृत करते हुए ही किसी पंजाबी कवि ने कहा है—

कि होया जे जन्म लिया तै, कदर जन्म दा पाया ना।
जिनेश्वर दी भक्ति वाला, सच्चा रंग चढ़ाया ना ॥
काम, क्रोध, मद, लोभ लुटेरे, अन्दर घाट मचाई ए।
भेद ए नां दा किसे नूँ नाहीं, तैं भी पता लगाया ना ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कवि का कहना है—अरे मानव ! तेरे मानवजन्म पाने से क्या लाभ हुआ, अर्थात् तूने जन्म लेकर क्या फायदा उठाया जबकि इस जन्म की कद्र नहीं समझी और अपने मन पर जिन भगवान् की भक्ति का सच्चा रंग नहीं चढ़ाया।'

'क्या तू नहीं देखता कि तेरे अन्दर सद् विचारों और सद्गुणों को लूटने एवं नष्ट कर देने वाले काम, क्रोध, मान, लोभ आदि लुटेरों ने डाका डाल दिया है और भयानक मार-काट मचादी है। यद्यपि अज्ञानी व्यक्ति तो इनके कुकृत्यों को समझ नहीं पाता और भविष्य में ये क्या परिणाम लायेंगे, इस भेद को नहीं समझ सकता। किन्तु बुद्धि और ज्ञान का अधिकारी बनने पर भी तूने इस रहस्य का पता क्यों नहीं लगाया ? घर में आग लगी हुई जानकर भी जो व्यक्ति कपट निद्रा में सोता रहता है। उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होता है ? क्या तू भी ऐसा ही मूर्ख है जो कि इन विकारों और कषायों का आत्मा पर आक्रमण होते हुए देखकर भी चुप बैठा है ? जरा समझ और ध्यानपूर्वक विचार कर कि मुझे क्या करना है और क्या नहीं—

फिरे भटकता दर-दर बन्दे, खोज अन्दर दी कीती नां,
प्रीतम तेरे कोल सी वसदा, नजर तैनूं पर आया नां।
बिना दाग सी चोला मिल्या, दागोदाग लगाए ने,
कभी लगाकर ज्ञान का साबुन, इक वी दाग मिटाया नां॥

कवि आगे कह रहा है—'अरे भोले प्राणी ! तू भगवान की खोज में दर-दर भटकता रहा। कभी मन्दिर में गया, कभी मसजिद में। कभी गिरजाघर गया और कभी गुरुद्वारे में। कभी तू तीर्थस्थानों में पहुंचा और कभी गंगा में नहाया। इस प्रकार भगवान की खोज में इधर से उधर घूमता रहा। किन्तु उस प्रभु की खोज तूने अपने अन्दर कभी नहीं की। कभी यह नहीं सोचा, वह तो घट-घट में निवास करता है। जिसकी आत्मा शुद्ध, पवित्र और सरल है ईश्वर का निवास वहीं है, उससे अलग कोई उसका स्थान नहीं है।

इस प्रकार निश्चय ही तेरा आराध्य सदा से तेरे समीप ही रहा है किन्तु तूने उसकी अपने अन्दर खोज नहीं की अतः वह तुझे नजर नहीं आया। कस्तूरी हिरण की नाभि में होती है किन्तु वह उसे पाने के लिये इतस्ततः दौड़ता रहता है। ठीक यही हाल तेरा भी हुआ है। और होता भी क्यों नहीं ? इसका कारण यह है कि तूने अपनी आत्मा को एवं अपनी दृष्टि को मलिन बना लिया है, ईश्वर ने तुझे इस संसार में पूर्णतया दाग रहित शरीर, मन और आत्मा के साथ भेजा था किन्तु तूने कुसंस्कारों को तथा दुर्गुणों को ग्रहण करके धीरे-धीरे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उन पर अनेकानेक काले धब्बे लगा लिये हैं और कभी भी उन्हें मिटाने का प्रयत्न नहीं किया।

जिस प्रकार साबुन और पानी के द्वारा वस्त्रों पर पड़े हुए दाग धुल जाते हैं और वह स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार किये हुए पापों को भी पश्चात्ताप और प्रायश्चित के द्वारा निर्मूल करके आत्मा को पवित्र बनाया जा सकता है। अगर व्यक्ति ज्ञानरूपी साबुन काम में लेता रहे तथा समय-समय पर विकारों के द्वारा पड़े हुए आत्मा के धब्बों को धोने का प्रयत्न करता रहे तो कोई कारण नहीं है कि वे धुल न सके और आत्मा शुद्ध न बन सके। आगे कहा है—

भले जनां दा संग न कीता, जिनवाणी नूँ सुनयां नां,
मानुषते बेअकली कीती, शरण गुरां दी आया नां।
सतगुरु शिक्षा लीती नाहीं, हीरा जन्म अमोल गया,
मिट्टी विच रुला के हीरा, हीरे नूँ तैं पाया नां॥

कहते हैं—अरे अबोध! तूने कभी भले व्यक्तियों की संगति नहीं की, सदा ही कुसंग में पड़ा रहा फिर कैसे तुझे आत्म-कल्याण का सही मार्ग मिलता? कहा भी है—

आप अकारज आपनो, करत कुसंगति साथ।
पांय कुल्हाड़ा देत है, मूरख अपने हाथ॥

अर्थ स्पष्ट है कि मूर्ख व्यक्ति कुसंगति में पड़कर अपने हाथ से मानों अपने पैर में ही कुल्हाड़ी मार लेता है। अर्थात् बुरे व्यक्ति की संगति में रहने से वह कुविचारों को अपनाता है और स्वभावतः कुविचारों के कारण अनाचार का पालन करता हुआ अपनी आत्मा को पापों में जकड़कर अपना ही अहित करता है।

इसीलिये कवि कहता है—अरे नादान! तूने न तो कभी सज्जन पुरुषों की संगति की, न कभी भगवान की वाणी का श्रवण किया और न ही कभी सद्गुरु की शरण में आकर उनसे आत्म-हितकारी शिक्षा भी ग्रहण की। इस प्रकार तूने जीवन भर बेअकली ही की है। अगर तुझमें तनिक भी अकल और समझ होती तो तू अपने जीवन को इस प्रकार गुण रहित और दाग-दार नहीं बनाता। तथा अपने मानव-जन्म रूपी हीरे की कद्र करता। किन्तु तूने तो उस अबोध बालक के समान कार्य किया है, जो हीरे की कद्र न जानने के कारण उससे घड़ी भर खेलकर मिट्टी में डाल देता है और भूल जाता है कि हीरे जैसी अमूल्य वस्तु मुझे प्राप्त हुई थी।

जिस प्रकार हीरा अपनी कीमत पहचान भी जाने पर व्यक्ति को निहाल कर देता है और कद्र दान के अभाव में मात्र एक कंकर बनकर रह जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसी प्रकार जो व्यक्ति मानव-जन्म के महत्त्व को समझ लेता है, वह उससे इतना लाभ उठा लेता है कि पुनः कभी जन्म लेने की उसे जरूरत ही नहीं पड़ती। किन्तु उसी मनुष्य-जन्म की कीमत न समझने वाला मूर्ख व्यक्ति उससे लाभ उठाना तो दूर उलटे इतने कर्म बांध लेता है कि अनन्तकाल तक पुनः पुनः जीता और मरता रहता है।

जीवन की सार्थकता

बंधुओं, हमें इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए कि एक मानव-जीवन वृथा चला जाय तो पुनः उसका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि पुनः इसकी प्राप्ति कब होगी। अतएव ऐसे जन्म को यों ही नष्ट कर देना महान् मूर्खता का लक्षण है। और इसलिये प्रतिपल यह स्मरण रखते हुए कि मृत्यु न जाने किस क्षण आ जायगी हमें जीवन के एक-एक क्षण का लाभ उठा लेना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि जीवन का लाभ किस तरह उठाया जा सकता है अथवा आत्म-कल्याण किस तरह किया जा सकता है? आत्म-कल्याण का अर्थ है आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाना। यह तभी हो सकता है कि मन के विकारों को दूर किया जाय और इन्द्रियों के विषयों से बचा जाय। जो मनुष्य इन्द्रिय-विजयी हो जाता है वह संसार में रहता हुआ भी सांसारिक पदार्थों से उदासीन रहता है तथा अनासक्तभाव से खाना, पीना, पहनना, सुनना और देखना आदि समस्त क्रियाएँ करता है। किसी भी पदार्थ या प्राणी के प्रति उसका राग भाव नहीं होता। चिकने कर्मों का बन्धन राग और द्वेष की भावना से होता है। अतः जो व्यक्ति इनसे बच जाता है वह संसार में रहते हुए और सांसारिक सुख-साधनों का उपभोग करते हुए भी कर्म बंधनों से बच जाता है। अतएव आसक्ति, लोलुपता एवं वृद्धि का त्याग कर देना ही वास्तव में आत्म-कल्याण का मार्ग है। इनका त्याग जितनी-जितनी मात्रा में होता जाता है आत्मा विशुद्ध होती जाती है तथा वह अपने निज स्वरूप को प्राप्त होने लगती है।

इस संसार में होने वाले समस्त अनर्थों का मूल केवल विषयासक्ति है। विषयों में ऐसा आकर्षण है कि ज्यों-ज्यों इनका सेवन किया जाता है त्यों-त्यों भोग लालसा बढ़ती चली जाती है। किन्तु महापुरुष अपने कठिन आत्म-संयम के द्वारा इस लिप्सा पर भी विजय प्राप्त कर ही लेते हैं।

'दशवैकालिक सूत्र' में कहा गया है—

सद्देसु अ रूवेसु अ, गंधेसु रसेसु तह य फासेसु।
न वि रज्जइ न वि दुस्सइ, एसा खलु इंदियप्पणिही।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—शब्द, रूप, रस, गंध एवं स्पर्श में जिसका चित्त न तो अनुरक्त होता है और न द्वेष करता है, उसी का इन्द्रिय-निग्रह प्रशस्त होता है।

यद्यपि, आसक्ति का त्याग करना चाहिये यह कहना तो सरल है किन्तु इसको व्यवहृत करना बहुत कठिन है। विषयों का सेवन करते जाना और उनमें आसक्त न होना बड़ी कठिन साधना से ही संभव हो सकता है। क्योंकि मधुर और स्वादिष्ट भोजन करने पर भी उसके प्रति राग भाव न होना साधारण बात नहीं है अतः साधक के लिये उचित यही है कि वह राग-भाव पैदा करने वाले आहार का त्याग कर दे। अन्यथा कदम-कदम पर उसे कठिनाई उपस्थित हो सकती है राग और आसक्ति से बचने का प्रयत्न करने पर भी वह भावनाओं के प्रवाह में बह सकता है और बहुत काल तक की हुई उसकी साधना अल्पकाल में ही मिट्टी में मिल सकती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो यह मानव अपने चित्त की भूमि से विषय-लालसा को मूल से ही उखाड़ डालते हैं वे ही निराकुल होकर परमार्थ की साधना करते हैं और सच्चे सुख का आनन्द उठाते हैं। किन्तु जो व्यक्ति अपने मन पर संयम नहीं रख पाते तथा उसे अपनी इच्छानुसार चलने देते हैं वे अपने जीवन का अन्त तक भी कोई लाभ नहीं उठा पाते और उसे निरर्थक कर देते हैं।

इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु के लिये आवश्यक है कि सदा अपने जीवन का निरीक्षण करता रहे और विचार करता रहे कि मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं, अन्य व्यक्ति मुझमें क्या क्या दोष देख रहे हैं और मैं उनके निवारण का प्रयत्न कर रहा हूँ या नहीं ? इस प्रकार सम्यक् रीति से अपने दोषों को देखने वाला व्यक्ति निश्चय ही भविष्य में ऐसा कोई कार्य नहीं करता, जिससे उसकी आत्मा का अहित होता हो वह कभी यह नहीं भूलता कि मनुष्य जन्म ही वह द्वार है जिसमें प्रवेश करके अपने लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् मुक्ति महल में पहुंचा जा सकता है।

जिस मानव ने अपनी आत्मा को कर्म-मुक्त करने का पवित्र उद्देश्य बना लिया है वह कभी भी संसार के प्रपंचों में पड़कर, विषय वासनाओं के आधीन होकर और भोगोपभोगों में आसक्त होकर अपने जीवन को निष्फल नहीं बनाता। वह पूर्ण समभाव धारण करके संसार के समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझता हुआ कषायों और विकारों से अपनी आत्मा की रक्षा करता है तथा अपने अनमोल जीवन का लाभ उठाता है। ऐसा धर्म परायण व्यक्ति वीतराग की वाणी को न केवल सुनता है अपितु उसकी सहायता से अपने जीवन को निखारता है, आत्मा को विशुद्ध बनाता है और अन्त में परमात्मपद की प्राप्ति करके अक्षय एवं अव्याबाध सुख को हासिल कर लेता है। ●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१६ शास्त्रं सर्वत्रगं चक्षुः

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

मनुष्य जीवन में चातुर्य लाने के लिए कई साधन हैं, किन्तु उनमें से सर्व प्रथम साधन है—शास्त्रों का अध्ययन। शास्त्र किसे कहते हैं, इस विषय में कहा गया है—

'शासयति जनान् इति शास्त्रम्।'

अर्थात्—जो लोगों पर शासन करे अथवा उन्हें हुक्म दे वह शास्त्र है।

शास्त्राज्ञा क्या है ?

प्रश्न होता है कि शास्त्र किस प्रकार लोगों पर शासन करता है, और उन्हें क्या आज्ञा देता है ? वह कहता है—

धर्मं चर अधर्मं मा कुरु।
सत्यं वद् असत्यं मा ब्रूहि।

यानी—धर्म का आचरण करो, अधर्म का आचरण मत करो। सत्य बोलो, असत्य मत बोलो।

इस प्रकार विधि और निषेध दोनों का ही शास्त्रों में विधान है। वह करने योग्य कार्य के लिए आज्ञा देता है और न करने योग्य का निषेध करता है। आत्म-कल्याण के लिये जो पथ्य है अर्थात् आवश्यक है उसे करने के लिए कहना और जो उसके लिए कुपथ्य है यानी त्याज्य है, उसे त्याग करने की आज्ञा देना शास्त्र का कार्य है। वह बताता है कि किन कारणों से आत्मा बँधती है और किन कारणों से बंधन मुक्त होती है।

जिस प्रकार वैद्यक-शास्त्र शरीर में होने वाली बीमारी के समय रोग को बढ़ाने वाली वस्तुओं का त्याग एवं रोग को घटाने वाली वस्तुओं का उपभोग करने की आज्ञा देता है उसीप्रकार आध्यात्मिक शास्त्र आत्मा को हानि पहुँचाने वाले उपायों का त्याग और उसे लाभ पहुंचाने वाले उपायों का प्रयोग करने की प्रेरणा देता है। कहा भी है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यस्माद् रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे।
संत्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः॥

—प्रशमरति १८७

अर्थ है—राग-द्वेष से उद्धत चित्त वालों को धर्म में अनुशासित करता है एवं उन्हें दुःख से बचाता है, अतएव वह सत्पुरुषों के द्वारा शास्त्र कहलाता है।

शास्त्र शब्द में दो धातुएँ मिली हुई हैं—'शासु और 'त्रैङ्'। इनका क्रमशः अर्थ है अनुशासन करना और रक्षा करना। शास्त्र मनुष्य की आत्मा को मलिन होने से बचाने के लिये अनेक उपयोगी कार्यों को करने की आज्ञा देकर मनुष्य पर शासन करता है और उसे विषय-विकारों से बचाकर अधःपतन की ओर ले जाने से बचाता है। शास्त्र वह चीज है जो मनुष्य का अंतर और बाह्य ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अवलोकन करने की क्षमता रखता है। कहा भी है—

शास्त्रं सर्वत्रगं चक्षुः।

शास्त्र सभी स्थानों पर पहुँचाने वाली आँख है।

जिस प्रकार हम और आप अपने नेत्रों से भौतिक पदार्थों को देखते हैं, उसी प्रकार शास्त्र रूपी नेत्र से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्ष आदि सभी को देखा जाता है यानी सभी का अध्ययन किया जाता है। और इसीलिये उसे सम्पूर्ण स्थानों पर पहुँचाने वाला नेत्र बताया गया है।

आपके मन में विचार आएगा कि ऐसा कैसे संभव हो सकता है ? पहाड़ के पीछे, दीवाल के पीछे, परदे के पीछे क्या है, यह शास्त्र कैसे जान सकता है ? पर बंधुओ, अवधिज्ञान, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान जिन्हें हो जाता है वे इस लोक की वस्तुओं को तो क्या, तीनों लोकों की वस्तुओं को देख लेते हैं। नरक और स्वर्ग में क्या हो रहा है इसे भी वे जान लेते हैं। आनन्द श्रावक का अवधिज्ञान हुआ था तो वे देख लेते थे कि स्वर्ग और नरक में क्या हो रहा है। ऐसा मूल पाठ शास्त्रों में है। तो यह कृपा शास्त्रों की ही है। शास्त्र-ज्ञान के अभाव में ऐसा विलक्षण ज्ञान प्राप्त होना कदापि संभव नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न और उठ सकता है कि हमारे यहां शास्त्र तो अनेक हैं जैसे व्याकरणशास्त्र, न्यायशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र तथा वैद्यकशास्त्र आदि। तो क्या इनमें से किसी का भी अध्ययन कर लेने से गंभीर ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। और आत्मकल्याण हो सकता है। ? नहीं, सभी शास्त्र समान फल प्रदान नहीं कर सकते। व्याकरण शास्त्र शब्दों की शुद्धि करके भाषा को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्दोष और सुन्दर बनाता है, न्यायशास्त्र बुद्धि को तीक्ष्ण बनाता है, ज्योतिष शास्त्र यहां बैठे-बैठे बता देता है कि सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण कब होगा तथा साहित्य शास्त्र कहता है—इस प्रकार बोलो और इस प्रकार शब्दों का प्रयोग करके भाषा को अलंकारमय बनाकर सुन्दरता प्रदान करो।

पर भाइयो ! ये सभी शास्त्र हमें इह-लौकिक सफलता ही प्रदान कर सकते हैं तथा हमारे इस जीवन को ही भिन्न-भिन्न प्रकार से संवार सकते हैं, किन्तु इनमें कोई भी हमारे परलोक को नहीं सुधार सकता तथा आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता। इस दृष्टि से केवल आध्यात्मिक शास्त्र ही एक ऐसा शास्त्र है जो यह बताता है कि आत्म उद्धार कैसे होता है, और आत्मा पापों से लिप्त कैसे होती है ? इसके अलावा केवल इतनी जानकारी देकर ही यह चुप नहीं हो जाता वरन् यह भी बताता है कि पापों से छुटकारा कैसे मिलता है। ? कैसी साधना कर्मों का नाश करती है, और उस साधना का किस प्रकार अभ्यास किया जाता है ? शास्त्र ही हमें बताता है कि दान, शील, तप और भाव रूप धर्म की आराधना करने से आत्मा विशुद्ध बनती है।

जैन शास्त्र धर्म के इन चार मुख्य रूपों में भावना को बहुत महत्त्व देते हैं, यों तो चारों ही धर्म के अंग हैं। किन्तु भाव रूप में धर्म, प्राण के समान माना गया है। जिस प्रकार शरीर का महत्त्व प्राणों से ही है; जब तक प्राण विद्यमान हैं शरीर टिका रहता है तथा उससे लाभ उठाया जा सकता है; उसीप्रकार भाव के होने पर ही दानादि धर्म फलप्रद बनते हैं। कहा भी हैं—

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

यानी भाव के अभाव में केवल शरीर से की जाने वाली क्रियाएँ निष्फल साबित होती हैं।

आध्यात्मिक शास्त्रों में भावना को लेश्या का नाम दिया गया है तथा उसका बड़ा विशद और गूढ़ विवेचन किया है। प्रसंग आ जाने में संक्षेप में आपको लेश्या के विषय में बता रहा हूँ। लेश्या के छः भेद हैं—

(१) कृष्ण लेश्या (१) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) पीत लेश्या (५) पद्म लेश्या तथा (६) शुक्ल लेश्या।

इन छहों में से प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ निष्कृट होती हैं और अंतिम तीनों श्रेष्ठ। किन्तु पहली से लेकर छठी तक ये क्रमशः एक दूसरी से श्रेष्ठ होती जाती हैं। अर्थात् - कृष्ण की अपेक्षा नील, नील की अपेक्षा कपोत, कपोत की अपेक्षा पीत, पीत की अपेक्षा पद्म और पद्म की अपेक्षा शुक्ल लेश्या श्रेष्ठ और विशुद्ध होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इनकी तरतमता को भलीभांति समझाने के लिये शास्त्रों में उदाहरण भी दिया गया है। वह इस प्रकार है।

एक बार छः व्यक्ति एक आम के बगीचे में पहुँचे। आमों से लदे एक वृक्ष को देखकर उनकी इच्छा आम खाने की हो गई। अतः उनमें से एक बोला— "भाइयो! अगर इस आम्र-वृक्ष को हम जड़ से काट लें तो इच्छानुसार भर पेट आम खा सकते हैं।" उस पुरुष की इस निकृष्ट भावना को कृष्ण लेश्या कहा जा सकता है।

उन व्यक्तियों में से दूसरा बोला—"अरे, वृक्ष को मूल से मत काटो, जिस डाल में अधिक आम लगे हैं उसी को काटकर नीचे गिरा लो तो हमारा सबका काम बन जायेगा और हम भरपेट आम खा लेंगे।," इस द्वितीय पुरुष की भावना भी यद्यपि निकृष्ट थी किन्तु पहले व्यक्ति की अपेक्षा विशुद्ध होने से नील लेश्या कही जा सकती है।

अब छहों में से तीसरा व्यक्ति बोला—"अरे! इतनी मोटी और पूरी की पूरी शाखा काटने से क्या लाभ है? केवल वही टहनियाँ काटो जिनमें आम लगे हुए हैं।" तीसरे व्यक्ति की यह भावना दूसरे की अपेक्षा अधिक शुद्ध है अतः उसे कापोत लेश्या कहा गया है।

चौथा व्यक्ति बोला—"भाइयो! वृक्ष की टहनियाँ भी व्यर्थ काटने से क्या फ़ायदा? हमें फल ही तो खाने हैं अतः पत्थर मार-मार कर फल ही न गिरा लें? पके-पके हम सब खा लेंगे और कच्चे-कच्चे छोड़ देंगे।" इस चौथे पुरुष की विचारधारा तीसरे से कुछ श्रेष्ठ है अतः उसे पीत लेश्या कहा है।

अब पाँचवें व्यक्ति की बारी आई। उसने कहा—"जब हमें कच्चे फलों को नहीं खाना है तो उन्हें व्यर्थ गिराने से क्या लाभ होगा? अच्छा हो कि हम सावधानी से केवल पके-पके आम ही गिराएँ और उन्हें खालें।" इस पुरुष की भावना काफी विशुद्ध रहीं अतः वह पद्म लेश्या कहलाई।

छठा व्यक्ति अभी चुपचाप बैठा सभी की बातें सुन रहा था। अब वह बोला—"वृक्ष को काटना या उस पर पत्थर मार-मार कच्चे-पक्के फलों को गिरा लेना ठीक नहीं है। सबसे अच्छा यही है कि कुछ देर इस वृक्ष के नीचे बैठकर प्रतीक्षा करो और जो पके फल स्वयं गिरें उन्हें सेवन करो।" छठे व्यक्ति की यह भावना सर्वश्रेष्ठ है। इससे साबित होता है कि वह व्यक्ति अपने पेट भरने के लिए अन्य किसी को तनिक भी कष्ट पहुंचाना नहीं चाहता। उसकी इस सुन्दर और करुणामय भावना को शुक्ल-लेश्या कहा गया है।

कृष्ण-लेश्या रखने वाला यानी सबसे निकृष्ट भावना रखने वाला व्यक्ति जिस प्रकार वृक्ष को मूल से काट देना चाहता था, उससे स्पष्ट हो जाता है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कि वह समय पड़ने पर अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए भी किसी की बड़ी से बड़ी हानि करने से नहीं चूकता, किन्तु सबसे विशुद्ध और शुक्ल-लेश्या रखने वाला व्यक्ति किसी भी प्राणी को रंचमात्र भी कष्ट दिये बिना अपना जीवन-यापन करता चला जाता है। परिणाम स्वरूप कृष्ण-लेश्या वाला व्यक्ति नरकों की यातनाएँ भोगता है और शुक्ल-लेश्या रखने वाला व्यक्ति स्वर्गीय सुखों का उपभोग करता है।

हम प्रायः देखते हैं कि व्यक्ति निरर्थक ही अपनी भावनाओं को अशुद्ध और कलुषित बना लेते हैं। जबकि उन भावनाओं के होने से उनका कोई लाभ नहीं होता और न होने से कोई हानि नहीं होती। उदाहरणस्वरूप कोई उदार श्रीमान् खुले हाथों से दान देता है तथा द्वार पर आए हुए प्रत्येक याचक को संतुष्ट करके भेजता है किन्तु उसका मुनीम सेठ को धन देते हुए देखकर कुढ़ता है और जलता रहता है। मौका मिलने पर लेने वालों को तिरस्कृत करने से भी नहीं चूकता।

गंभीरता पूर्वक सोचने की बात है कि सेठ जो धन दूसरों को देता है, उससे मुनीम को कौन सा घाटा जाता है और अगर न दे तो उसे क्या लाभ हासिल होता है? कुछ भी नहीं, फिर भी वह दान देते हुए मालिक को देख-कर अपनी भावनाओं को विकृत बनाकर अपने अन्तराय कर्मों का बंधन कर लेता है। इसीप्रकार व्यक्ति औरों का बुरा सोचता रहता है, पर उसके सोचने से क्या दूसरों का बुरा हो जाता है? उसका अहित या बुरा होना न होना तो उनके भाग्य पर निर्भर होता है किन्तु बुरा सोचनेवाले व्यक्ति की बुरी भावनाओं से स्वयं उसका बुरा तो हो ही जाता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को अपनी भावनाओं को सदा सात्विक और पवित्र रखना चाहिए। निरर्थक बुरे विचार व्यक्ति के जीवन के लिए घातक होते हैं।

इसीलिए शास्त्र में हमें अपनी भावनाओं को शुद्ध रखने का, समभाव में रमण करने का तथा अनासक्त भाव बनाए रखने का आदेश देते हैं। अगर व्यक्ति इनका महत्त्व समझ लेता है तो वह चाहे गरीबी में जीवन गुजारे या वैभव में लोट-पोट होता रहे, अपनी आत्मा को निश्चय ही विशुद्ध बना लेता है। भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती के विषय में आपने अनेक बार सुना और पढ़ा भी होगा कि असीम ऋद्धि के स्वामी होते हुए भी उन्हें अपनी भावनाओं के बल पर केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई थी। उनके विषय में एक श्लोक कहा गया है—

षट्खण्डराज्ये भरतो निमग्न—
स्ताम्बूलवस्त्रः सविभूषणश्च।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदर्शहर्म्ये जटिते सुरत्नै—
ज्ञानं स लेभे वरभावतोऽत्र ॥

अर्थात्—महाराज भरत छः खण्ड के अधिपति थे। उनके मुख में सदा पान का बीड़ा रहता था और शरीर बहुमूल्य आभूषणों से विभूषित रहता था। सुन्दर-सुन्दर रत्नों से जटिल महल में वे निवास करते थे, फिर भी उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

ऐसा क्यों और किसके प्रभाव से हुआ? केवल उनके सुन्दर विचारों से ही तो। उनके हृदय में अनासक्ति की भावना अत्यन्त प्रबल थी और चक्रवर्ती होकर भी वे सदैव समभाव में रमण किया करते थे। इसीलिए जो परम लाभ घोरतर तपस्या से भी उपलब्ध होना कठिन होता है वह उन्हें बिना तपस्या किये महल में बैठे ही प्राप्त हो गया।

वस्तुतः शुद्ध एवं अनासक्त विचार जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव डालते हैं तथा आत्म-कल्याणकारी बनते हैं। अतएव शास्त्र का आदेश मानते हुए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह कुविचारों को विषधर नाग के समान समझकर उनका त्याग करे। नाग तो फिर भी डस लेने पर केवल एक ही जीवन का अन्त करता है, किन्तु दूषित विचारों के नाग डस लेने पर अनेक जन्मों तक अपने विष का प्रभाव बनाये रखते हैं। इसके कारण ही जीव पुनः पुनः जन्म लेता है और मरता है। इनसे बचने के लिए हमें शास्त्रों का अध्ययन करना और उसमें बताए हुए निर्देशों को अपने जीवन में उतारना चाहिये।

वैष्णव धर्म-ग्रंथों में श्रुति और स्मृति, दो प्रकार के शास्त्र आते हैं। श्रुति में आते हैं उपनिषद्, जो तात्विक ज्ञान प्रदान करते हैं और स्मृति में स्मरण रखने वाली बातों का निर्देशन होता है जिन्हें जानकर मनुष्य यह समझ सकता है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। हमारे जैन शास्त्र यही विषय ज्ञान-क्रिया के रूप में बताते हैं। तो श्रुति और स्मृति अथवा ज्ञान और क्रिया दोनों को ही जीवन में उतारना आवश्यक है।

कुछ व्यक्ति कहते हैं—व्यवहार में क्या रखा है असली चीज तो मन की शुद्धि है। अगर हमारा मन ठीक है तो हमारी आत्मा का कल्याण हो ही जाएगा। ऐसा कहने वाले बड़ी भारी भूल करते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि केवल किसी वस्तु का ज्ञान मात्र हो जाने से ही वह लाभदायक नहीं बन जाती। उदाहरण स्वरूप आपके रसोई घर में क्या-क्या बना है, कितना बना है और उनमें से खट्टी, मीठी तथा चरपरी चीजें कौन-कौन सी हैं इसकी जानकारी कर लेने से ही कभी पेट नहीं भरता। पेट तभी भरेगा जबकि उन्हें हाथों से उठाकर मुँह में डाला जायेगा और उदरस्थ किया जायेगा। इसी प्रकार दान,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शील, तप, दया, अहिंसा, सत्य तथा क्षमा आदि समस्त सद्गुणों का ज्ञान कर लेने से और उनकी विशेषताओं को जान लेने से ही उनका शुभ फल नहीं मिलेगा अपितु उन्हें अपने व्यवहार में उतारने पर उनका लाभ, पुण्योपार्जन या कर्मों की निर्जरा के रूप में मिल सकेगा। हम मानते हैं कि मन की पवित्रता और उसमें रहे हुये सुन्दर विचार श्रेष्ठ हैं। किन्तु उन्हें उपभोग में न लाने पर उनका लाभ कैसे हासिल हो सकता है? जिस प्रकार तिजोरी में रखा हुआ धन जो सदा ताले में बंद रहता है। उसे खर्च नहीं किया जाता, व्यवसाय में नहीं लगाया जाता या ब्याज पर नहीं दिया जाता तो वह अपना उत्तम फल कैसे प्रदान कर सकता है?

एक पाश्चात्य विद्वान् ने भी कहा है—

"Wahlth is not his that has it, but his that enjoys it."

—फ्रेंकलिन

धन उसका नहीं है, जिसके पास है बल्कि उसका है जो उसका उपयोग करता है।

वास्तव में ही यह कथन बिलकुल सत्य है। धन उसी के लिए लाभदायक है जो उसका उपयोग दान देने में, दीन-दुखियों के अभावों को दूर करने में, ज्ञान प्राप्ति की संस्थाओं का निर्माण करने में अथवा ऐसे ही उत्तम कार्यों में करता है। शुभ कार्यों में लगाया हुआ धन पुण्य रूपी फल के रूप में उसे पुनः मिलता है। पर गाड़कर रखा हुआ अथवा ताले में बंद किया हुआ धन व्यक्ति के लिये सर्वथा निरर्थक साबित होता है। उसे कभी कोई छीन लेता है, चोर चुरा ले जाते हैं और अगर ऐसा न हुआ हो तो फिर व्यक्ति के मरने पर स्वयं ही यहीं छूट जाता है। अतः उसे सदुपयोग में लेना चाहिए ऐसा शास्त्र कहते हैं—

लक्ष्मीः कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकते,
प्रीतिश्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगताऽऽलिंगति।
श्रेयः संसृतिरभ्युपैति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थितिः,
मुक्तिर्वाञ्छति यः प्रयच्छति पुमान् पुण्यार्थमर्थंनिजम्॥

अर्थात्—जो पुरुष श्रेयस्कर कार्यों में अपने धन का व्यय करता है, उसे स्वयं लक्ष्मी चाहती है, सद्बुद्धि खोजती फिरती है, कीर्ति उसकी ओर टकटकी लगाये रहती है, प्रीति उसका चुम्बन करती है, सुभगता उसकी सेवा करती है, नीरोगता उसका आलिंगन करती है, कल्याण परस्पर उसके सम्मुख आता है, स्वर्ग के उपभोग की स्थिति उसका वरण करती है और मुक्ति उसकी अभिलाषा करती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इतने उत्तम फलों की प्राप्ति व्यक्ति को तभी होती है जबकि वह अपने धन का पहले सदुपयोग करता है तथा उसे उत्तम कार्यों में व्यय करता है। अगर वह ऐसा न करे तो वह धन उसको कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता।

बंधुओ, प्रसंगवश धनके विषय में काफी बता दिया गया है। अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार का सदुपयोग करने पर वह अनेक उत्तम फल प्रदान करता है, उसीप्रकार मन में रहे हुए ज्ञान और उत्तम विचार भी क्रियान्वित करने पर ही फल प्रदान करते हैं अन्यथा तिजोरी में रखे हुए धन के समान वे भी व्यक्ति के लिए सर्वथा निरर्थक साबित होते हैं।

अब हमारे सामने दूसरी बात आती है व्यवहार अथवा क्रिया की। कुछ व्यक्ति कहते हैं 'मन में कुछ भी रहे उससे क्या आता-जाता है? ऊपरी व्यवहार ठीक होना चाहिये।'

उनकी यह बात भी ठीक नहीं है। मन में कपट रखते हुए किसी स्वार्थवश दूसरे से प्रेम का व्यवहार रचना, दुनियां में पूजनीय बनने के लिये भगवान् की भक्ति एवं पूजा-पाठ का ढोंग करना तथा अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति को देखकर मन में ईर्ष्या, जलन और उसकी अवनति की भावना रखते हुए उसकी झूठी सराहना करना, ये सब क्रियायें अर्थात् प्रेम, भक्ति, पूजा या प्रशंसा जो कि मन से न की जाकर केवल शरीर से की जाती हैं उनका क्या महत्त्व है? कुछ भी नहीं। शरीर की क्रिया के साथ-साथ जब तक मन की भावनाएँ भी न जुड़ी हों तब तक कोई क्रिया फलवती नहीं हो सकती। कहा भी है—

"दान - शील - तपः सम्यग्भावेन भजते फलम्।"

भावना पूर्वक किया जाने वाला दान, शील और तप ही अपना श्रेष्ठ फल प्रदान करता है।

अभी मैंने आपको बताया भी था कि शरीर में जिस प्रकार प्राणों का महत्त्व है, उसीप्रकार दान, शील एवं तप के लिये भावना का महत्त्व है। इसके अभाव में ये सब निष्फल साबित होते हैं।

यह तो स्पष्ट साबित होता है कि हमारे जीवन में ज्ञान और क्रिया दोनों का ही समान उपयोग होना चाहिए। दूसरे शब्दों में निश्चय और व्यवहार दोनों ही जीवन में उतरने चाहिए। आपने एक अंधे और एक लंगड़े की कहानी सुनी होगी। एक बार जबकि वे एक जंगल में थे वहाँ आग लग गई। दोनों को जान बचाने की पड़ी। किन्तु अंधा देख नहीं पाता था इसलिये चलने में असमर्थ था और लंगड़ा यद्यपि देख तो सकता था किन्तु चल नहीं पाता था। अतएव दोनों बड़ी कठिनाई में पड़ गये और उधर दावाग्नि बढ़ने लगी। पर अचानक ही उन्हें एक उपाय जान बचाने का सूझ गया और उसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुसार लंगड़ा अंधे के कंधे पर बैठकर मार्ग बताने लगा और उसके संकेत पर अंधा चल पड़ा। परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे दोनों सुरक्षित स्थान पर पहुंच गए।

बंधुओ, निश्चय और व्यवहार अथवा ज्ञान तथा क्रिया का भी यही हाल है। ज्ञान यद्यपि देख सकता है, अनुभव कर सकता है किन्तु वह केवल जानने समझने वाला है, स्वयं क्रियात्मक रूप धारण नहीं कर सकता। और क्रिया कार्य सम्पन्न कर सकती है पर वह उचित अनुचित का ज्ञान नहीं कर सकती अतः निष्फल साबित हो जाती है। बिना ज्ञान के कार्य करना बालू में से तेल निकालने और पानी को बिलोकर मक्खन पाने की आकांक्षा करने के समान हो जाता है। संक्षेप में ज्ञान लंगड़ा होता है और क्रिया अंधी। अलग-अलग रहकर ये दोनों ही मानव-जीवन को सफल नहीं बना सकते। मानव का जीवन तभी सफल बन सकता है, जबकि मनुष्य ज्ञान के द्वारा सही मार्ग को समझे और क्रिया के द्वारा उस पर चले। इन दोनों के सुमेल से ही वह आत्म-उत्थान के सही पथ पर बढ़ सकता है।

यही बात श्रुति शास्त्र और स्मृति शास्त्र बताते हैं। आवश्यक है उनका अध्ययन और उन पर मनन करना अथा संतों के द्वारा जिनवाणी का श्रवण करना। जो व्यक्ति सद्गुरु की संगत नहीं करता और उनके उपदेशों पर अमल नहीं करता वह अज्ञानी व्यक्ति न ज्ञान ही हासिल कर पाता है, और न अपना आचरण ही शुद्ध बना सकता है। संत-जीवन तो स्वयं ही एक खुली हुई पुस्तक के समान होता है जिसका अवलोकन करके भी व्यक्ति कुछ न कुछ हासिल कर सकता है।

मराठी भाषा में एक प्रश्न और उसका उत्तर दिया गया है—

संताप हा शांत कशा प्रकारे ?
संता पहा शांत कशा प्रकारे !

पहली लाइन में किसी पण्डित ने पूछा है—'हाय ! मेरा संताप किस प्रकार शांत होगा ?' उत्तर अगली लाइन में बड़े सुन्दर तरीके से उन्हीं शब्दों में समझाया है—'संतो को 'पहा' यानी देखो, वे किस प्रकार शांत रहते हैं।'

अभिप्राय यही है कि दुःख और संताप तब तक कम नहीं होते, जब तक कि शांति धारण न करली जाय। कष्ट के समय हाय-हाय करने से और आर्त ध्यान करने से उस समय भी दुःख कम नहीं होता और कर्म-बंधन हो जाने से भविष्य में भी दुःख उठाना पड़ता है। किन्तु जो व्यक्ति पीड़ा और संताप को शांति से सहन करते हैं वे उस समय भी अपने मन की व्याकुलता से बच जाते हैं और भविष्य के लिए निर्भय हो जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्कंदक ऋषि के शरीर की चमड़ी उतार ली गई पर वे पूर्णतया शांति से कष्ट को सहन करते रहे और मुनि गजसुकुमाल ने सिर पर धधकते अंगारे रख दिये तब भी वे पूर्ववत शांत रहे। क्या उनके शरीर को उस समय संताप नहीं हुआ होगा ? अवश्य ही हुआ होगा किन्तु समभाव रखने की उनमें बड़ी भारी शक्ति थी जो संतों में पाई जाती है।

बहुत समय पहले की बात है कि किसी शहर में एक संत सेवाराम रहते थे। उनकी ख्याति से जलकर एक दुष्ट व्यक्ति ने उसे चोरी के झूंठे इलजाम में पकड़वा दिया। राज्य के कर्मचारियों ने उन्हें चोरी के अपराध को कबूल करने का आदेश दिया किन्तु झूंठे अपराध को वे कैसे कबूल करते ? उन्होंने स्पष्ट इनकार कर दिया।

इस पर पुलिस आफीसर ने उन्हें कोड़े से पीटने की आज्ञा दी और उनके शरीर पर कोड़े बरसने लगे। किन्तु वृद्ध महात्मा पूर्ववत शांति से और अपनी मधुर मुस्कान के साथ कोड़ों की मार सहते रहे। अंत में तंग आकर राज्याधिकारियों ने उन्हें छोड़ दिया।

संत का शरीर लहूलुहान हो रहा था और यह देखकर कई व्यक्ति उनके पास दौड़े आए और उनका उपचार करने लगे। उन्होंने आश्चर्य से देखा कि महात्माजी के चेहरे पर दुःख या संताप के कारण एक शिकन भी नहीं पड़ी है और वह प्रसन्नता से खिला हुआ है।

एक व्यक्ति से नहीं रहा गया अतः उसने कहा—"भगवन् ! आप इतने वृद्ध और दुर्बल हैं फिर भी इतनी कड़ी मार को कैसे सहन करते रहे ?"

महात्माजी ने उत्तर दिया—"भाई; संताप को शांति से सहन किया जाता है। मेरे मन में असीम शांति है अतः मुझे तनिक भी दुःख महसूस नहीं हुआ।"

तात्पर्य यही है कि संत जीवन से ही व्यक्ति को समभाव की शिक्षा मिलती है और उनके सदुपदेशों से शास्त्रों में रहा हुआ गूढ़-ज्ञान हासिल होता है। जो व्यक्ति शास्त्र-श्रवण एवं उसका अध्ययन करने में रुचि रखते हैं उन्हें दोहरा लाभ प्राप्त होता है। आप सोचेंगे ऐसा क्यों ? उत्तर में कहा जा सकता है कि शास्त्र के पठन-पाठन में रुचि रखने से प्रथम तो व्यक्ति सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति करता है, जीवन और जगत के रहस्य को जान लेता है। दूसरे उसका वह समय सुन्दर ढंग से व्यतीत होता है।

संस्कृत के एक श्लोक में कहा भी गया है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काव्यशास्त्रविनोदेन, कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन तु मूर्खाणाम्, निद्रया कलहेन वा।

बुद्धिमान व्यक्तियों का समय काव्य एवं शास्त्र से विनोद करते हुए बड़े उत्तम तरीके से बीतता है तथा मूर्खों का व्यसनों में, झगड़ों में या निद्रा लेने में निरर्थक चला जाता है।

काव्य के विषय में कहा है--'कवेर्भावः काव्यम्।' कवि के जो भाव बाहर आते हैं वही 'काव्य' कहलाता है। कवि का समग्र जीवन उपकार से भरा हुआ होता है। वह गिरे हुए उत्साह को उठाता है, रोती हुई आँखों के अश्रु सुखाता है, निराश प्राणियों के समक्ष आशा का दिव्य चित्र खींचता है, सोई हुई जाति को जगाता है तथा मरे हुए देश में भी पुनर्जीवन भर देता है। इस प्रकार वह दिलों को जीतता हुआ सबका प्रिय बन जाता है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक प्रेमचन्द जी ने एक स्थान पर लिखा है—

"कवि वह सपेरा है, जिसकी पिटारी में सर्पों के स्थान पर हृदय बन्द रहते हैं।"

कवियों की विशेषता यही है कि वे गंभीर और शिक्षाप्रद बातों को भी बड़े मनोरंजक ढंग से जगत के सामने रखते हैं। इसीलिये उनकी बात का प्रभाव लोगों पर अधिक पड़ता है। अभी अभी मैंने आपके सामने मराठी भाषा की दो लाइनें रखीं थीं—

संताप हा शांत कशा प्रकारे ?
संता पहा शांत कशा प्रकारे !

देखिये, दोनों लाइनों में वे ही शब्द हैं, उनमें से कोई भी बदला नहीं गया है किन्तु कवि की चतुराई से दो दोनों का अर्थ अत्यन्त मनोरंजक तरीके से बदल गया है जिसे मैं बतला चुका हूं। वे कवि ही होते हैं जो अपने काव्य द्वारा सरस ढंग से अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मनुष्य को प्रदान करते हैं। कवि की महत्ता बताते हुए कहा गया है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।
यथातथ्यतोर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

—ईशावास्योपनिषद्

कवि मन का स्वामी, विश्व प्रेम से भरा हुआ, आत्मनिष्ठ, यथार्थभाषी और शाश्वत काल पर दृष्टि रखने वाला होता है।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि संसार को विनोद ही विनोद में अनेक प्रकार की शिक्षाएँ प्रदान करने वाले कवियों के काव्य द्वारा बुद्धिमान् व्यक्ति अपना समय सुन्दर ढंग से बिताते हैं। तथा उनसे कुछ न कुछ हासिल करते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। साथ ही शास्त्र का अध्ययन, चिंतन और मनन करते हुए अपनी आत्मा को शुद्ध एवं सुन्दर विचारों से परिपूर्ण बनाते हैं। इसीलिये श्लोक में कहा गया है— **काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।'**

यह तो बुद्धिमानों के समय व्यतीत करने की बात हुई। पर मूर्खों का समय कैसे बीतता है यह भी श्लोक में आगे बताया है--**'व्यसनेन तु मूर्खाणाम् निद्रया कलहेन वा।'**

अर्थात् मूर्ख व्यक्तियों का समय जुआ खेलने, शराब पीने, या अन्य ऐसे ही व्यसनों में गुजरता है। किन्तु सारा समय जब उसमें भी नही बीतता तो वे अपने परिवार के सदस्यों से, पड़ौसियों से अथवा मित्रों से किसी न किसी बहाने उलझ पड़ते हैं और व्यर्थ के झगड़े खड़े कर लेते हैं। पर झगड़े भी सारे दिन नहीं किये जाते और समय बचता हैं तो फिर क्या किया जाय? जैसा कि श्लोक में बताया गया है, आराम से सो जाते हैं। बस इसीप्रकार व्यसन में, कलह में अथवा निद्रा लेने में धीरे-धीरे उनका अनमोल जीवन समाप्त हो जाता है और वे जैसे इस संसार में आते हैं उसी प्रकार खाली हाथ चल देते हैं। वे परलोक के लिये कुछ भी नहीं कर पाते, उलटे पाप-कर्मों का बंधन कर लेते हैं जो भविष्य में उन्हें अनेक जन्मों तक कष्ट पहुंचाने का कारण बनते हैं।

इसीलिये बंधुओं, हमें चेत जाना चाहिये तथा मूर्खों के समान व्यसन, कलह और निद्रा में ही अपना अमूल्य समय गँवाकर काव्य और शास्त्र के पठन-पाठन में लगाना चाहिये। ऐसा करने पर ही हमें हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञान हो सकेगा। अर्थात् जीवन के लिये क्या-क्या हेय होने के कारण छोड़ने योग्य है, क्या जानने योग्य है और क्या उपयोग में लाने योग्य है इसका पता चल सकेगा। जब तक व्यक्ति को इन बातों का पता नहीं चलेगा, जब तक वह आत्मोन्नति के सही मार्ग पर नहीं चल सकेगा तथा उसे मानव-जीवन का लाभ नहीं मिलेगा। अतः प्रत्येक मुमुक्षु व्यक्ति को शाश्वत सुख पाने के लिये शास्त्रों का अध्ययन करना और उनमें दिये गए आदेशों का पालन करना आवश्यक है। ऐसा करने पर ही वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१७ उत्तमपुरुष के लक्षण

धर्म प्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज मैं आपको सच्चे पुरुष के लक्षण बताने जा रहा हूँ। संस्कृत के एक श्लोक के अनुसार पुरुष के पांच लक्षण होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

पात्रे त्यागी, गुणे रागी, भोगी परिजनैःसह।
शास्त्रे बोद्धा रणे योद्धा, पुरुषः पंचलक्षणः॥

अर्थात्—जो व्यक्ति सुपात्र को दान देता हो, सद्गुणों के प्रति अनुराग रखता हो, अपने परिजनों के साथ ही आनन्द का अनुभव करता हो, शास्त्रों का जानकार हो तथा युद्ध के समय शूरवीरता से लड़ता हो वही सच्चा पुरुष कहलाता है।

(१) पात्रे त्यागी—

श्लोक में सत्पुरुष का प्रथम लक्षण बताया गया है कि वह सुपात्र के लिए त्याग करने वाला हो, अर्थात् सुपात्र को दान देने वाला हो। दान देने के लिए मनुष्य को त्याग अवश्य करना होगा। इसके बिना धन के प्रति उसकी आसक्ति कदापि कम नहीं होगी। फिर भी त्याग और दान में अन्तर है, जिसे सावधानी से समझना चाहिए।

त्याग और दान को साधारणतया लोग एक ही अर्थ में ले लेते हैं पर बारीकी के जाँच करने पर दोनों में जो फर्क है वह मालूम पड़ जाता है वह फर्क इसप्रकार है कि त्याग मनुष्य के अंतःकरण की चीज है और दान ऊपरी। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि त्याग पीने की दवा है और दान शरीर पर लेप करने की। त्याग में आत्मा की संतुष्टि है और दान में कुल और नाम का लिहाज। त्याग पापों की जड़ों को नष्ट करने वाला है और दान पुण्योपार्जन का साधन। त्याग से पाप का मूलधन चुकता है और दान से पाप का ब्याज।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार त्याग और दान समान दिखाई देने पर भी एक दूसरे से भिन्न होते और दोनों में से त्याग अपना अधिक महत्त्व रखता है। त्याग के अलावा संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाकर परमात्म पद की प्राप्ति करा सके। इस संसार में आज तक किसी ने भी अपने कर्म से, धन से, संतान से या शिक्षा से मोक्ष प्राप्त नहीं किया, अगर प्राप्त किया है तो केवल त्याग से। कहा भी है—

"स्वयं त्यक्ता ह्यते शमसुखमनन्तं विदधति।"

इन सांसारिक भोगोपभोगों का अपनी इच्छापूर्वक परित्याग कर देने से अनन्त सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार त्याग का जीवन में अतुलनीय महत्व है। किन्तु बंधुओ, दान भी कम महत्व नहीं रखता। जैसा कि अभी मैंने बताया था—दान अंतरंग की वस्तु हैं और आत्मा को अपने शुद्धरूप में लाने वाली है तथा दान बाह्य गुण है, किंतु यह बाह्य गुण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि त्याग जहाँ आत्मा को लाभकारी होता है वहाँ दान संसार के अनेकानेक प्राणियों को सुख, संतोष और शांति पहुंचाने वाला बनता है।

कोई व्यक्ति भले ही कितना भी त्यागी हो किन्तु अपने सामने आए हुए भूखे और नंगे व्यक्ति को रोटी और कपड़ा न दे तो वह मानवता से हीन ही माना जा सकता है। भगवान् महावीर का मुख्य उपदेश भी यही है कि—गरीबों पर अनुकम्पा रखते हुए उनके दुखों का निवारण करो। अनुकम्पा मनुष्य के अन्तःकरण में सात्विकता की ज्योति जगाती है। इसीसे प्रेरित होकर चौबीसों तीर्थंकरों ने दीक्षा ग्रहण करने से पहले एक वर्ष तक निरंतर दान दिया था। तीर्थंकर प्रतिदिन एक करोड़ और आठ लाख सोनैय्या दान में देते थे।

आप यह सुनकर आश्चर्य करेंगे और इस बात पर संदेह भी करने लगेंगे कि इतना धन उनके पास कहाँ से आता था? इसका कारण यही है कि आज के युग में बुद्धिवाद एवं तर्क-वितर्क की शक्ति बढ़ गई है और इन्होंने श्रद्धा को धूमिल कर दिया है किन्तु जिन बचनों पर श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति शास्त्र-ज्ञान से जान सकते हैं कि तीर्थंकर अनन्त पुण्य लेकर ही जन्म लेते थे तथा उनकी सेवा में अनेक देव रहा करते थे। दीक्षा ग्रहण करने से पहले जब वे दान देना प्रारम्भ करते थे, देवता इधर-उधर पड़े हुए या लावारिसों के धन को भी उनके खजाने में लाकर डाल देते थे ताकि वे मुक्त हस्त से दान दे सकें।

ध्यान देने की बात है कि जिनके पल्ले में पुण्य होता है वही उस धन को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रख सकता था, अन्यथा पुण्यहीन और कुमार्गगामी के धन का तो वे उलटे अपहरण कर लेते थे ऐसा भी वर्णन आता है।

तो दान देना मनुष्य जीवन की सार्थकता है और जिन्हें धर्म की तनिक भी पहचान होती है, वे इससे मुँह नहीं मोड़ते। क्यों कि दया ही धर्म का सबसे बड़ा लक्षण है। धर्म के विषय में किसी ने प्रश्न करते हुए लिखा है—

कथमुत्पद्यते धर्मः, कथं धर्मो विवर्धते ?
कथं च स्थाप्यते धर्मो, कथं धर्मो विनश्यति ?

पहला प्रश्न यह है कि—धर्म की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? दूसरा प्रश्न यह है—धर्म की वृद्धि कैसे होती है ? तीसरा प्रश्न है—धर्म किस प्रकार स्थिर रहता है और चौथे प्रश्न में पूछा है—धर्म का नाश कैसा होता है ?

उत्तर में कहा गया है—

"सत्येनोत्पद्यते धर्मो दया दानेन वर्धते।"

अर्थात्—धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है, दूसरे शब्दों में जहाँ सत्य होता है, वहीं धर्म निवास करता है।

आप लोग कहेंगे कि—'सदा सत्य ही बोलेंगे तो हमारा काम कैसे चलेगा ? भूखे मर जायेंगे, खाने को भी नहीं मिल पायेगा।' लेकिन ऐसी बात नहीं है। यह हमारे दिल की कमजोरी है। आज भी हम देखते हैं कि बम्बई में जिनका लाखों रुपयों का व्यापार है वे सच्चाई से अपना काम करते हैं। ग्राहक देखकर वे वस्तुओं का मोल घटाते बढ़ाते नहीं वरन् एक ही दाम रखते हैं। तो क्या वे भूखे मरते हैं ? नही, पर आज ऐसे सच बोलनेवाले कम हैं और झूठ बोलने वाले अधिक हैं। इसलिए सच बोलने वालों का भी दुनियां विश्वास नहीं करती। एक दृष्टान्त है—

"है सौ रुपयों की थैली, खोटा जो एक निकले।
फिर से सभी को परखे, शंका सभी मिटेगी।
उज्ज्वल धरम में हरगिज, कुछ पोल ना चलेगी॥

आपके सामने एक थैली है जिसमें सौ रुपये हैं। अगर उनमें से एक भी रुपया खोटा निकल आता है तो आप बाकी निन्यानवे को अच्छी तरह ठोक-पीटकर देखते हैं, तब कहीं उन्हें पुनः रखते हैं। इसी प्रकार थैली में निन्यानवे रुपये खोटे हों और एक असली हो तो उसे भी मार खानी पड़ती है।

तात्पर्य यही है कि सत्यवादी को सदा ही कठिन संकट में से गुजरना पड़ता है किन्तु अगर वह सच्चा है तो परीक्षाओं में से गुजरने के बाद भी वह सच्चा रहता है और उसका लोहा सभी को मानना पड़ता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसके अलावा उसके शुद्ध एवं निष्कपट हृदय में धर्म स्थिर रहता है। सच्चे व्यक्ति को कोई भी संकट डिगा नहीं सकता और अंत में वह खरा साबित हो जाता है इसीप्रकार धर्म में भी पोल नहीं चलती पर वह कठिन परीक्षाओं में से गुजर कर अपनी उज्ज्वलता का सिक्का लोगों के हृदयों पर जमा लेता है।

तो बन्धुओं, जहाँ सचाई है, वहीं धर्म का निवास है। अनेक व्यक्ति जिन्हें हम अनार्य या म्लेच्छ कहते हैं अपनी सत्यवादिता के कारण हमसे उच्च साबित होते हैं। वे चालीस गज का थान ग्राहकों को देते हैं, उसमें से एक अंगुल भी कपड़ा कम नहीं होता पर आप पाँच गज कपड़ा किसी को देते हैं तो उसमें भी एक या दो अंगुल कम नहीं हुआ तो आपने व्यापार ही क्या किया। यह देखते हुए मुझे कहना पड़ेगा कि वे लोग अनार्य कहलाते हुए भी आर्यों के उपयुक्त कार्य करते हैं और आप आर्य होते हुए भी अनार्यों के समान व्यवहार रखते हैं। पर आप अच्छे कुल, गोत्र और क्षेत्र में जन्म लेने से ही आध्यात्मिक जगत में आर्य नहीं कहला सकते और वे लोग निम्न जाति, कुल एवं क्षेत्र में जन्म लेने पर भी आर्यों से कम नहीं माने जा सकते, कारण केवल यही है कि उनके हृदय में सत्य है और सत्य में धर्म का स्थान होता है।

दूसरा प्रश्न है—**कथं धर्मो विवर्धते** ? यानी धर्म को वृद्धि कैसे होती है ? जिस प्रकार शिशु के जन्म लेने के पश्चात् उसके पोषण के लिये खुराक देनी पड़ती है उसी प्रकार धर्म के जन्म लेने के पश्चात् भी उसकी पुष्टि के लिये खुराक जुटानी पड़ती है और वह खुराक है—दया एवं दान।

दया एवं दान से धर्म की वृद्धि होती है। जिस व्यक्ति के हृदय में दया या करुणा की भावना होती है वह संसार के समस्त प्राणियों को आत्मवत् मानता है। पर जिसके हृदय में यह भावना जागृत नहीं होती और देशवासियों को भाई मानना तो दूर अपने सगे भाई को भी भाई न मानकर दुश्मन मानता है तथा मेरा और तेरा करता हुआ कलह में जीवन गुजार देता है, वहाँ धर्म की वृद्धि कैसे हो सकती है ?

हम मानव हैं। भाग्य ने हमें बुद्धि दी है और ज्ञान-प्राप्ति के शुभ संयोग भी जुटाये हैं तो हमें उनसे लाभ अवश्य उठाना चाहिये। अगर हम में शक्ति है, हम सम्पन्न हैं तो गरीबों पर दया करना तथा अभावग्रस्त प्राणियों के अभावों को दूर करना हमारा कर्तव्य है। इसके अलावा दान करके हम औरों पर एहसान नहीं करते क्योंकि जितना हम दूसरों को देते हैं उससे कई गुना अधिक पुण्य फल के रूप मे हमें पुनः प्राप्त हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महान् दार्शनिक शेक्शपियर ने भी कहा है—

"Mercy is turice blessed ; it blessed him that gives, and him that takes."

दया की कृपा दुतरफी होती है। यह दाता पर भी कृपा करती है और पात्र पर भी।

दान का महत्व प्रत्येक धर्म में बहुत अधिक माना जाता है। केवल जैन शास्त्र ही नहीं वरन अन्य सभी शास्त्र एक स्वर से दया करने और दान देने का आदेश देते हैं। भगवद्गीता में कहा गया है—'देशे, काले च क्षेत्रे च।' अर्थात्—देश, काल और क्षेत्र के अनुसार कहाँ कैसी जरूरत है यह देखकर व्यक्ति दान करे। दान देने से कभी व्यक्ति को हानि नहीं होती। मैंने अभी आपको बताया था कि दान का फल अनेक गुना पुण्य के रूप में पुनः लौट आता है। कहा भी है—

ब्याजे स्यात् द्विगुणं वित्तं, व्यापारे च चतुर्गुणं।
क्षेत्रे शतगुणं प्रोक्तं, पात्रेऽनन्तगुणं भवेत्॥

अर्थात्—रुपया दान देने पर दुगुना, व्यापार में लगाने से चौगुना, खेती से सौ गुना हो सकता है किन्तु पात्र में देने से वह अनन्तगुना हो जाता है।

संत तुकाराम जी ने भी अपने धन को दान में काम न लेने वाले लोभी व्यक्ति को धिक्कारते हुए कहा है—

"धिक जीणें त्याचे, लोभावरी मन।
अतिथी पूजन घडेचि ना।

यानी—उस व्यक्ति के जीवन को धिक्कार है जिसका हृदय पूर्णतया लोभ से ग्रस्त है। जो अपना ही पेट और अपनी ही तिजोरी भरता है किन्तु कभी दान या परोपकार की ओर ध्यान नहीं देता तथा घर आये हुए अतिथि का भी सम्मान और आदर नहीं करता। प्राचीन काल के ब्राह्मण समाज के विषय में सुनते हैं कि वे अकेले कभी भोजन नहीं करते थे वरन् किसी न किसी को साथ लेकर ही खाते थे।

हमारे जैन शास्त्रों में भी अनेक उदाहरण ऐसे आते हैं जिनके बारे में पढ़कर आश्चर्य होता है। अरणक श्रावक को सार्थवाह की पदवी मिली थी। वह क्यों ? इसलिये कि जब वे व्यापार करने जाते थे तो सम्पूर्ण नगर के लोगों को सूचित करवा देते थे कि—'जिस किसी को भी हमारे साथ परदेश में व्यापार करने चलना हो, खुशी से चल सकता है। साथ में चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति के खाने-पीने का, कपड़े-लत्ते का तथा आवश्यकतानुसार औषधोपचार का प्रबन्ध हम करेंगे। साथ ही हमारे साथ व्यापार करने पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अगर व्यापार में घाटा हुआ तो हम वहन करेंगे पर नफा होने पर सबको हिस्सा मिलेगा।"

कितना बड़ा हृदय होता था उन सार्थवाहों का ! पर आज सार्थवाह कोई नहीं है। सभी स्वार्थवाह हो गए हैं। गरीबों को लेकर चलना और अपने व्यापार में हुए नफे का भाग देना तो दूर, वे गरीबों को खाने के लिये दो पैसे तथा तन ढकने के लिए एकाध वस्त्र देने की भी परवाह नहीं करते। भले ही अपने घर शादी-ब्याह अथवा अन्य कोई अवसर होने पर हजारों ही नहीं लाखों रुपये भी खर्चा कर देते हैं किन्तु गरीबों के लिये उसका शतांश भी उनसे खर्च नहीं किया जाता।

इसीलिये एक श्लोक में कहा गया है—

"शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पंडितः।
वक्ता दशसहस्रेषु दाता भवति वा न वा।',

अर्थात्—सैकड़ों व्यक्तियों में एक शूरवीर निकल सकता है और हजारों में एक सच्चा पंडित। दस हजार में एक वक्ता हो सकता है पर दाता तो इतनों में से भी हो या न हो कुछ कहा नहीं जा सकता।

इसीलिये हमारे शास्त्र कहते हैं कि भाग्य से हमें मनुष्य जन्म प्राप्त हो गया है और धर्म के लक्षण समझने की बुद्धि भी मिल गई हो तो इसका उपयोग करते हुए हमें धर्म को अपनाना चाहिए तथा अपनाने के बाद उसे स्थिर और मजबूत बनाने के लिये दया एव दान का अवलंबन लेना चाहिये। इनके द्वारा ही धर्म स्थिर होता है तथा उसकी प्रभावना होती है।

क्रिश्चियन धर्म का प्रसार इसीलिये अधिक हुआ, क्योंकि इन लोगों ने करोड़ों रुपये गरीबों में बाँटे और उन्हें भोजन, वस्त्र आदि अनेक प्रकार की वस्तुएँ आवश्यकतानुसार प्रदान कीं। पर हमारे समाज में इतना प्रयत्न और परिश्रम करने वाले व्यक्ति कहाँ हैं ? वे परिश्रम करते जरूर है पर केवल अपनी सुख-सुविधाओं की पूर्ति करने के लिये और अपनी तिजोरियाँ भरने के लिये, और दान के रूप में अगर कुछ देते हैं तो अपना नाम दानदाताओं की लिस्ट में लिखवा कर नामवरी पाने के लिये। वे भूल जाते हैं कि दान तब दान कहलाता है, जबकि दाहिना हाथ जो कुछ दे उसे बाँया हाथ भी न जान सके। इसप्रकार दिया हुआ दान ही शुभ फल प्रदान करता है, ख्याति प्राप्ति के लिये दिया हुआ नहीं।

दान का महत्व मुस्लिम ग्रंथ भी बहुत अधिक मानते हैं। वे कहते हैं—

"सखावत कुनद नेक वख्त हश्तियार—
के मर्द अज़ सखावत कुनद बख्तियार।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सखावत बसे ऐबरा कीमियास्त,
सखावत हमादर्दहारा दवास्त ॥"

—ऐ, अच्छे नसीब वाले ! तू दान कर, क्योंकि फूटे नसीब वाले क्या दान देंगे ? ऐ, नेकवख्त ! तू ही सखावत यानी दान को अपना, क्योंकि दान देने से मर्द भाग्यशाली बनते हैं। दान देना ही समस्त दर्दों को मिटाने वाली एकमात्र दवा है अतः दान दिया कर।

इस प्रकार जैन व अजैन सभी धर्म दान को महत्व देते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति को दान देने की प्रेरणा करते हैं। एक दोहे में कहा भी है—

"सभी पंथ और ग्रंथ में, बात बतावत तीन।
राम हृदय, दिल में दया, तन सेवा में लीन ॥

दुनिया में जितने भी पंथ और धर्म ग्रंथ हैं उनमें तीन मुख्य बात बताई गई हैं। पहली है—हृदय में सदा राम को रखो ! यह मत कहो—

God is no where

ईश्वर कहीं नहीं है।

अपितु Where का w पीछे सरका दो, उत्तर सही मिल जायगा—

God is now here.

यानी भगवान अभी यहाँ अर्थात् हमारे हृदय में ही है।

ईश्वर को चाहे गॉड, राम, अल्लाह या भगवान किसी भी नाम से पुकारें बात एक ही है। केवल आवश्यकता है श्रद्धा की। श्रद्धा के बिना लिया हुआ भगवान का नाम केवल तोता रटन्त ही कहलायेगा, जिससे कोई लाभ नहीं होगा।

तो बंधुओ, मैं आपको पुरुष के पाँच लक्षण बता रहा था उनमें से पहला है—सत्पात्र के लिए त्याग करना यानी उसे दान देना। त्याग और दान का महत्व अभी हमने समझा है और अब हम सत्पुरुष के दूसरे लक्षण पर आते हैं।

(२) गुणे रागी

सच्चे पुरुष का दूसरा लक्षण है—सद्गुणों के प्रति अनुराग रखना। जो व्यक्ति उत्तम गुणों के प्रति अनुराग रखता है वह उन्हें अपनाने का भी प्रयत्न करता है।

गुणों का महत्व शब्दों से बताना संभव नहीं है। ये मानव जीवन के ऐसे बहुमूल्य आभूषण हैं, जिनके द्वारा आचरण निर्मल और पवित्र बनता है। तथा जीवन निखर जाता है। गुणी व्यक्ति जहाँ भी जाता है, सर्वत्र आदर और सम्मान प्राप्त कर लेता है। गुणों की प्रत्येक स्थान पर पूजा होती है, धन-सम्पत्ति, कुल अथवा शरीर के सौंदर्य की नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कवि गिरिधर ने कहा है—

गुन के गाहक सहस नर, बिन गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय॥

कहा गया है—गुण के हजारों ग्राहक होते हैं, किन्तु उनके अभावों में कोई किसी को नहीं पूछता। जिस प्रकार कौआ और कोयल रंग में समान होते हैं पर कोयल के मधुर स्वर को सब सुनते हैं। और उसकी सराहना करते हैं। कौए की काँव-काँव किसी को प्रिय नहीं लगती।

तात्पर्य यही है कि मनुष्य अपने गुणों से महान् बनता है। चाहे वह किसी भी जाति व कुल में उत्पन्न क्यों न हुआ हो।

कठौती में गंगा—

मीराबाई के गुरु, भक्त रैदास जाति के चमार थे और जूतियाँ गांठकर अपना जीवन-यापन करते थे।

एक बार एक ब्राह्मण यात्री गंगा-स्नान के लिए निकला, पर उसके गाँव से गंगा नदी बहुत दूर थी अतः चलते-चलते उसके पैर की जूतियां फट गईं। मार्ग में चलते हुए उसे रैदास चमार दिखाई दिया अतः उसने अपनी जूतियाँ रैदास को गाँठने के लिये दीं।

रैदास ने थोड़े समय में ही ब्राह्मण की जूतियाँ ठीक करके दे दीं और यह जानकर कि ब्राह्मण-देवता गंगा-स्नान के लिए जा रहे हैं। उन्हें एक सुपारी देते हुए कहा—"द्विज श्रेष्ठ; आप गंगामाई के दर्शन करने तो जा ही रहे हैं, मेरी यह सुपारी भी गंगा मैया को भेंट कर दीजियेगा।"

ब्राह्मण चकित होकर बोला—"भाई, गंगाजी तुम्हारे यहाँ से तो थोड़ी ही दूर हैं, फिर तुम स्वयं क्यों नहीं जाकर अपनी भेंट उन्हें चढ़ाते हो?"

रैदास ने उत्तर दिया—"देख तो रहे हैं आप, मुझे समय ही नहीं मिलता। इतनी सारी जूतियाँ सदा ही सामने पड़ी रहती हैं ठीक करने के लिए आस-पास और कोई चमार तो है ही नहीं और मैं भी काम न करूँ तो बेचारे यात्रियों को बड़ी तकलीफ होगी।"

ब्राह्मण बोला—"कैसे आदमी हो जी तुम? दिन-रात पेट के धन्धे में ही लगे रहते हो जरा सा समय निकाल कर गंगा मैया के दर्शन भी नहीं कर सकते? मुझे देखो मेरा गाँव मीलों दूर है पर मैं उतनी दूर से भी कई बार गंगा स्नान के लिए आया हूँ। और आज भी जा रहा हूं। असल में भगवान् के प्रति व्यक्ति की भक्ति होनी चाहिए वह तुममें आयेगी ही कहाँ से? जाति के चमार जो ठहरे।

ब्राह्मण के तिरस्कारपूर्ण वचनों को सुनकर भी रैदास के मुख पर क्रोध का तनिक भी भाव नहीं आया। वह अत्यन्त नम्रतापूर्वक बोला—"देव!

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आप श्रेष्ठ हैं मैं कहाँ आपकी तुलना में ठहर सकता हूँ। आप ठहरे नरश्रेष्ठ ब्राह्मण और मैं चमार। किन्तु कृपा करके मेरी यह सुपारी आप लेते जाइये और गंगा मैया को दे दीजियेगा।"

"अच्छी बात है लाओ!" कहकर ब्राह्मण ने वह सुपारी अनिच्छा से जेब में डाली और वहाँ से रवाना होने के लिए मुड़ा। इतने में ही रैदास ने पुनः कहा "भगवन्! मेरी यह सुपारी आप गंगा माता के हाथ में ही दीजियेगा, व्यर्थ मत उछालियेगा अगर गंगा मैया इसे अपने हाथों से न लें तो इस रास्ते से आप निकलेंगे ही, मुझे पुनः लौटा दीजियेगा।"

ब्राह्मण रैदास की यह बात सुनकर आपे से बाहर हो गया और तेज स्वर से बोला—"लो और सुनो, हम सैकड़ों बार गंगाजी में स्नान कर गये पर हमारी कोई भेंट गंगा माता ने अपने हाथों नहीं ली, पर वे तुम्हारी इस सुपारी को जरूर अपने हाथों में ले लेंगी जिसने आज तक कभी गंगा का दर्शन नहीं किया और जाति के भी चमार हो। पर मेरा क्या नुकसान है देखता हूँ जाकर कि तुम्हारी भेंट गंगा जी कैसे हाथों में लेती हैं।"

रैदास ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और अपनी स्निग्ध मुद्रा से ब्राह्मण को दूर से ही नमस्कार किया और पुनः जूतियाँ गाँठने बैठ गया?

ब्राह्मण थोड़े समय में ही गगा के किनारे पहुंच गया जो कि वहाँ से अधिक दूर नहीं थी। निर्दिष्ट स्थल पर पहुंचकर उसने गंगा की पूजा-अर्चना की भक्तिभाव से स्नान किया और अपने वस्त्र पहन लिये। कुछ देर बाद जब वह वहाँ से चलने को हुआ तो उसका हाथ किसी कार्यवश जेब में पहुंच गया। जेब में सुपारी थी जिसका स्पर्श होते ही उसे रैदास का ध्यान आया और वह बड़े तिरस्कार के भाव से सुपारी हाथ में लेकर बोला—"गंगा मैया! तुम्हारे बड़े भारी भक्त मोची ने यह सुपारी तुम्हारे हाथों में देने के लिए भेजी है और कहा है कि गंगा माता के हाथ में ही इसे देना।"

ब्राह्मण बड़ी नफरत और क्रोध से ये शब्द बोल ही रहा था कि उसे गंगा की पवित्र और निर्मल धारा में एक अपूर्व सुन्दर हाथ उठता हुआ दिखाई दिया। मारे आश्चर्य के ब्राह्मण की आँखें कपाल पर चढ़ गईं और उसने थर-थर कांपते हुए पुनः गंगा में उतर कर वह सुपारी गंगा के हाथ में रख दी। तत्पश्चात् वह ज्योंही लौटने को हुआ वही हाथ एक बार पानी के अन्दर जाकर वापिस बाहर आया और उसने एक देवी कंगन ब्राह्मण के हाथों पर रख दिया तथा साथ एक स्पष्ट आवाज गूंजी—"यह कंगन मेरे भक्त रैदास को देना।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ब्राह्मण यह चमत्कार देखकर दिग्मूढ़ सा रह गया और कंगन देखकर तो उसकी आँखें फटी सी रह गईं। बड़ी कठिनाई से वह जल के बाहर निकला और उस अभूतपूर्व कंगन को देखकर सोचने लगा—

"कितने आश्चर्य की बात है कि गंगा—मैया ने एक चमार की भेंट अपने हाथों में ले ली और बदले में यह कंगन उसे दिया है, ऐसा कंगन तो मैंने जीवन में कभी देखा ही नहीं! राजा-महाराजाओं के यहाँ भी ऐसा रत्न जटित कंगन नहीं हो सकता। पर वह चमार इसका क्या करेगा? अच्छा हो कि मैं ही इसे घर ले चलूं। ब्राह्मणी इसे पाकर खुश हो जाएगी मैं दूसरे रास्ते से घर को चला जाऊँगा। और फिर रैदास चमार को पता भी क्या चलेगा कि गंगा माता के उसकी सुपारी के बदले में मुझे उसके लिये क्या दिया है?"

इस प्रकार विचार करते हुए ब्राह्मण के मन में खोट आ गई और वह कंगन लेकर रैदास चमार की ओर न जाने वाले दूसरे चक्करदार रास्ते से जल्दी-जल्दी घर की ओर बढ़ा। कुछ समय पश्चात ही वह अपने घर के दरवाजे पर आ पहुंचा।

पति को गंगा स्नान से लौटा देखकर ब्राह्मणी दरवाजे पर आ गई और उसकी कुल क्षेम पूछने लगी। ब्राह्मण ने उसकी किसी बात का उत्तर न देते हुए अंगरखे की जेब से कंगन निकाला और पत्नी के हाथ पर रख दिया।

कंगन देखकर ब्राह्मणी भी आश्चर्य से अभिभूत हो गई और बोली—"यह कहाँ से आया?" ब्राह्मण ने झूठे घमंड से अकड़कर कहा—"मैंने इतनी बार पैदल जा जाकर गंगा स्नान किया है गंगा माई प्रसन्न हो गईं और मेरी भक्ति के फलस्वरूप उन्होंने यह कंगन मुझे भेंट किया है। लो तुम पहन लो इसे!"

पर ब्राह्मणी ने इनकार करते हुए कहा—

"नहीं, प्रथम तो मुझ दरिद्र के हाथ में यह शोभा ही नहीं देगा, दूसरे लोग चोरी की चीज कहकर हमें पकड़वा देंगे। इससे तो अच्छा यह है कि तुम सारी बात सही-सही बताकर इसे राजा को भेंट कर दो और इसके बदले में राजा हमें जो देंगे उससे हमारा निर्वाह होगा।"

ब्राह्मण को पत्नी की बात पसंद आई और कंगन लेकर राज दरबार में गया तथा राजा को भेंट कर दिया। राजा बहुत प्रसन्न हुए और उसके बदले में ब्राह्मण को काफी द्रव्य इनाम में दिया। इसके पश्चात जैसा कि स्वाभाविक था, कंगन राजा ने महारानी जी को दिया और ब्राह्मण की सारी बात बताई।

यह सब सुनकर महारानी जी ने उत्तर दिया—

"महाराज! यह सब तो ठीक है किन्तु एक बात तो आपके ध्यान में आई ही नहीं।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"वह क्या ?" राजा ने आश्चर्य से कहा।

"मैं कंगन एक हांथ में कैसे पहनूँगी ? दोनों हाथों में पहनने के लिये दो कंगन होने चाहिये। आप कृपा करके ब्राह्मण से इसके जोड़ का दूसरा कंगन भी मंगवा दीजिये।"

"पर यह कैसे हो सकता है ? ब्राह्मण के पास तो इसके जोड़ का कगन है नहीं, वह गंगा मैया की भेंट है और उन्होंने एक ही दिया था।"

"तो क्या हुआ ? ब्राह्मण देवता गंगा के सच्चे भक्त हैं अतः दूसरा भी उन्हीं से मांगकर ले आएँगे। जब वे एक कंगन दे सकती हैं तो दूसरा क्यों नहीं दे सकतीं ?"

"ठीक है, मैं ब्राह्मण को बुलाकर कहूंगा।" कहते हुए राजा रनिवास से आ गए और दूसरे दिन उन्होंने ब्राह्मण को दरबार में बुलाकर महारानी का आग्रह बताया तथा दूसरा कंगन लाने का आदेश दिया।"

ब्राह्मण ने राजा की आज्ञा पर अपना कपाल पीट लिया और झींकते-झींकते घर आया। ब्राह्मणी ने पति की अवस्था देखकर उसका कारण पूछा तो वह क्रोध में भरकर बोला—"औरतों की सलाह के अनुसार काम करने पर ऐसा ही होता है, अब बांधो बोरिया-बासना और निकलो इस राज्य से।"

"आखिर बात क्या है, वह तो बताओ ?" ब्राह्मणी ने विनय से पूछा। ब्राह्मण ने उसे राजा की आज्ञा सुना दी।

बेचारी ब्राह्मणी क्या जानती थी कि वह कंगन एक चमार की सुपारी के बदले उसे दिया गया था और ब्राह्मण धोखे से उसे अपना बनाकर ले आया है। अतः वह भी पति से बोली—

"इसमें इतनी चिन्ता की क्या बात है ? पहला कंगन हमने राजा को भेंट कर दिया है और दूसरा भी हमें तो रखना नहीं है। यह जान कर गंगा-मैया अवश्य ही तुम्हें दूसरा कंगन प्रदान कर देंगी। निश्चित होकर जाओ और गंगा-माता से प्रार्थना करके दूसरा कंगन ले आओ। आखिर तो तुम उनके इतने बड़े भक्त हो कि सारी दुनियां को छोड़कर तुम्हें ही उन्होंने यह दैवी कंगन दिया है।"

ब्राह्मण किस मुँह से पत्नी के सामने अपनी धोखेबाजी की बात कहता ? मन मार कर वहाँ से चल दिया। उसने सोचा कि जाकर गंगा में ही डूब मरूँ तो अच्छा और मन में यही विचार करके चलता रहा। पर मौत किसे अच्छी लगती है ?

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसार के जीव चाहे सभी दरिद्र हों, रोगी हों, या किन्हीं कारणों से अत्यन्त दुःखी हों, फिर भी मरना नहीं चाहते, जीवित रहने का ही प्रयत्न करते हैं।

यही हाल ब्राह्मण देवता का भी हुआ। मरने के लिए रवाना होते हुए थे, पर रास्ते में ही उससे मुँह मोड़कर रैदास चमार के पास आ गए और उसके चरणों पर गिरकर फूट-फूटकर रोने लगे।

रैदास ने शीघ्रता से उन्हें उठाया और रोने का कारण पूछा। अब ब्राह्मण ने अथ से लेकर इति तक उसे सारी बात बतादी और कहा—"भक्त रैदास, अब तुम्हीं मुझे इस मुसीबत से छुटकारा दिला सकते हो। अगर राजा को मैंने दूसरा कंगन ले जाकर नहीं दिया तो मुझे जान से मरवा देंगे। मेरी लाज तुम्हारे ही हाथ में है अतः कृपा करके मुझे तुम एक और सुपारी दो ताकि मैं गंगा मैया से मांग कर दूसरा कंगन ला सकूँ।

ब्राह्मण की बात सुनकर रैदास मुस्कराए और बोले—"ब्राह्मण श्रेष्ठ! तुम्हारी हालत बहुत खराब हो रही है अतः तुम्हें पुनः उतनी दूर जाकर गंगा-मैया से कंगन लाने की आवश्यकता नहीं है, मैं उस गंगा-मैया से यहीं मांग कर दे देता हूँ।"

यह कहते हुए रैदास जी ने अपने सामने रखे हुए चमड़ा भिगोनेवाले मिट्टी के कुण्ड में, जिसमें पानी भरा था, हाथ डाला और उसी क्षण पहले वाले कंगन के समान एक दूसरा कंगन निकाल लिया और ब्राह्मण को देते हुए कहा—

"लो इसे, ले जाकर राजा को दे दो तथा अपनी मुसीबत से छुटकारा प्राप्त करो।"

चमड़ा भिगोने के अशुद्ध पानी से ही रैदास के द्वारा गंगा-माता का दान वह कंगन निकालते देखकर ब्राह्मण मुँह बाये अवाक् खड़ा रह गया।

रैदास ने मुस्कराते हुए पूछा—"क्या सोच रहे हो? कंगन ले जाओ न।"

ब्राह्मण ये शब्द सुनकर मानों तन्द्रा से जागा और पुनः रैदास के चरणों पर गिरकर कहने लगा—

"रैदास जी! ईश्वर के और गंगा-माता के सच्चे भक्त आप ही हैं। मैं तो महापापी और धोखेबाज हूँ। इसीलिए मैं सैकड़ों बार गंगा-स्नान करके भी जो नहीं पा सका वह आपने बिना एक बार भी गंगा में स्नान किये प्राप्त कर लिया। मुझे क्षमा करो! धन्य हैं आपके गुणों को, जिन्होंने इतनी दूर से भी गंगा-माता को प्रभावित करके वरदान देने को बाध्य कर दिया।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिये कहा जाता है—

गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं दूरेऽपि वसतां सताम्।
केतकी गन्धमाघ्राय स्वयमायान्ति षट्पदाः॥

सद्गुणी पुरुष चाहे दूर भी रहें पर, उनके गुण उनकी ख्याति-प्रसार के लिए स्वयं ही दूत का कार्य करते हैं। केवड़े के पुष्प की सुगन्ध से आकर्षित होकर भ्रमर स्वयं उसके पास चले आते हैं।

तो बंधुओं, मनुष्य के रूप-रंग, जाति और कुल का कोई महत्व नहीं है, महत्व होता है केवल उसके गुणों का। भक्त रैदास चमार थे, किन्तु उनके भक्ति के असाधारण गुण के कारण ही स्वयं गंगा ने उन्हें वरदान दिया और आज भी लोग गद्गद होकर उन्हें स्मरण करते हैं। इसलिये प्रत्येक पुरुष को अगर सच्चा पुरुष कहलवाना है तो उसे सत्य, अहिंसा, शील, सेवा, क्षमा, करुणा एवं आचरण को सुन्दर बनाने वाले समस्त गुणों को अपनाना चाहिए और यह गुणों के प्रति अनुराग रखने पर ही संभव हो सकता है।

जो व्यक्ति गुणों का अनुरागी और पारखी होता है, वह यह नहीं देखता कि उसे गुण कहाँ से ग्रहण करने चाहिए। वे जहां कहीं भी मिले वह वहां से ग्रहण कर लेता है। इसका कारण यही है कि वह भली भाँति जानता है—

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाद् दूर्वापि गोरोमतः।
पंकात्तामरसं शशांक उदधेरिन्दीवरं गोमयात्॥
काष्ठादग्नि रहेः फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना।
प्राकाश्यं स्व गुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किंजन्मना?

—पंचतंत्र

रेशम कीड़े से, सोना पत्थर से, नील-कमल गोबर से, लालकमल कीचड़ के, चन्द्रमा समुद्र से, गोरोचन गाय के पित्त से, अग्नि काष्ठ से, मणि सर्प के फन से, और दूब कहते हैं कि गौ के रोम से उत्पन्न होती है। इन सब वस्तुओं के उत्पत्तिस्थान महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु गुण महत्वपूर्ण हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि महिमा गुणों की ही मानी जाती है जन्म स्थान की नहीं।

इसीलिये हमारा धर्म कहता है कि गुण कहाँ से भी मिलें प्राप्त करो और एक अक्षर भी जिससे सीखो उसे गुरु मानो। चाहे वह किसी भी हीन जाति या कुल का क्यों न हो।

(३) **भोगी परिजनैः सह**—

यह तीसरा गुण है; जो सच्चे पुरुष में होना चाहिये। सच्चा मानव वही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है जो सुख और दुख में समानभाव से अपने स्वजनों का साथ दे। यह नहीं कि सुख के दिनों में तो वह अपने परिजनों को अपना माने और दुःख के समय उनसे दूर भाग जाय। हम प्रायः देखते हैं कि अपने सुख के दिनों में भाई-भाई को भूल जाता है और बेटा बाप को पहचानने से भी इन्कार कर देता है। एक छोटा सा उदाहरण है—

मेरे पिता गुजर चुके—

किसी गरीब व्यक्ति के एक पुत्र था। उसने पुत्र का भविष्य सुधारने के लिए अपना पेट काट-काट कर उसे पढ़ाया और स्वयं दरिद्रता से भयानक संघर्ष करते हुए भी पुत्र को भरसक सुख-सुविधा के साधन जुटाये। इस प्रकार करते हुए अंत में पुत्र पढ़ लिख कर विद्वान् हो गया और उसकी उच्च सरकारी पद पर नियुक्ति हो गई।

बेचारे दरिद्र व्यक्ति ने यह सब इसलिये किया कि पुत्र पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बन जायेगा तो उसका बुढ़ापा सुख से निकलेगा। घर में और कोई है नहीं, पत्नी भी बहुत दिन हुए मर चुकी थी।

किन्तु पुत्र ने बड़ा आदमी बनते ही पिता की ओर से आंखें फेर लीं तथा उसे पत्र देना या अपने गाँव जाना भी छोड़ दिया। गरीब बापने किसी तरह कुछ अर्सा दुःख भोगते हुए बिताया पर जब उसके हाथ पैर अत्यन्त शिथिल हो गये और और अपने पेट भरने के लिये वह थोड़ा भी श्रम करने लायक नहीं रहा तो गाँव के हितचिन्तक निवासियों ने उसे सलाह दी—"बाबा! तुम्हीं अपने पुत्र के पास चले जाओ आखिर तो वह तुम्हारा खून है अतः पसीजेगा और तुम्हारे बुढ़ापे में काम आयेगा ही।"

वृद्ध व्यक्ति ने कोई उपाय न देखकर यही करना तय किया और बड़ी आशा से अपने जीर्ण-शीर्ण कपड़ों को एक पोटली में बाँधकर अपने लड़के के यहाँ जाने के लिये रवाना हो गया।

बहुत खोज-बीन करके वृद्ध पिता ने अपने पुत्र के बंगले को पाया और वह अन्दर प्रवेश करने लगा। फाटक पर चौकीदार था उसने जब एक देहाती वृद्ध को अंदर आते देखा तो डाँटकर पूछा—'कौन हो तुम?'

वृद्ध ने अपने लड़के का नाम बताते हुए कहा—मैं उसका अभागा बाप हूं, गाँव से आया हूँ।" यह सुनकर चौकीदार दौड़ा हुआ बंगले में आया और अपने मालिक जो कि अपने समक्ष और भी बड़े-बड़े पदाधिकारियों के साथ बैठे हुए शाम की चाय पी रहे थे, बोला—"हुजूर, गांव से एक देहाती वृद्ध आए हैं और अपने को आपके पिता बता रहे हैं।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"क्या बकते हो तुम ? कहते हुए उन्होंने बाहर झाँका और अपने बाप को पहचान लेने पर भी अपने मित्रों के समक्ष शर्मिन्दा होने से बचने के लिए हँसते हुए कहा—"मेरे पिता तो बचपन से ही गुजर चुके हैं। यह कोई पागल आदमी दिखाई देता है अतः फाटक से बाहर निकाल दो ! खबरदार ! यह सनकी बूढ़ा अन्दर न आने पाए।"

तो बंधुओ, स्वार्थी और नीच व्यक्ति थोड़ा साधन या उच्च पद पाते ही इसीप्रकार अपने आत्मीयों से ही क्या, भाई या बाप सभी से आँखें फिरा लेते हैं। माता-पिता जिस आशा से अपनी संतान का स्वयं नाना प्रकार के कष्ट सह करके भी जीवन बनाते हैं, उस आशा पर वे कुठाराघात कर देते हैं। और ऐसे पुरुष मनुष्य के रूप में रहकर भी मनुष्य नहीं कहला सकते। इसीलिए श्लोक में पुरुष का तीसरा लक्षण—**'भोगी परिजनैः सह'** बताया गया है।

(४) **शास्त्रे बोद्धा**—

पुरुष का चौथा लक्षण शास्त्रों का जानकार होना कहा गया है। व्यक्ति चाहे जितनी पुस्तकें पढ़ ले, और चाहे जितनी ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ हासिल कर ले, अगर उसे शास्त्रों का बोध नहीं है तो समझना चाहिए कि उसने कुछ भी ज्ञान हासिल नहीं किया है।

संस्कृत भाषा में कहा गया है—

श्लोको वरं परमतत्व-पथप्रकाशी,
न ग्रन्थकोटिपठनं जनरंजनाय।"

अर्थात्—मोक्ष मार्ग का पथ प्रदर्शक एक ही श्लोक श्रेष्ठ है किन्तु संसार को प्रसन्न करने के लिए करोड़ों ग्रन्थों का पठन करना भी व्यर्थ है।

बंधुओ, आप समझ गये होंगे कि ऐसा क्यों कहा गया है ? कारण यही है कि आज जो विद्या स्कूलों और कालेजों में पढ़ाई जाती है वह केवल भौतिक सफलता की प्राप्ति में सहायक होती है। अर्थात्—उसके द्वारा मनुष्य बड़ी-बड़ी नौकरियाँ प्राप्त कर सकता है तथा अधिक से अधिक धन कमाकर अपने जीवन के लिये भोगोपभोग की सामग्री जुटा सकता है।

किन्तु इससे आत्मा को क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं, चाहे जितना ऐश्वर्य व्यक्ति इकट्ठा करले, जीवन के अन्त में वह तो यहीं छूट जाता है और उनके लिए किये हुए अन्यायों, धोखेबाजियों और अनीतियों से अर्जित पापों का भार आत्मा के साथ बंध जाता है जो भविष्य में भी जन्म-जन्मान्तर तक कष्ट पहुंचाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु इसके विपरीत अगर व्यक्ति शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करे तो उनके द्वारा वह जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा पाने के उपायों को जान लेता है और उन उपायों के द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध एवं पवित्र बनाकर मृत्यु को जीत सकता है। इसीलिये पद्य में कहा गया है कि अगर व्यक्ति शास्त्र में से मोक्ष मार्ग पहचान कराने वाला एक श्लोक भी जीवन में उतार ले तो उससे इतना लाभ हासिल कर सकता है, जितना सांसारिक विद्या को सिखानेवाले करोड़ों ग्रन्थों के पठन से भी प्राप्त नहीं कर सकता।

शास्त्र-ज्ञान ही मनुष्य के अन्दर रहे हुए सद्गुणों को जगाता है, उसे प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्तिमार्ग की ओर ले जाता है तथा आसक्ति के चंगुल से छुड़ाकर विरक्ति की ओर उन्मुख करता है। कहा भी है—

"अध्यात्मशास्त्रमुत्ताल—मोहजाल वनानलः।"

अर्थात्—आध्यात्मिक शास्त्र ही भयंकर मोह-जाल रूपी वन को जलाने के लिये अग्नि के समान हैं।

इसलिये शास्त्र-ज्ञान मनुष्य के लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। क्योंकि आध्यात्मिक-ज्ञान प्राप्त किये बिना व्यक्ति अपने दुर्लभ मानव जीवन का महत्व नहीं जान पाता और इसका महत्व न जानने पर इसका लाभ भी नहीं उठा सकता। शास्त्र ही वह अपूर्व साधन है, जिसकी सहायता से मानव युक्ति के मार्ग पर चल सकता है और आत्मा को सदा के लिये इस संसार से छुटकारा दिला सकता है। अतः शास्त्र-बोध प्रत्येक के लिये आवश्यक है और जो इसका बोध करता है वही सच्चे मायने में पुरुष कहलाने का अधिकारी बन सकता है।

(५) रणे योद्धा

अब हमारे पद्य के अनुसार पुरुष का पाँचवाँ लक्षण 'रणे योद्धा' कहा गया है। इसका अर्थ यही है कि अपने धर्म के लिये, समाज के लिये अथवा देश के लिये अगर कभी रणांगण में जाकर लड़ने का काम पड़े तो व्यक्ति शूरवीर के समान युद्ध करे। कायर बनकर पीठ कभी न दिखाये। युद्ध में पीठ दिखाकर आने वाला व्यक्ति कभी संसार में सम्मान और आदर प्राप्त करने का अधिकारी नहीं बनता तथा उसमें मर जाने वाला व्यक्ति सदियों तक के लिये अपना नाम अमर कर जाता है। महात्मा तुलसीदास जी ने कहा है :—

सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।
विद्यमान रन पाइ रिपु, कायर करहिं प्रलापु॥

जो सच्चे योद्धा और वीर होते हैं वे समर भूमि में करनी करके बताते हैं, व्यर्थ का गर्व करके बातें नहीं बघारते। किन्तु कायर व्यक्ति सामने दुश्मन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को देखकर मिथ्या अहंकार के वश बातें अवश्य बनाते हैं पर जान का खतरा देखते ही भाग खड़े होते हैं।

वस्तुतः वीर पुरुष कायरता प्रदर्शित करने की अपेक्षा मर जाना अधिक पसंद करते हैं और इसीलिये वे एक बार ही मरते हैं. जहाँ, कायर बार-बार पीठ दिखाकर दुनिया की दृष्टि में तिरस्कृत होते हैं और इस प्रकार बार-बार मरते हैं।

यह एक बात और भी ध्यान में रखने को है कि इस संसार में केवल भौतिक पदार्थों के लिये होने वाला युद्ध ही युद्ध नहीं है अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से अगर हम विचार करते हैं तो मन की विषय-वासनाओं, विकारों एवं कषायों से लड़ना भी युद्ध है। ये विषय-विकार आत्मा के सबसे बड़े दुश्मन हैं और इन्हें जीतना भी कम मुश्किल नहीं है। अनेक योगी और महर्षि भी कभी-कभी इन से हार खाकर अपने हथियार डाल देते हैं। आपने घोर तपस्वी विश्वामित्र का नाम सुना होगा जिन्होंने अपनी वर्षों की तपस्या को मेनका के अल्प-कालीन हाव-भावों पर खो दिया था। ऐसे अनेक उदाहरण हमें बताते है कि 'काम' पर विजय पाना बड़ा कठिन है और यह बड़े-बड़े योगियों को भी भोगियों की कतार में लाकर छोड़ देता है। इसके प्रभाव से राजा, रंक, पंडित, मूर्ख, रोगी या भिखारी कोई भी बच नहीं पाता। कहा भी है:—

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं,
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्रं च जीर्णं शतखण्डमयी च कन्था,
हा हा! तथापि विषयान्न परित्यजन्ति॥

अर्थात् जो भीख माँग कर रूखा-सूखा खाता है, जमीन पर सोता है, परिवार के नाम पर केवल देह जिसकी होती हैं, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहनता है तथा सैकड़ों चिथड़े जोड़-जोड़कर जिसकी कथड़ी बनती है, बड़ा खेद है कि ऐसा व्यक्ति भी विषय-भोगों का त्याग नहीं कर पाता।

इस कथन से स्पष्ट है कि काम-विकार अत्यन्त शक्तिशाली होता है और इसे जीतना मनुष्य के लिये अत्यन्त कठिन होता है। किन्तु जो पूर्णतया जीत लेता है वह सच्चा वीर कहलाता है।

शंकराचार्य का कथन भी प्रश्नोत्तर के रूप में हैं—

शूरान्महाशूरतमोऽस्ति को वा—
मनोज बाणैर्व्यथितो न यस्तु।

वीरों में सबसे बड़ा वीर कौन है? जो काम-बाणों से पीड़ित नहीं होता। तो बंधुओं, हम सांसारिक दृष्टि से युद्ध में दुश्मनों को जीतने वाले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बहादुर को वीर कहते हैं, किन्तु जो विषय-विकारों को जीत लेता है उसे महावीर कहा जाता है। और वास्तव में ही वह महावीर हैं जो अपने समस्त आत्मिक शत्रुओं को जीत लेता है। जिन्हें जीतना अत्यन्त कठिन कार्य है।

आशा है आपने सच्चे पुरुष के पाँचों लक्षणों को भली-भांति समझ लिया होगा और यह भी जान लिया होगा कि इन के अभाव में पुरुष पुरुष नहीं कहला सकता। आकृति से तो इस संसार में करोड़ों व्यक्ति दृष्टि गोचर होते ही हैं, किन्तु सच्चे पुरुष-पुंगव वे ही कहलाते हैं जो अभी-अभी बताए गये पाँचों उत्तम लक्षणों से युक्त हों। ऐसे पुरुष ही यथार्थ में अपने जीवन को सफल बनाते है तथा अपने लक्ष्य को सिद्ध करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१८ | धर्मरूपी कल्पवृक्ष....

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

जिस प्रकार व्यक्ति एक जहाज के द्वारा असीम जलराशि को पार कर जाता है, उसी प्रकार धर्म रूपी जहाज के द्वारा यह संसाररूपी अथाह सागर पार किया जा सकता है। एकमात्र धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो अनन्त काल से भिन्न-भिन्न योनियों में भटकती हुई आत्मा को इनसे छुटकारा दिला सकती है।

कर्म ही मानव के मानस को परिष्कृत करता है, कर्तव्य-अकर्तव्य का भान कराता है तथा सांसारिक प्रलोभनों से बचाता हुआ मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर करता है। धर्म की महिमा वर्णनातीत है, क्योंकि यह एक कल्पवृक्ष है जिससे भौतिक एवं आध्यात्मिक समग्र सुख हासिल होते हैं।

एक संस्कृत के श्लोक में भी बताया गया है :—

प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता नन्दना नन्दनानां,
रम्यं रूपं सरस कविता चतुरी सुस्वरत्वम्।
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धि,
किं नु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्म कल्पद्रुमस्य ॥

अर्थात् विशाल राज्य, सुभग पत्नी, पुत्रों के पुत्र एवं पौत्र, सुन्दर रूप, सरस कविता, निपुणता, मधुर स्वर, नीरोगता, गुणानुराग, सज्जनता तथा सद्बुद्धि आदि ये सभी कर्मरूपी कल्पवृक्ष के फल हैं जिनका एक जिह्वा से कहाँ तक वर्णन किया जाय ?

धर्म के विषय में इतना ही नहीं आगे भी कहा गया है :—

'दिव्वं च गइं गच्छन्ति चरित्ता धम्ममारियं।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री उत्तराध्ययन सूत्र की यह गाथा है ; जिसमें बताया है—आर्य धर्म का आचरण करके महापुरुष दिव्यगति (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक शुभ फलों को प्रदान करने वाले धर्म को कल्पवृक्ष की उपमा दी जाय तो कौनसी बड़ी बात है? इस कल्पवृक्ष के द्वारा मनुष्य प्रत्येक इच्छित पदार्थ की उपलब्धि कर सकता है। धर्म के बल पर ही वह स्वयं इस संसार-सागर को पार करता है तथा अन्य प्राणियों को भी अपने साथ तैराकर ले जाता है।

मराठी भाषा में भी एक पद्य है—

गर सम घर सम जुनिया,
जे हरी नामा मृतांत तर तरले।
तरले ते चि न केवल,
त्यांचे भवसागरीं पितर तरले॥

महाराष्ट्र में मोरोपंत नामक बड़े सुप्रसिद्ध कवि हुए हैं। आप जानते ही हैं कि जिस प्रकार आभूषण सुनारी के सौन्दर्य को बढ़ा देतेहैं उसी प्रकार कवि भी अपनी भाषा को रस एवं उपमा आदि अलंकारों से सुन्दर बना देते हैं। इस पद्य में भी मोरोपंत कवि ने अलंकारमय भाषा में कहा है—जिसने अपने घर को जहर के समान समझकर त्याग दिया हैं तथा हरि नाम यानी परमात्मा के नाम रूपी अमृत का पान किया है वह स्वयं तो भवसागर तैरा ही है, साथ ही उसके पूर्वज भी तर गये हैं।

मैं इस विषय को मराठी भाषा में थोड़ा सा कहता हूं :—

"ज्या आत्माने घराला विषा प्रमाणं समजुन, ज्या प्रमाणे हे प्राणांतक आहे त्याच प्रमाणे हे संसार सुद्धा आत्म साधनेत घातक आहे असें समजुन जे परमेश्वरा चे नाम स्मरण रूपी अमृताने तरबतर झाले, भिजून गेले, गुंगले, रंगले। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, तप, जप मधे जे लागले हे जे दहा प्रकारां चे धर्म आहेत, धर्माचा काही एक स्वरूप नाहीं। विशेष काय सांगावे, त्यांचा मुष्ठे त्यांचे पितर सुद्धा या भवसागर तरले।"

अर्थात् —"जिस आत्मा ने घर को विष के समान समझा है और जिस प्रकार विष प्राणघातक है, उसी प्रकार संसार भी आत्म-साधना का घातक है ऐसा मानकर भगवान के नाम स्मरण रूपी अमृत में जो भीग गये हैं, रंग गये हैं तथा सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, तप, जप आदि दस प्रकार के धर्मों को अपना चुके हैं वे स्वयं तो संसार-समुद्र से पार हुए ही हैं, साथ ही उनके पितर भी तर गये हैं यानी सदा के लिये अमर हो गये हैं।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हम स्वयं भी भगवान महावीर का नाम लेने के साथ ही उनके माता-पिता श्री सिद्धार्थ राजा और त्रिशला रानी को भी श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। वह क्यों ? इसीलिये कि उन्होंने धर्म के सच्चे स्वरूप को समझा और उसे अंगीकार किया था। धर्म साधारण चीज नहीं है, उसके समान उत्कृष्ट चीज इस संसार में कोई है ही नहीं। जो इसे सच्चे मायने में समझ लेते हैं तथा जीवन में रमा लेते हैं वे अपने साथ ही अनेकानेक अन्य प्राणियों का भी उद्धार कर देते हैं।

भगवान महावीर अपनी साधना करते थे किन्तु चण्डकौशिक सर्प को अपने प्रभाव से आठवें स्वर्ग में पहुंचा दिया। मनुष्यों की हत्या करके उनकी अंगुलियों की माला पहनने वाले अंगुलिमाल डाकू और प्रतिदिन छः प्राणियों की हत्या करने वाले अर्जुन माली को भी उन्होंने आत्म-कल्याण के मार्ग पर लगाया।

कहने का अर्थ यही है कि सन्त-मुनिगण एवं अवतारी पुरुष अपना जन्म लेकर अपना कल्याण तो करते ही हैं, साथ ही संसार के अन्य प्राणियों के सहायक बनते हैं। औरों का दुःख भी उन्हें अपना दुःख महसूस होता है क्योंकि अपनी आत्मा के समान ही वे अन्य समस्त प्राणियों की आत्मा को मानते हैं। अपने गाँव, जिले या प्रांत के प्राणियों का ही नहीं, वरन सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों का उद्धार हो, ऐसा वे चाहते हैं।

"शिवमस्तु सर्व जगतः,
परहित निरता भवन्तु भूतगणाः ॥

दूसरों के कष्टों का निवारण करने में जो लोग लगे हैं, ऐसे लोग संसार में होवें।

अपना स्वार्थ तो प्रत्येक प्राणी सिद्ध करता ही है चाहे वह अमीर हो या गरीब हो। पर इसमें क्या बड़ी बात है ? व्यक्ति की महानता उसमें है कि वह दीन, दरिद्र, दुखी, असहाय एवं अभावग्रस्त प्राणी की सहायता करे, उनकी सेवा करे और उनसे प्रेम रखे। ऐसा करने वाले व्यक्तियों का जीवन ही सफल कहलाता है।

"उपासक दशांगसूत्र" के मूल पाठ में आनन्द श्रावक का वर्णन आता है। वे साधु नहीं थे, फिर भी कितने महान थे यह हम शास्त्रों के पठन से जान सकते हैं। उनको कई उपमाएं विशेषण के तौर पर दी गई थीं।

सर्वप्रथम उन्हें 'आधारभूत' कहा गया है। जिस प्रकार छत के लिये खंभे आधारभूत होते हैं उसी प्रकार वे अनेक प्राणियों के लिये सभी प्रकार का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आधार बने हुए थे। अनेकानेक प्राणी उनकी छत्रछाया के नीचे पलते थे और अपनी जरूरतों को पूरा करते थे।

दूसरा विशेषण उनके लिये था 'चक्षुभूत'। प्राणी के सम्पूर्ण शरीर में आंख का बड़ा भारी महत्व होता है। सभी जानते हैं और कहते हैं—आँखों के बिन सारा जग ही सूना है।

कविवर रहीम ने कहा है—

मन सो कहां रहीम प्रभु, दृग हो कहा दिवान।
दृगन देखि जेहि आदरे, मन तेहि हाथ बिकान॥

आँखें मन के लिये दीवान के समान होती हैं। और जो व्यक्ति आँखों के द्वारा किसी के भव्य व्यक्तित्व को एवं आँखों के द्वारा झलकने वाले उसके स्नेह, करुणा, वात्सल्य आदि सुन्दर सद्गुणों को पहचान कर उनका आदर करता है मन उसके हाथ स्वयं ही बिक जाता है अर्थात् प्रभावित हो जाता है, दूसरे शब्दों में मन के आँखें नहीं होतीं वह तो शरीर में रहे हुए चक्षुओं की कसौटी पर कसी जाने वाली वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है या नफरत करता है, यानी आँखों की सूचना के आधार पर ही वह अपना कार्य करता है।

तो मैं आपको आँखों के महत्व को बता रहा था और कह रहा था कि आँखें ही जहां अपने मन के भावों का दर्पण होती हैं, वहाँ दूसरे मन को परखने की भी शक्ति रखती हैं। किसी दार्शनिक ने तो यहाँ तक कहा है कि —"आँख जहाँ ब्रह्मांड एवं शरीर के आदान-प्रदान का माध्यम है, वहीं वह आत्मा-परमात्मा के अनन्त प्रणय का सेतु भी है।"

आनन्द श्रावक को भी 'चक्षुभूत' इसलिये कहा गया है कि वे अज्ञानी, पथभ्रष्ट प्राणियों का मार्ग-दर्शन करने में पूर्ण समर्थ थे।

उनकी तीसरी विशेषता यह थी कि वे संसारी प्राणियों के लिये 'मेढ़ीभूत' थे ऐसा शास्त्रों में आता हैं। किसान खलिहान में फसल इकठी करता है और फिर उसमें से अनाज निकालने के लिये उसे जमीन पर बिछाता है। तत्पश्चात उसपर बैलों को एक कतार में बांधकर उस पर खूब घुमाता है, ताकि उनके पैरों से अनाज झड़ जाए और घास अलग हो जाए। पर ध्यान देने की बात है कि बैल बिना किसी आधार के उस पर नहीं घूम पाते और इसलिये अनाज के बीचोंबीच लकड़ी की एक मेढ़ी बनाकर गाड़ देते हैं और उससे बँधी हुई रस्सी के सहारे से बैल घूमते रहते हैं।

आनन्द श्रावक भी मनुष्यों के लिये मेढ़ी के समान थे यानी उनकी सद्-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रेरणा, सद्शिक्षा और सहायता के आधार पर अनेक प्राणी अपने जीवन को सफलतापूर्वक बिताते हुए उस पुण्य-कर्म रूपी अनाज के दाने इकठे करते थे जो उनके परलोक में काम आते थे।

आनन्द श्रावक को 'अपराजेय' भी कहा जाता था। वह इसलिये कि धर्म तीन काल और तीनों लोकों में किसी भी प्रकार असत्य साबित नहीं होता और किसी भी तर्क से उसका खण्डन नहीं किया जा सकता। आनन्द ऐसे ही सच्चे धर्म को धारण करनेवाले थे अतः वे किसी भी प्रकार की मिथ्या धारणाओं से पराजित नहीं हो सकते थे।

उनके घर में बारह करोड़ सोनैय्या होते हुए भी वह उस धन से सर्वथा उदासीन और विरक्त रहते थे। अपने ऐश्वर्य में उनकी न तो तनिक भी ममता थी और न ही उसके लिये गर्व का भाव था।

हालांकि इतिहास में मम्मन सेठ का भी वर्णन आता है किन्तु उसे कोई आदर से याद नहीं करता और न ही लोगों के समक्ष वह आदर्श के रूप में उपस्थित किया जाता है, इसका कारण यही है कि वह करोड़पति होते हुए भी अत्यन्त कृपण था तथा एक कौड़ी भी किसी की सेवा या सहायता में खर्च नहीं करता था। किन्तु इसके विपरीत आनन्द श्रावक को आप भी लोग बड़े सम्मान, श्रद्धा एवं आदर्श पुरुष या श्रावक के रूप में स्मरण करते हैं। वह इसीलिये कि उसका जीवन औरों की सेवा तथा सहायता में ही व्यतीत हुआ था। एक भजन की लाइन मुझे याद आ रही है, जिसमें कहा गया है—

उसी का जीवन है धन्य जग में,
जो सेवा व्रत में लगा हुआ है।

वस्तुतः उसी व्यक्ति का जीवन इस जगत में धन्यवाद का पात्र हैं जो औरों की सेवा में व्यतीत होता है। सेवा-धर्म सबसे कठिन धर्म है जिसे प्रत्येक व्यक्ति कभी नहीं अपना पाता। यद्यपि सेवा के लिये धन अनिवार्य नहीं है, शरीर, मन और वाणी से भी व्यक्ति अनेक व्यक्तियों को दुख से उबार सकता है। सेवा हृदय और आत्मा को पवित्र बनाती है, मन की संकुचित एवं अनुदार भावों से रक्षा करती है तथा शत्रु को भी मित्र बनाकर छोड़ती है।

कहा जाता है कि एक बार किसी राजा का हाथी भड़क गया और वह शहर के मार्गों पर बिना महावत और अंकुश के घुमने लगा। कई व्यक्तियों को उसने चोट पहुंचाई और बाजार में दुकानों पर तोड-फोड़ करके काफी नुकसान किया। इसी प्रकार घूमते-घूमते उसके सामने एक छोटा सा बालक आ गया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बालक भाग नहीं सकता था और हाथी उसे सूंड़ में उठाने ही जा रहा था कि एक बहादुर व्यक्ति अपनी जान की परवाह न करते हुए हाथी के सामने आया और उस बच्चे को खींच कर ले गया।

बच्चे का बाप दूर खड़ा बचाओ, बचाओ, की चीख-पुकार मचा रहा था पर उसकी हिम्मत अपने बालक को भी हाथी के सामने से लाने की नहीं हुई। किन्तु सौभाग्यवश अपनी जान पर खेल जाने वाले उस व्यक्ति ने बालक को बचाया और उसके पिता के समीप लाकर छोड़ दिया।

बन्धुओ, बच्चे के बाप और उसके रक्षक में ऐसी दुश्मनी थी कि दोनों एक दूसरे के खून के प्यासे बने हुए फिरते थे। किन्तु जब उस छोटे शिशु पर प्राण-संकट आ पड़ा तो उसके पिता के दुश्मन ने अपनी दुश्मनी को भूलकर बालक को बचा लिया। और फिर आप ही सोचिये कि क्या उनकी दुश्मनी फिर भी बनी रह सकती थी ? नहीं, बच्चे का पिता अपने दुश्मन किन्तु बालक के रक्षक के पैरों पर गिर पड़ा और उसी क्षण उनकी दुश्मनी तो सदा के लिये समाप्त हो ही गई, वे भविष्य के लिये सच्चे मित्र और एक-दूसरे के हितचिन्तक बन गये।

तो यह सेवा या सहायता का ही फल था कि एक-दूसरे की जान के ग्राहक दो व्यक्तियों में वैर-भाव समाप्त हुआ और वे आपस में दोस्त बन गए।

सेवाव्रत का पालन करना बड़ा कठिन होता है। अनेक बार तो उसके लिये नाना प्रकार के अपमानजनक शब्द भी सुनने पड़ते हैं। मान लीजिये आप व्याख्यान सुनने के लिये घर से रवाना होते हैं और मार्ग में किसी परिचित के मिलने पर उससे भी अपने साथ चलने का आग्रह करते हैं तो कई ऐसा कहनेवाले भी मिल जाते हैं—"तुम अपने लिये स्वर्ग का दरवाजा खोल लो, हम तो जब तुम पालकी में बैठोगे तो उसका एक डंडा पकड़ लेंगे।" इतना ही नहीं, वे यह भी कहने से नहीं चूकते कि "सब साधु-महात्मा ढोंगी हैं।" अरे भाई ! हम ढोंगी ही सही पर उस बोलने वाले का तो हमने कोई नुकसान नहीं किया ? फिर वह क्यों अपनी जबान गन्दी करते हैं ?

एक बार जबकि मैं बारह वर्ष का ही था और अपने गुरु म० के पास से प्रतिक्रमण सीखकर आया ही था, एक दिन मैंने एक बुजुर्ग से कहा—"दादा ! आज अष्टमी है प्रतिक्रमण सुनने स्थानक में चलो।"

उत्तर में तुरन्त ही उन्होंने कहा—"बड़ो धर्म रो धचेड़ो आयो है।" लोग इस प्रकार व्यक्तियों को तिरस्कृत भी करते हैं। हमने तो उस दिन अपना प्रतिक्रमण किया ही पर उनकी बात उस दिन से लेकर अब तक भी कभी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कभी याद आ जाती है। और लगता है कि छोटी से छोटी सेवा में ही कितनी बाधाएँ मनुष्य के जीवन में आती हैं तो फिर बड़े-बड़े कार्यों में तो बाधाएँ आना और अप्रिय प्रसंगों का उपस्थित होना स्वाभाविक ही है।

किन्तु जो बहादुर व्यक्ति अपनी लगन के पक्के होते हैं वे किसी भी बाधा या संकट की परवाह न करके अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाते हैं। विघ्न और बाधाओं से जो घबरा जाता है वह कभी भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता और मार्ग में ही हिम्मत खो बैठता है।

भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक में लिखा है :—

प्रारभ्यते न खलुविघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

इस श्लोक में कवि ने मनुष्यों की तीन श्रेणियाँ बताई हैं—उत्तम, मध्यम एवं निकृष्ट। इन तीनों के विषय में क्रमशः कहा है—निकृष्ट व्यक्ति बाधाओं के डर से काम शुरु ही नहीं करते; मध्यम प्रकृति वाले कार्य का प्रारंभ तो कर देते हैं किन्तु ज्योंही कोई विघ्न उपस्थित हुआ, उसे छोड़ देते हैं। किन्तु इसके विपरीत जो उत्तम पुरुष होते हैं वे बार-बार विघ्नों के आने पर भी काम को जब एक बार आरंभ कर देते हैं तो कदापि उसे नहीं छोड़ते।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि हमें उत्तम पुरुष बनना है तथा धर्म को अपना कर उसे कभी भी छोड़ना नहीं है चाहे दुनिया हमारा उपहास करे, निंदा करे या हमारे मार्ग में अन्य कोई भी बाधा उपस्थित क्यों न करे।

आप जानते ही हैं कि जगत और भगत में कभी मेल नहीं रहा है। भक्त मीराबाई को उसकी भक्ति के कारण ही अनेक बार मार डालने की कोशिश की गई और ज़हर भी पिलाया गया। प्रह्लाद को भक्त होने के परिणाम स्वरूप ही स्वयं उसके पिता हिरणकश्यप ने कई बार उसे जान से मारने का प्रयत्न किया। इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण हमारे इतिहास में भरे पड़े हैं। अभी-अभी मैंने जिसके विषय में बताया है उन आनन्द श्रावक एवं कामदेव श्रावक को भी भगवान की भक्ति करने और धर्म में दृढ़ रहने के कारण देवताओं तक ने उन्हें सताया और कसौटी पर कसा। किन्तु इन सच्चे भक्त और सच्चे साधकों ने मर जाना कबूल किया पर अपने धर्म से डिगे नहीं और न मरणांतक कष्ट पहुंचाने वाले नाना कष्टों के डर से अपने मुक्ति-प्राप्ति के उद्देश्य का ही त्याग किया।

क्योंकि वे जानते थे—इस संसार में दुष्टों का अभाव तो कभी भी नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो सकता। स्वयं काल भी इस पृथ्वी को दुष्ट प्राणियों और दुखद वस्तुओं से रहित करने में समर्थ नहीं है। फिर साधारण प्राणी की तो बात ही क्या है? ऐसा विचार कर धर्म-परायण व्यक्ति स्वयं उनसे किनारा करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

जिस प्रकार भूमि पर के कांटों और कंकरों से पैरों की रक्षा करने के लिये समग्र पृथ्वी को तो चमड़े से मढ़ा नहीं जा सकता, किन्तु केवल अपने पैरों में जूतियां पहन लेने से पृथ्वी चमड़े से मढ़ी हुई सी लगने लग जाती है और पैरों का बचाव हो जाता है। इसी प्रकार संसार में अनेक दुष्ट, निंदक, ईर्ष्यालु और साधना का उपहास करने वाले निकृष्ट व्यक्ति होते हैं। उन सबसे लड़ा नहीं जा सकता और सभी को समझाया भी नहीं जा सकता। ऐसा विचार कर सच्चे साधक अपनी आत्मा को ही दृढ़ता के कवच से ढक लेते हैं। वे यही प्रयत्न करते हैं कि बाह्य संसार की अनिष्ट और आत्म-घातक विचार धाराएं उनकी आत्मा तक न पहुंचें तथा जगत की निंदा और उपहास इनके मन को प्रभावित न कर सके। धर्म के सहारे से ही यह संभव होता है और आनन्द तथा कामदेव श्रावक आदि ने इसे सिद्ध भी कर दिया है जैसा कि हम उनकी जीवनी को पढ़ने से जान सकते हैं।

हिन्दुस्तान के इतिहास में भी आपने पढ़ा होगा कि बादशाह औरंगजेब ने गुरु गोविंदसिंह के दो मासूम बालकों को जिंदा दीवाल में चुनवा दिया था। इसका कारण यह था कि वे बच्चे मुसलमान बनने के लिए तैयार नहीं हुए थे। उन्हें लाख लालच और नाना प्रकार के प्रलोभन दिये गए किन्तु अपने धर्म पर दृढ़ रहने वाले वे शेर बच्चे टस से मस नहीं हुए।

क्या आप हम लोगों में इतनी आत्म-दृढ़ता है? मैं तो समझता हूं कि अगर प्राण-नाश की नौबत आ जावे तो अधिकांश हिन्दू व्यक्ति चाहे जिस धर्म में दीक्षित हो जाने को तैयार हो जाएंगे। दुकानों पर बैठकर दो-दो, चार-चार पैसों के लिए भगवान की और धर्म की सौगंध खा जाने वाले व्यक्तियों को धर्म पर मर जाने की हिम्मत पड़ भी कैसे सकती है?

किन्तु मेरे भाइयो! ऐसा मुरादाबादी लोटा बने रहने से काम नहीं चल सकता और धर्म को इस प्रकार ग्रहण किये रहने से भव-सागर तैरा नहीं जाता। हमें दृढ़ता और आत्मा की सच्चाई से यह प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि—

गहिओ सुग्गइ मग्गो, नाहं मरणस्स बीहेमि।

अर्थात् मैंने सद्गति के मार्ग धर्म को अपना लिया है। अब मैं मृत्यु से नहीं डरता।

आत्मा से किया हुआ ऐसा निश्चय ही हमें साधनापथ में आने वाली समस्त विघ्न-बाधाओं से मुकाबला करने की शक्ति प्रदान करेगा तथा भव-सागर से पार उतारेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१९ विषम-मार्ग मत अपनाओ !

धर्मप्रेमी बन्धुओं, माताओ एवं बहनों !

इस पृथ्वी पर गलियों, सड़कों एवं महापथों का जाल सा बिछा हुआ है। प्रतिदिन सुबह से लेकर शाम तक और रात तक भी असंख्यों व्यक्ति अपने-अपने उद्देश्यों को लेकर किसी न किसी मार्ग पर चलते हैं। लेकिन वे अपनी मंजिल पर तभी पहुँच पाते हैं, जब कि मार्ग भ्रष्ट न हों तथा मार्ग में ही बैठ न जायँ। न तो मार्ग में रुकजाने वाला व्यक्ति अपनी मंजिल को पाता है और नहीं मार्ग भ्रष्ट होने वाला। अगर व्यक्ति को पूर्व की ओर जाना है पर वह चल पड़े पश्चिम की ओर तो कैसे अपने लक्ष्य को प्राप्त करेगा और इसी प्रकार सीधी सड़क छोड़कर ऊबड-खाबड़ रास्ते पर चल पड़ने वाला किस प्रकार अपने निर्दिष्ट स्थान को पहुँच सकेगा। उलटे वह काँटे, कंकर झाड़ी-झंकाड़ और पत्थर-पहाड़ों में भटककर अपने पैरों को क्षत-विक्षत कर लेगा और वस्त्रों को भी सुरक्षित नहीं रख पाएगा। परिणाम यह होगा कि मंजिल तो उसे मिलेगी नहीं और मार्ग में ही कष्ट और दुख से पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

हमारा धर्म भी मोक्ष तक पहुँचा देनेवाला एक राजमार्ग है। अनेक यात्री इस पर चल पड़ते हैं, किन्तु क्वचित ही कोई महा-मानव अपनी मंजिल तक पहुँच पाता है। इसका कारण यह है कि इस पथ पर चलने वाले व्यक्तियों में से अधिकांश तो मंजिल की प्राप्ति में अनिश्चित समय जानकर अधैर्यवश बीच में से ही लौट आते हैं, अधिकांश विघ्न-बाधाओं से घबराकर भाग खड़े होते हैं और अधिकांश तो दत्तचित्त होकर इस मार्ग पर चल ही नहीं पाते, क्योंकि इसके आस-पास फैले हुए सांसारिक प्रलोभन उन्हें आकर्षित कर लेते हैं और वे बीच मार्ग में ही रुक जाते हैं। फिर भी जो बच जाते हैं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उनकी चौथी गति यह होती है कि वे मार्ग की सही पहचान न होने के कारण अपने जैसे ही अन्य यात्रियों की बातों में आकर किसी गलत मार्ग पर चल देते हैं और जैसा कि स्वाभाविक ही है उन्हें मंजिल तो मिलती नहीं और थक जाने से जब शारीरिक शक्ति भी क्षीण हो जाती है तो घोर पश्चाताप के सागर में जा पड़ते हैं और शोक करते हैं।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के पांचवें अध्याय की चौदहवीं एवं पंद्रहवीं गाथा में भगवान महावीर ने फरमाया है—

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खेभग्गम्मि सोयइ॥
एवं कम्मं विउक्कम्मं अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहंपत्ते, अक्खे भग्गे व सोयइ॥

अर्थात्—जिस प्रकार जानबूझकर राज-मार्ग को छोड़कर विषम मार्ग पर जाने वाला गाड़ीवान धुरी के टूट जाने पर शोक करता है, उसी प्रकार धर्म छोड़कर अधर्म ग्रहण करने वाला अज्ञानी मृत्यु के मुँह में जाने पर शोक करता है।

बंधुओ, हम देखते हैं कि इस पृथ्वी पर के छोटे और आँखों से दिखाई देने वाले मार्ग पर भी अगर गाड़ीवान गाड़ी को सही तरीके से न चलाए तो जान जाने की नौबत आ जाती है। सीधे और सम रास्ते पर चलाने पर बैलों को तकलीफ नहीं होती, गाड़ी का कोई पुर्जा टूटने का डर नहीं रहता, अन्दर रखी हुई वस्तुओं को टूटने-फूटने का भय नहीं होता और उसमें बैठे हुए व्यक्तियों की जान भी सुरक्षित रहती है। किन्तु अगर गाड़ी को सममार्ग पर न चलाया जाय तो सबसे पहले तो बेजुबान बैलों को चलने में बड़ा कष्ट होता है क्योंकि उनके कंधों पर मनों बोझ रहता है, दूसरे उसमें बैठे हुए प्राणियों के प्राण संकट में रहते हैं और कहीं गाड़ी उलट गई तो गाड़ी तो टूट-फूट जाती ही है, उसमें रहा हुआ सामान भी यत्र-तत्र बिखर जाता है और इस प्रकार केवल सब तरह के नुकसान के अलावा और कुछ भी हाथ नहीं आता। मंजिल तो दूर छूट जाती है सो है।

हम आये दिन देखते हैं और सुनते भी हैं कि अमुक स्थान पर बस उलट गई या अमुक पहाड़ी पर से लुढ़ककर चूर-चूर हो गई। सारे यात्री भी कुछ क्षणों में ही जान से हाथ धो बैठे। यह क्यों होता है? केवल ड्राइवर की असावधानी के कारण। खतरे के स्थान पर अगर समय की परवाह न करके वह अपनी बस को धीमी गति से चलाए तो न उसके उलटने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का डर रहे और न इसीप्रकार सामने से आनेवाली किसी बस या ट्रक से टकरा जाने का ही डर रहे।

इसके अलावा आज व्यक्ति इतना अधीर हो गया है कि वह प्रत्येक मार्ग के लिये 'शार्ट-कट' ढूँढ़ता है। वह सोचता है कि इस छोटे रास्ते से चलने पर शीघ्र अपने गन्तव्य पर पहुंच जाएँगे। किन्तु वह भूल जाता है कि ऐसे छोटे मार्ग ऊबड़-खाबड़, आड़े-टेढ़े और कंटकाकीर्ण होते हैं। उन विषम मार्गों पर बैल गाड़ी चलाने पर कभी उसकी धुरी टूट जाती है, या कभी बैलों की गर्दनें टूट जाती हैं और अगर वे वाहन कार या बस के रूप में हुए तो पहियों में पंचर हो जाते हैं और सारे यात्री घंटों के लिये वहीं भूखे-प्यासे पड़े रहने के लिये बाध्य हो जाते हैं। यह सब विषम मार्ग पर चलने के कारण होता है। सम मार्ग पर यह परिस्थिति यकायक नहीं आती। यकायक शब्द मैंने इसलिये कहा है कि अगर होनहार ही अशुभ हो तो उसे विषम या सम किसी मार्ग पर नहीं रोका जा सकता।

महाकवि कालिदास ने एक स्थान पर लिखा है—

भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।

भावी के लिये सर्वत्र द्वार खुले रहते हैं।

तात्पर्य यही है कि होनी को कोई रोक नहीं सकता और उसके अनुसार ही सारे संयोग इकट्ठे हो जाते हैं।

आचार्य चाणक्य ने भी कहा है—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता॥

अर्थात्—वैसी ही बुद्धि हो जाती है, वैसा ही उपाय होता है और वैसे ही सहायक मिल जाते हैं जैसा कि होनहार होता है।

तात्पर्य यही है कि होनी पर तो किसी का वश नहीं है और लाख प्रयत्न करने पर भी वह घट ही जाता है। आप व्यापारी हैं और लाखों का व्यापार करते हैं। वस्तुओं की तेजी-मंदी देखकर ही आप अपनी पूँजी उसमें लगाते हैं। फिर भी अगर घाटा आ जाय तो उसे होनहार और कर्मफल माना जाता है। आपका इसमें दोष नहीं। दोष वहीं माना जाता है जहाँ व्यक्ति जानबूझकर भूल करे। अर्थात् गाड़ीवान्, मोटर ड्राइवर या राहगीर सम और सीधे मार्ग को छोड़कर विषम मार्ग पर चलने लगे तो यह उसकी भूल और अज्ञान का परिचायक है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सारांश यही है कि एक मार्ग सम होता है और दूसरा विषम। अतः प्रत्येक मंजिल की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को सममार्ग पर ही चलना चाहिए विषम मार्ग पर नहीं। अन्यथा उसे विषम मार्ग पर चलने वाले गाड़ीवान के समान पश्चात्ताप करने की नौबत आ सकती है।

यह एक व्यावहारिक दृष्टान्त है जो गाथा में दिया गया है और आगे कहा गया है कि विषम मार्ग पर चलने वाले गाड़ीवान के समान ही जो व्यक्ति धर्म के सम मार्ग को छोड़कर अधर्म के विषम मार्ग पर चलता उसे अंत समय में शोक करना पड़ता है।

'स्थानांग सूत्र' में कहा गया है—

एगा अहम्मपडिमा, जं से आया परिकिलेसति।

एक अधर्म ही ऐसी विकृति है, जिससे आत्मा क्लेश पाती है।

'आदिपुराण' भी इसी बात की पुष्टि करता है कि—

नीचैर्वृत्तिरधर्मेण धर्मेणोच्चैः स्थितिं भजेत्।
तस्मादुच्चैः पदंवाञ्छन् नरो धर्मपरो भवेत्॥

अर्थात्—अधर्म से मनुष्य की अधोगति होती है और धर्म से ऊर्ध्वगति। अतः ऊर्ध्वगति चाहने वाले को धर्म का आचरण करना चाहिए।

सच्चा धर्म केवल परलोक में ही जीव के लिए सुखकर होता है और मरने के पश्चात् ही उच्चगति प्रदान करता है, इतनी ही उसकी मर्यादा नहीं है। अपितु इस लोक में भी वह प्रत्यक्ष रूप से फल प्रदान करने वाला साबित होता है।

आप सोचेंगे यह किस प्रकार होगा ? उत्तर में ध्यानपूर्वक समझना चाहिए कि मनुष्य को इस जन्म में ही दो प्रकार से लाभ हासिल होता है। एक प्रकार का लाभ आंतरिक होता है और दूसरा बाह्य।

आंतरिक लाभ—

धर्म से आंतरिक लाभ यह होता है कि जब व्यक्ति अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, दया, क्षमा, दान, शील, तप तथा भावरूप धर्म को अपना लेता है तो उसके हृदय में शांति स्नेह, समता एवं संतोष के निर्झर प्रवाहित होने लगते हैं जो उसकी आत्मा को प्रतिपल एक अवर्णनीय सुख में डुबोये रहते हैं। साथ ही उसमें आत्म-विश्वास जाग जाता है और उस दृढ़ विश्वास के कारण न तो वह इहलोक में आधि, व्याधि और उपाधिजनित चिन्ताओं से भयभीत होता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है और न ही परलोक के भय से त्रस्त होता है। उसका मन सदैव हलका और उत्साह से परिपूर्ण रहता है।

अन्तःकरण का विश्वास और सुख कपोल-कल्पित नहीं है वरन् प्रत्यक्ष में ही अनुभवगम्य है। उदाहरण स्वरूप कामदेव श्रावक के अन्तःकरण ने सुख-रूप धर्म को भली भाँति अनुभव कर लिया था और उसमें वे इतने तल्लीन रहते थे कि जिस देवता ने उनकी परीक्षा लेने के लिए पिशाच, हाथी और सर्प का रूप बनाकर उन्हें घोर कष्ट देना चाहा, उस समय भी वे अपनी आत्म-शक्ति और आंतरिक सुख के कारण रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। उलटे देवता को ही पराजित होकर उनके चरणों में झुकना पड़ा। ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म का विश्वास और धर्म-जनित सुख कोई साधारण चीज नहीं है। वह आत्मा की बड़ी भारी शक्ति है जो उसके आंतरिक फल के रूप में प्राप्त होती है इसे ही धर्म का आंतरिक लाभ कहा जा सकता है।

बाह्यलाभ—

धर्म से बाह्य और प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला लाभ भी कम नहीं है। हम सहज ही देख सकते हैं कि जिस व्यक्ति के अन्तःकरण में धर्म का निवास होता है वह पापों से विषधर नाग के समान बचता है। धर्म-परायण व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, असत्य अन्याय, क्रूरता एवं अनैतिकता आदि से सदा दूर रहता है।

अगर वह व्यापारी है तो उतना ही मुनाफा अपनी वस्तुओं का लेगा जितना उसे लेना चाहिए। झूठ बोलते हुए वह ग्राहकों से दुगुनी और चौगुनी कीमत वसूल नहीं करता। परिणामस्वरूप उसे अपने सत्य-धर्म और ईमानदारी का तुरन्त ही लाभ यह मिलता है कि उसकी साख जम जाती है और लोग उसे सच्चा मानकर सदा उसकी दुकान से ही वस्तु निश्चित होकर ले जाते हैं।

इसीप्रकार कोई व्यक्ति अगर नौकरी करता है, किन्तु कभी किसी प्रकार की चोरी नहीं करता, कभी रिश्वत नहीं लेता और अपने कार्य में सावधान रहता है, तो स्वयं उसका मालिक उसके प्रति सदय रहता है, उससे ममत्व रखता है और उसका सम्मान करता है तथा अन्य लोग भी उसकी प्रशंसा करते हैं।

सारांश यह है कि धर्म मनुष्य के अंदर रहे हुए सद्गुणों को प्रकाशित करता है और सद्गुणी पुरुष की ख्याति एवं प्रसंशा की सुगन्ध बिना फैलाए हुए भी पृथ्वी के इस छोर से उस छोर तक पहुंच जाती है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र, शीलवान सुदर्शन, महादानी कर्ण, सती सुभद्रा तथा चन्दनबाला

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि को धर्म का फल उनके अगले लोक में तो मिला होगा जो मिला ही होगा पर इस लोक में ही मिल गया था और वे असंख्य व्यक्तियों के आदर पात्र एवं पूज्य बनकर अपने आपको आदर्श बना गये थे।

महात्मा गाँधी का भी परलोक हम नहीं मानते किन्तु उनके अहिंसा एवं सत्य-कर्म को ग्रहण कर लेने के कारण केवल भारत ही नहीं, वरन् अन्य समस्त देश भी आज उनके पदचिन्हों पर चलने का प्रयत्न करते हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन भी एक ऐसे ही महा-मानव थे जिन्होंने धर्म का प्रत्यक्ष और बाह्य लाभ अपने जीवन में ही हासिल कर लिया था।

एक बार वे अपने घोड़े पर सवार होकर घूमने के उद्देश्य से सड़क पर चल पड़े।

रास्ते में उन्होंने देखा कि कुछ मजदूर एक बड़े भारी लक्कड़ को उठाने का प्रयास कर रहे थे। उन मजदूरों में एक वृद्ध व्यक्ति था और वह निर्बलता के कारण अपने साथियों के समान उस लट्ठे को उठाने में जोर नहीं लगा पा रहा था। परिणामस्वरूप उसकी ओर का लट्ठा बार-बार झुक जाता था।

यह देखकर समीप ही खड़ा मजदूरों का जमादार उसे बार-बार फटकार कर ठीक तरह से लक्कड़ उठाने का आदेश दे रहा था। पर उसके आदेश से तो वृद्ध में शक्ति का आविर्भाव हो नहीं सकता था, अतः वह बार-बार पूरा प्रयत्न करके भी बेहाल हुआ जा रहा था।

यह देखकर वाशिंगटन ने जमादार से कहा—"भाई ! उस वृद्ध की ओर से तुम्हीं थोड़ी मदद कर दो।"

पर जमादार ने रौब से उत्तर दिया—"मैं जमादार हूं। मेरा काम मजदूरों से कार्य करवाना है उनकी सहायता करना नहीं।"

यह सुनकर जार्ज वाशिंगटन चुपचाप घोड़े से उतरे और उन्होंने उस निर्बल वृद्ध से कहा—

'बाबा, तुम हट जाओ, मैं लट्ठा उठवा देता हूं।"

वृद्ध ने इन्कार किया पर वे माने नहीं और तुरन्त मजदूरों के साथ लगकर उन्होंने लट्ठा उठवा दिया। तत्पश्चात् जमादार को नमस्कार करके बोले—"जमादार जी ! अगर फिर कभी आवश्यकता हो तो मुझे बुलवा लीजियेगा मेरा नाम जार्ज वाशिंगटन हैं।"

जमादार अपने देश के राष्ट्रपति को नाम से जानता था, शक्ल से नहीं। अतः ज्योंहीं उन्होंने अपना नाम बताया उसके पैरों तले से जमीन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

खिसक गई और गर्व चूर-चूर हो गया। तुरन्त ही वह राष्ट्रपति के पैरों पर गिर पड़ा और अपने अमानवीय व्यवहार के लिये बार-बार क्षमा माँगने लगा।

जार्ज वाशिंगटन ने उसे क्षमा करते हुए कहा—"भविष्य में कभी तुम इस प्रकार निर्दयतापूर्वक किसी मजदूर से पेश मत आना।"

बंधुओ, यह उदाहरण देने में मेरा अभिप्राय यही है कि सेवा, सहायता अथवा सहानुभूति के ये मानवोचित गुण हृदय में तभी जागृत होते हैं, जबकि वहाँ धर्म का आवास होता है और इन गुणों के कारण संसार के अनेक व्यक्तियों को जब लाभ पहुंचता है तो वे अपने उपकारी को हृदय से दुआयें देते हैं तथा उसकी ख्याति को प्रसारित करते हैं। इस प्रकार धर्म का बाह्य-फल भी प्रत्यक्ष में हासिल होता देखा जाता है।

पर जो व्यक्ति धर्म को छोड़कर अधर्म का सेवन करते हैं उन्हें न इस लोक में कुछ हासिल होता है और न परलोक में ही कोई शुभ फल प्राप्त होने की संभावना रहती है। होता यह है कि वह अपने जीवन काल में भी संसार के व्यक्तियों के द्वारा अपमानित, तिरस्कृत और अपयश का भागी बनता है और अंत समय में हाय-हाय करता हुआ बाल-मरण को प्राप्त होकर कुगतियों में परिभ्रमण करता रहता है।

बालमरण—

बालमरण और दूसरे शब्दों में अकाममरण अज्ञानी पुरुष का होता है। ऐसा व्यक्ति जीवन भर धन-सम्पत्ति में गृद्ध रहता है तथा पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि की ममता में अपनी आत्मा का भान सर्वथा भूला रहता है। परिणाम यह होता है कि जब उसका अंत समय आता है तो वह अत्यन्त विकलतापूर्वक कहता है—"क्या कोई भी डाक्टर, वैद्य या औषधि मुझे मौत के मुँह में जाने से बचा नहीं सकती ? हाय ! मैंने इतनी कठिनाई से यह धन इकट्ठा किया है यह अब मुझ से छूट जायगा ; मेरे प्राणों से भी प्रिय परिवार के व्यक्ति अब मुझसे छूट रहे हैं ; न जाने अब आगे क्या होगा ? मेरी अनेक अभिलाषाएं अधूरी रह गईं, सारे मंसूबे मिट्टी में मिल गये। मेरी महान् कष्ट से उपार्जित की हुई सम्पत्ति को अब न जाने कौन भोगेगा और कौन मेरे परिवार का पालन-पोषण करेगा ? अब मैं क्या करूँ ? कैसे मृत्यु से बचूँ ? कौन सा उपाय करूँ जो मरने से बच सकूँ।"

इस प्रकार हाय-हाय और त्राहि-त्राहि करते हुए अज्ञानी और अधर्मी व्यक्ति अपने जीवन को समाप्त करते हैं। उन्हें इस बात का दुख नहीं होता कि मैंने जीवन में धर्माचरण नहीं किया, जप, तप, व्रत, स्वाध्याय या शास्त्र-श्रवण नहीं किया। वरन् दुख इस बात का होता है कि मेरा धन परिवार और संसार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

छूटा जा रहा है। ऐसे मरण के कारण उसे कभी सुगति प्राप्त नहीं होती और पुनः पुनः इसी संसार में जन्म-मरण करना पड़ता है।

पंडितमरण

पंडितमरण अथवा सकाममरण यह मरण बाल-मरण से बिलकुल विपरीत होता है। जो व्यक्ति ज्ञानी होता है तथा आत्मा के स्वरूप को समझ लेता है वह मृत्यु के समय तनिक भी भयभीत नहीं होता। वह मृत्यु को कोई अद्भुत वस्तु नहीं मानता वरन् स्वाभाविक क्रिया समझता है। चूँकि वह अपना जीवन धर्मपूर्ण बिताता है तथा शक्ति के अनुसार त्याग, तपस्या, व्रत, पचक्खान करता है अतः उसे अपने कर्मों का अशुभ फल प्राप्त होने का भय नहीं होता। और इसीलिये वह मृत्यु की भयंकरता को जीत लेता है।

अपने अन्त समय में वह समस्त सांसारिक विषयों से उदासीन होकर अपने मन को संबोधित करता हुआ यही कहता है :—

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थगहना दायासकदाश्रय,
श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापार दक्षं क्षणम्।
शांतं भावमुपैहि सत्यज निजां कल्लोललोलां गति,
भूयो मा भज भंगुरं भवरतिं चेत. प्रसीदाधुना॥

अर्थात्—हे चित्त ! अब तू विश्राम ले। इन्द्रियों के सुख-सम्पदा के लिये विषयों की खोज में अब मत लग। आंतरिक शान्ति की चेष्टा कर, जिससे आत्मा का कल्याण हो और सम्पूर्ण दुखों का नाश हो। अब तो तू तरंग के समान अपनी चंचल चाल का त्याग कर दे तथा सांसारिक सुखों में सुख मत मान; क्योंकि ये असार और नाशवान हैं। अधिक क्या कहूँ, अब तू अपनी आत्मा में रमण कर और उसी में सुख का अनुभव कर।"

ज्ञानी पुरुष इसीप्रकार नाना प्रकार से अपने मन को सांसारिक प्रलोभनों से उदासीन बना लेता है और संसार की अनित्यता को स्मरण करता हुआ उसे समझाता है कि वह इस जंजाल से छूट जाय। वह विचार करता है—'इस संसार में बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट, कुबेर के समान ऐश्वर्यशाली पुरुष और बड़े-बड़े भू-स्वामी हो गये हैं, किन्तु जाते समय उन्हें भी अपना सब कुछ यहीं छोड़कर खाली हाथ जाना पड़ा है। हिन्दुस्तान को जीतने वाले सिकन्दर ने भी मरते वक्त लोगों से यही कहा था—' मेरे दोनों हाथ कफन से बाहर रखना ताकि लोग शिक्षा लें कि मनुष्य खाली हाथ आता है और खाली हाथ ही यहाँ से जाता है। कहा भी है :—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लाया था क्या सिकन्दर, दुनिया से ले चला क्या ?
थे दोनों हाथ खाली, बाहर कफन से निकले ।

तो बन्धुओं, यह पंडित-मरण मरने वाले की विशेषताएँ होती हैं कि वह मृत्यु के समय समस्त सांसारिक बन्धनों से अपनी आत्मा को सर्वथा मुक्त कर लेता है और यहाँ तक विचार करता है कि – 'मुझे कब वह उत्तम क्षण प्राप्त होगा, जबकि मेरी आत्मा इस संसार से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वाभाविक, एवं पूर्ण निराकुल अवस्था को प्राप्त होगी तथा मैं सदा के लिये अक्षयसुख की प्राप्ति करूँगा ।'

इस प्रकार जो ज्ञानी मृत्यु का आलिंगन करते हैं वे अपने समाधि-भाव के कारण सुगति प्राप्त करते हैं । इतना ही नहीं, इतिहास तो यह बताता है कि जीवन भर पाप एवं अधर्म में रत रहने वाले महापापी भी अगर अन्त समय में अपनी भावनाओं में उत्कृष्टता ले आते हैं अर्थात् अपने पापों पर घोर पश्चात्ताप करते हैं तो वे अपने जीवन को सफल बना लेते हैं । गोशालक ने जीवन में भगवान् महावीर की घोर निन्दा की और सदा उनका अनिष्ट करने के प्रयत्न में लगा रहा ; किन्तु अन्त समय में उसने अपने कुकृत्यों के लिए हार्दिक पश्चाताप किया और समाधि भाव से मृत्यु को प्राप्त होकर आठवें देवलोक में गया ।

भाईयो ! प्रसंगवश मैंने आपको बालमरण और पंडितमरण के विषय में भी बता दिया है । क्योंकि हमारा मुख्य विषय यही चल रहा है कि जो भाग्यहीन व्यक्ति धर्म के मार्ग को छोड़कर अधर्म के विषम मार्ग पर चलते हैं वे जीवन की समाप्ति के समय गलत मार्ग पर चलते हुए गाड़ी की धुरी टूट जाने पर उस गाड़ीवान के समान घोर पश्चाताप करते हुए कहते हैं —

"हाय ! मैं कैसा मूर्ख साबित हुआ कि जीवन भर धर्म रूपी अमृत का त्याग करके विषम-विष का पान करता रहा । अनन्त काल तक चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद न जाने कौन से पुण्य-कर्मों के उदय से मुझे यह दुर्लभ मानव-जीवन मिला था और उच्च जाति, कुल, क्षेत्र तथा संतों के समागम का अवसर भी । किन्तु मैंने उनका लाभ उठाकर अपना जीवन धर्माराधन और सत्कार्यों में नहीं लगाया; उलटे विषय-भोगों की तृप्ति के साधन जुटाने में और उनके लिए नाना कुकृत्यों को करने में लगा रहा । सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता हुआ कुमार्ग पर चलता रहा । आज तक मैंने अपनी आत्मा के विशुद्ध रूप के विषय में नहीं सोचा, केवल पर-पदार्थों में मगन रहा । आत्मा के शुद्ध, बुद्ध, आनन्दमय चैतन्य स्वभाव की ओर मेरा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान कभी नहीं गया और सांसारिक संबंधों में उलझा रहा तथा पर-वस्तुओं को अपने सुख का साधन मानता रहा। परिणाम यह हुआ कि मेरी कर्म-बंध की परंपरा बढ़ती रही और मैं संसार-बंधन की शृङ्खला में अधिकाधिक जकड़ता चला गया। संत-महापुरुषों ने मुझे अनेक बार चेतावनी दी—

तू अति गाफिल होइ रह्यो शठ,
कुञ्जर ज्यों कछु शंक न आनै।
माय नहीं तन में अपनो बल,
मत्त भयो विषयासुख ठानै।
खोंसत-खात सबै दिन बीतत,
नीत - अनीत कछू नहिं जानै।
सुन्दर केहरि - काल महारिपु,
दन्त उखारि कुम्भस्थल मानै॥

अरे शठ! तू अत्यन्त गाफिल और असावधान हो रहा है। जिस प्रकार हाथी किसी से भयभीत नहीं होता, उसी प्रकार अपने शारीरिक बल के घमण्ड में चूर होकर तू भी किसी से नहीं डरता। तेरा जीवन विषय भोगों के आनन्द को लूटने में ही व्यतीत हो रहा है और असहाय व्यक्तियों के धन को छीनकर खाने और अन्याय-अत्याचार करने में समय जा रहा है।

कवि सुन्दरदास जी कहते हैं—याद रख! एक दिन काल रूपी भयंकर सिंह तुझे उसी प्रकार मार डालेगा, जिस प्रकार केशरीसिंह हाथी के दांत उखाड़ कर उसका कुम्भस्थल फाड़ डालता है।

तो अन्त समय पश्चाताप करनेवाला व्यक्ति विचार करता है कि मैंने महापुरुषों के सत्य परामर्श को भी नहीं माना और अपना जीवन व्यर्थ गँवा दिया। अब तो शरीर में शक्ति नहीं रही, और समय भी नहीं रहा कि अपनी भूल को सुधार सकूँ।

बंधुओ, ऐसी बातें सुनकर और पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा लेनी चाहिए तथा इसी समय चेतते हुए अपने बचे हुए जीवन का सदुपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए। व्यक्ति को यह विचार नहीं करना चाहिए कि उसके जीवन का कितना समय बीत चुका है और कितना बाकी है। उसे—जब जागे तभी सबेरा' वाली कहावत को चरितार्थ करना चाहिए। क्योंकि मन में उत्साह और लगन हो तो व्यक्ति किसी भी उम्र से अपने जीवन को सुधारने में लग सकता है, और सफलता भी हासिल कर सकता है।

'शेख सादी' जो कि फारसी के बड़े भारी विद्वान् थे उन्होंने चालीस वर्ष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की अवस्था के बाद पढ़ना प्रारम्भ किया था। पर उसके पश्चात् भी वे इतने बड़े विद्वान् एवं विचारक बन गए कि उनके लिखे हुए ग्रन्थों को अच्छे-अच्छे विद्वान् आज तक भी पूर्णतया समझने में समर्थ नहीं हो सके। पर यह हुआ कब? जबकि उन्हें अपने अज्ञान पर खीझ पैदा हुई और स्वयं को तिरस्कृत करते हुए उन्होंने कहा—

चहल साल उम्रे अजीदद गुजर,
मिजाजे तु अजहार तुफ्ली नगस्ता।

अर्थात्—चालीस साल की उम्र हो गई; इतनी प्यारी जिन्दगी बीत गई किन्तु मिजाज से अभी बचपन नहीं गया यानी अज्ञान दूर नहीं हुआ। इतनी आयु व्यतीत हो जाने पर भी अभी यह समझ में नहीं आ सका कि धर्म क्या है? यह जीवन कितनी कठिनाई से मिला है और किस प्रकार इसको सफल बनाया जा सकता है?

इन सब प्रश्नों के उत्तर गंभीरता से तब तक नहीं समझे जा सकते, जब तक कि ज्ञान प्राप्त न किया जाय। और इसीलिए 'शेखसादी' ने चालीस वर्ष की आयु हो जाने पर भी तीव्र लगन के साथ ज्ञान प्राप्त करना प्रारम्भ किया और उसे पाकर ही छोड़ा। सच्चा प्रयत्न या पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं जाता। भाग्य भी पुरुषार्थी के अनुकूल हो जाता है। एक श्लोक में कहा भी है—

यथाग्निः पवनोद्धूतः सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत्।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते॥

जिस प्रकार थोड़ी सी आग वायु का सहारा पाकर बहुत बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ का सहारा पाकर दैव का बल विशेष बढ़ जाता है।

इसीलिए किसी भी व्यक्ति को अपनी आयु के अधिक हो जाने पर भी निराश नहीं होना चाहिए और जिस क्षण में भी हृदय में शुद्ध विचार जागृत हों, उसी क्षण से उन्हें जीवन में उतारने का प्रयत्न प्रारम्भ करना चाहिए। अभी-अभी मैंने आपको बताया था कि जीवन भर अधर्माचरण और पाप करने वाला व्यक्ति भी अगर अंत समय में घोर पश्चात्ताप करता है और उसके भाव पूर्णतया विशुद्ध एवं उत्कृष्ट हो जाते हैं तो वह समाधिभाव से मरकर शुभ-गति प्राप्त कर लेता है, अर्थात् अपने सम्पूर्ण जीवन का लाभ भी आयु के उस अंतिम काल में उठा लेता है। फिर हमारे पास तो अभी भी समय है। और इस थोड़े समय में भी हम क्यों नहीं इसका लाभ उठा सकते हैं। यानी अवश्य उठा सकते हैं। क्योंकि जीवन की सार्थकता आयु के लम्बे होने से नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वरन् भावनाओं के उत्कर्ष से होती है : यही बात आपको संत-मुनिराज एवं महापुरुष बार-बार समझाते हैं । एक मराठी कवि भी कहते हैं—

"ध्यानात दंग असशी, बदली नजीक आली ।
पुढ़ची तमारी जिवबा, वद काय काय केली ?

क्या कहा है कवि ने ? यही कि—'तुम दुनियादारी के कारोबार में और सांसारिक झमेलों में पूरी तरह निमग्न हो गये हो और जितनी उम्र लेकर आए थे, उसका काफी बड़ा भाग भी व्यतीत कर चुके हो । अब तो जीवन की बदली का समय नजदीक आ गया है, पर जरा बताओ कि आगे के लिए तुमने क्या-क्या तैयारी की है ?"

कवि का कथन अत्यन्त मर्मस्पर्शी है । उन्होंने व्यतीत होती हुई जिन्दगी को आगे की जिन्दगी से बदली होने का उल्लेख करके भाषा में सुन्दरता लाने के साथ-साथ भाव में भी बड़ी गंभीरता भर दी है । साथ ही बता दिया है कि बदली होने पर मिलनेवाले आगामी जीवन के लिये मनुष्यों को अनिवार्य रूप से तैयारी कर लेनी चाहिए । यात्रा में की जानेवाली तैयारी से तो आप अपरिचित नहीं हैं । जब भी आप एक शहर से दूसरे शहर को अथवा अपने देश से दूसरे देश को जाते हैं तो पहनने के वस्त्र, ओढ़ने-बिछाने के लिए रजाई-गद्दे, खाने के लिए नाना भांति के पदार्थ और किराया तथा सैर-सपाटे में व्यय करने के लिये लम्बी रकम लिए बिना नहीं चलते ।

किन्तु एक जीवन को छोड़कर दूसरे जीवन की महायात्रा के लिए आप क्या करते हैं ? इस पृथ्वी पर की छोटी-छोटी यात्राओं के लिए तो जमाने भर की तैयारी, और उस महायात्रा के लिए कुछ भी नहीं ? पर इससे कैसे काम चलेगा ? यहाँ की छोटी यात्राओं में भी अगर किसी चीज का अभाव होता है तो आप कष्ट का अनुभव करते हैं । पर उस महत्वपूर्ण और लम्बी यात्रा में जब आपके पास कुछ भी पाथेय नहीं होगा तो क्या आप घोर कष्ट का अनुभव नहीं करेंगे ? अवश्य ही करना पड़ेगा ।

तो बंधुओ ! जब कि हमें वह महान् यात्रा करनी ही है तो निश्चय ही उसके लिए पाथेय जुटाना चाहिए । वह पाथेय या तैयारी क्या होती है उसके विषय में आप अनभिज्ञ नहीं हैं, क्योंकि प्रतिदिन हम यही बात आपसे कहते हैं । पर फिर भी चंद शब्दों में कहता हूँ कि—सत्य, अहिंसा, तप, त्याग, दान, दया, सहानुभूति, सेवा, क्षमा आदि सद्गुणों को जीवन में उतारना और दूसरे शब्दों में सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आराधना करने से उस अज्ञात यात्रा का पाथेय जुटता है। और यह तभी हो सकता है कि जबकि हम धर्म के मंगलमय और सम मार्ग का त्याग करके कभी भी अधर्म के विषम-मार्ग पर कदम न रखें। अगर ऐसा न हुआ, अर्थात् हमने अधर्म-रूपी विषम मार्ग को अपना लिया तो अंत में पश्चात्ताप करने के अलावा कुछ भी हाथ नहीं आयेगा।

अतः हमें चेत जाना है और पाप-मार्ग की स्वप्न में भी वांच्छा न करके धर्म -पथ पर अडिग कदमों से चलना है। तभी हमारा भविष्य मंगलमय बनेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२० आचारः परमोधर्मः

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आपने प्रायः पढ़ा होगा और सुना भी होगा—'**आचारः परमोधर्मः**।' अर्थात् आचरण को पूर्ण विशुद्ध रखना सबसे बड़ा धर्म है।

मानव के जीवन में आचार को प्रधानता दी गई है। जिसका आचरण पवित्र होता है उस व्यक्ति का संसार में सम्मान होता है और वह अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। यद्यपि इस जगत् में अनेक व्यक्ति रूप-सम्पन्न होते हैं, अनेक धन-सम्पन्न और अनेक सत्ता-सम्पन्न पाये जाते हैं। किन्तु अगर वे आचार सम्पन्न नहीं होते तो उनकी अन्य सम्पन्नताएँ व्यर्थ मानी जाती हैं। उस तिजोरी के समान जो कि आकार में बड़ी है, सुन्दर है और फौलाद के समान मजबूत है, किन्तु अन्दर से खाली है, एक पाई भी उसमें नहीं है। जिस प्रकार ऐसी तिजोरी का होना या न होना बराबर है, ठीक इसीप्रकार अन्य अनेक विशेषताएँ होते भी आचरण हीन व्यक्ति का होना न होना समान है। रीती तिजोरी के समान ही उस मनुष्य का भी कोई महत्व नहीं है।

आचार का अर्थ---

आचार का अर्थ है—मर्यादित जीवन बिताना। अगर व्यक्ति अपने जीवन को मर्यादा में नहीं रखता, अर्थात् अपनी इन्द्रियों पर एवं मन पर संयम नहीं रखता तो उसका आचरण भी कदापि शुद्ध नहीं रह पाता।

हमारे यहाँ तीन प्रकार के योग माने गये हैं। वे हैं- मनोयोग, वचन-योग, एवं कायायोग।

मनोयोग का काम है—चिंतन करना या विचार करना। आप चाहे उत्तम कार्य करें या अधम, दोनों के लिए ही पहले मनोयोग द्वारा विचार किया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाएगा कि कार्य किस प्रकार और किस विधि से करना है। इन सब बातों का निश्चय करना ही मनोयोग का काम है।

मनोयोग के पश्चात् वचनयोग का कार्य प्रारम्भ होता है। मन के द्वारा किसी भी कार्य के करने का निश्चय हो जाने पर वे विचार जबान पर आते हैं। वाणी, मन में उमड़ने वाले विचारों की ही प्रतिध्वनि होती है। अगर मन में विचार न आएँ तो वे वाणी में भी नहीं उतर सकते। क्योंकि वाणी में विचार करने की शक्ति नहीं है, केवल उच्चारण करने की सामर्थ्य होती है। इसलिये विचार न होने पर उच्चार भी नहीं हो सकता।

विचार, उच्चार और आचार, इन तीनों में 'चर' धातु का प्रयोग होता है जिसका अर्थ है 'चलना'। मन में विचार आया कि ऐसा करना है, तो वचन के द्वारा शब्द उठते हैं कि 'हमको यह करना है।' विचार चाहे सामाजिक विषय से सम्बन्ध रखता हो या कर्म अथवा राजनीति से। वे उठते मन में हैं और तब वचनों से जाहिर होते हैं। कहने का अर्थ यह है कि किसी भी कार्य की नींव मन के विचारों से रखी जाती है अतः मन में शुद्ध विचार आने चाहिये। जिन व्यक्तियों के पल्ले में पुण्य होता है, उनके मन में शुभ विचार आते हैं और इसके विपरीत जो पुण्यहीन होते हैं, उनके मन में अशुभ विचारों का उदय होता है।

तो मैं बता यह रहा था कि पहले मन में विचार आते हैं उसके पश्चात् वे वाणी से उच्चरित होते हैं और उसके बाद आचरण में व्यवहृत होते हैं। जब तक विचार कार्य रूप में नहीं आते अर्थात् आचरण में नहीं लाये जाते तब तक उनका कोई महत्व नहीं माना जाता।

इसीलिये शास्त्रकारों ने आचार को महत्व दिया है। यद्यपि रत्नत्रय में पहले सम्यक्दर्शन, फिर सम्यक्ज्ञान और उसके बाद सम्यक्चारित्र का नम्बर है। सम्यक्दर्शन से ज्ञान पक्का होता है और ज्ञान के साथ विवेक मिलकर आचरण को शुद्ध और सम्यक् बनाते हैं।

तो पहले सम्यक्दर्शन यानी श्रद्धा होती है और उसके बाद सम्यक् ज्ञान। किन्तु इन दोनों के होने पर भी अगर चारित्र नहीं रहा तो दोनों की कोई कीमत नहीं है। आप कहेंगे ऐसा क्यों ?

वह इसलिये कि जिस तरह आप मकान बनवाते समय कम्पाउंड, दरवाजा, खंभे और दीवालें सभी कुछ बनवा लेते हैं। किन्तु उनकी दीवालों पर छत नहीं बनवाई तो वह मकान क्या आपको सर्दी, गर्मी और बरसात से बचा सकेगा ? नहीं, छत के अभाव में आपके मकान की दीवारें, खिड़कियें और रास्ते किसी काम नहीं आएँगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार मन से विचार कर लिया, वाणी से उसको प्रकट भी किया किन्तु जब तक उसे आचरण के द्वारा जीवन में नहीं उतारा तो विचार और उच्चार से क्या लाभ हुआ ? कुछ भी नहीं। आत्म-कल्याण के लिये आचरण आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

एक गाथा आपके सामने रखता हूँ, जिसे बड़ी गंभीरता से समझने की आवश्यकता है। गाथा इस प्रकार है—

"अंगाणं किं सारो, आयारो तस्स किं सारो।
अंगुहो गत्थो सारो, तत्सुहो परूपणा शुद्धी॥

व्यावहारिक भाषा में हम अंग शरीर को कहते हैं। परमार्थिक दृष्टि से यहाँ इसका अर्थ द्वादशांग वाणी से है। वैसे द्वादशांग का एक अंग लुप्त हो चुका है अतः वर्तमान में एकादशांग वाणी ही मानना है।

तो गाथा में प्रश्नोत्तर है और प्रश्नकर्ता ने पहला प्रश्न यह पूछा है कि इन एकादश अंगों का सार क्या है ? उत्तर दिया गया है—इनका सार आचरण है। दूसरा अर्थ आचारांग सूत्र से भी लिया जाता है। तो अंगों का सार आचार का पालन करना बताया गया है। जो भगवान ने चारों तीर्थों के लिये कहा है ?

फिर प्रश्न पूछा—उसका भी क्या सार है ? तो उत्तर दिया—'अंगुहो गत्थो सारम् ? अर्थात् भगवान के फरमाये हुए जिन आदेशों को आपने पढ़ा, श्रवण किया तथा धर्मशास्त्रों से जाना, उस पर चिंतन करते हुए उसके पीछे-पीछे चलना। मूल पाठ है कि जिनेश्वर भगवान की आज्ञा आगे रहेगी और चलने वाले पीछे रहेंगे। इस प्रकार जिनेश्वर प्रभु की आज्ञा पालन में सार है।

प्रश्न फिर पूछा—उसका भी सार क्या है ? तो उत्तर मिला—परूपणा है। अर्थात् परोपदेश देना। क्योंकि हम भगवान की आज्ञानुसार चले तो अपने लिये ही कुछ किया। किन्तु उससे जनता को क्या लाभ मिला ? अतः भगवान् की आज्ञाओं को औरों के हृदय में बिठाना तथा उन्हें सरल ढंग से समझाने के लिये उपदेश देना। अगर एक व्यक्ति स्वयं सन्मार्ग पर चलता है, वह तो अच्छा ही है पर कुमार्ग पर जानेवाले अन्य व्यक्ति को भी सन्मार्ग पर ले आता है तो वह बड़े पुण्य का कार्य है।

आप देखते ही हैं कि संत मुनिराज सदा एक गाँव से दूसरे गाँव में जाते हैं। वह क्यों ? क्या उन्हें लोगों से पैसों की वसूली करनी है, अथवा सेठ-साहूकारों से कोई जागीर लेनी है ? नहीं, वे केवल इसीलिये विचरण करते हैं कि जो व्यक्ति धर्म क्या है यह नहीं जानते और शास्त्र या उसकी वाणी क्या होती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है उसे नहीं समझते तो उन्हें इन बातों की जानकारी दी जा सके। ऐसा किये बिना धर्म का प्रचार और प्रसार नहीं हो सकता। तो आचरण का सार परूपणा अर्थात् अज्ञानियों को सदुपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने में है।

आगे कहा गया है: —

सारो परूवणाए चरणं, तस्स विय होइ निव्वाणं।
निव्वाणस्स उ सारो, अव्वाबाहं जिणाहु ति॥

गाथा में पुनः प्रश्न किया गया है कि—प्ररूपणा का सार क्या है? उत्तर दिया है—चरण। अर्थात् आचरण करना।

उत्तर यथार्थ है कि हम जिस बात की प्ररूपणा करें यानी जिस कार्य को करने का औरों को उपदेश दें पहले स्वयं भी उसका पालन करें। क्योंकि—

'परोपदेशे पांडित्यं सर्वेषाम् सुकरं नृणाम्।"

दूसरों को उपदेश देना और उनके समक्ष अपने पांडित्य का प्रदर्शन करना सरल है। पर उसके अनुसार हमारा स्वयं का आचरण भी पहले होना चाहिये। तभी लोगों पर हमारी बात का प्रभाव पड़ सकता है।

संत-मुनिराजों की शिक्षाओं का प्रभाव लोगों पर जल्दी क्यों पड़ता है? इसलिये कि वे जिस कार्य को जनता से कराना चाहते हैं, पहले स्वयं करते हैं। अगर वे ऐसा न करें तो लोग उनके आदेश को नहीं मान सकते। एक छोटा सा उदाहरण है—

एक व्यक्ति किसी महात्मा के पास अपने पुत्र को लाया और बोला—"महात्मन्! मेरा यह लड़का सदा बीमार रहता है। डाक्टरों से इसका इलाज करवाता हूँ पर वे दवा देने के साथ-साथ कहते हैं कि इसे गुड़ मत खाने दो, अन्यथा दवा इसको लागू नहीं होगी और यह ठीक न हो सकेगा। मैं इसे बार-बार गुड़ छोड़ देने के लिये कहता हूँ पर यह मानता नहीं। कृपया आप इसे समझाइये और गुड़ छोड़ देने की आज्ञा दीजिये। आपका प्रभाव ही इस पर पड़ सकता है और यह गुड़ खाना छोड़ सकता है।"

महात्मा जी ने कुछ क्षण विचार किया और फिर बोले—"भाई! मैं इसका गुड़ खाना अवश्य छुड़वा दूँगा किन्तु तुम इसे एक सप्ताह बाद मेरे पास लाना।"

व्यक्ति कुछ नहीं बोला और पुत्र को लेकर वापिस चला गया। एक सप्ताह बाद वह पुनः लड़के के साथ आया और महात्मा जी ने उसे प्रेम से समझाकर गुड़ खाना छोड़ने का आदेश दिया। लड़के ने महात्मा जी की आज्ञा मान ली और उस दिन के बाद एकबार भी गुड़ का सेवन नहीं किया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुछ दिन पश्चात् एकबार लड़के का पिता महात्मा जी के दर्शन करने आया तो उन्होंने पूछा—"क्यों भाई ! अब तो तुम्हारा लड़का गुड़ नहीं खाता ?"

"नहीं महाराज ! आपके समझाने के बाद उसने गुड़ को हाथ भी नहीं लगाया।" व्यक्ति ने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया, साथ ही पूछा—

"भगवन ! एक प्रश्न आपसे पूछ सकता हूँ क्या ?"

"निस्संकोच पूछो भाई !" महात्मा जी ने कहा। व्यक्ति बोला—"कृपया मुझे यह बताइये कि जब मैं पहली बार आपके पास अपने लड़के को लाया था उस समय भी आप उसे गुड़ न खाने के लिये समझा सकते थे। किन्तु आपने एक सप्ताह बाद उसे लाने की आज्ञा क्यों प्रदान की थी ? क्या उसके लिये किसी विशेष समय की आवश्यकता थी ?"

महात्मा जी हँसे और बोले--"नहीं भाई ! किसी अच्छी बात को समझाने के लिये शुभ समय की आवश्यकता नहीं होती। शुभ कार्य के लिये तो प्रत्येक समय ही शुभ होता है। बात वास्तव में यह थी कि तुम पहली बार आये उस समय तक मैं भी गुड़ खाता था। और उस स्थिति में अगर मैं तुम्हारे पुत्र को गुड़ खाने से मना करता तो मेरी बात का उस पर कदापि असर नहीं होता। इसलिये मैंने तुम्हें एक समय बाद आने के लिये कहा था और उस बीच मैंने स्वयं गुड़ खाने का त्याग कर दिया और उसके बाद तुम्हारे लड़के को मना किया। परिणाम तुमने देखा ही है कि मेरे समझाने के बाद उसने एकबार भी गुड़ का सेवन नहीं किया।"

उदाहरण से स्पष्ट है कि जब तक व्यक्ति स्वयं त्याग नहीं करता, तब तक अगर वह औरों से उस त्याग के लिये कहे तो उसकी बात का असर नहीं पड़ा करता।

इसीलिये संत-महात्मा अनेक प्रकार के त्याग स्वयं करते हैं और फिर अन्य व्यक्तियों को त्याग करने का उपदेश देते हैं। आप स्वयं भी यह महसूस करते होंगे कि अगर हम रात्रि को भोजन करें और आपको रात्रि-भोजन करने का त्याग कराएँ तो आप मानेंगे क्या ? इसी प्रकार अगर हम बीड़ी, सिगरेट या मदिरा का सेवन करते रहें और आपसे उसे छोड़ने का कहें तो आप उन्हें छोड़ेंगे क्या ? नहीं। इसके अलावा आप अपने आपसी व्यवहार को ही देख लीजिये, अगर आप लोगों को कोई धर्म-कार्य प्रारम्भ करना है और आप में से कोई व्यक्ति उसके लिए आगेवान होकर सबसे चंदा लेने के लिए बढ़ता है तो आप सबसे पहले यह देखेंगे कि उन महाशय ने स्वयं क्या दिया है ? अगर उन्होंने कुछ नहीं दिया होगा तो आप पहले सीधे ही पूछ लेंगे—"आपने क्या दिया है ?" उत्तर में अगर व्यक्ति ने अपनी दी हुई रकम बता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दी तो आप चुपचाप स्वयं भी यथाशक्ति अपनी-अपनी रकम लिखवा देंगे और नहीं कहेंगे—"पहले आप तो दीजिये ! फिर हम भी देंगे।"

तो बंधुओ ! प्ररूपणा करने के लिये पहले स्वयं ही क्रिया करनी पड़ेगी। हमारे यहाँ एक मुनि खड़े रहते हैं। यह भी तपस्या है। पर अगर वे कहें कि मुझसे तो खड़ा नहीं रहा जाता पर तुम खड़े रहो तो कौन मानेगा ? कोई नहीं !

इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है—प्ररूपणा का सार स्वयं आचरण करना है। गाथा में 'चरण' शब्द आया है। चरण का अर्थ है आचरण। इसे चरण क्यों कहा गया ? इसमें भी गूढ़ अर्थ है, और वह इस प्रकार है—चरण आप पैरों को भी कहते हैं। साढ़े पांच हाथ के शरीर का सम्पूर्ण बोझ चरण ही उठाते हैं। इसलिए नमस्कार भी चरणों को ही किया जाता है। मस्तक को कोई प्रणाम नहीं करता। स्पष्ट है कि मस्तक, हाथ, छाती, पेट आदि समस्त अंगों की अपेक्षा चरणों का महत्व अधिक है और वही श्रद्धा के पात्र होते हैं।

इसीप्रकार यद्यपि धर्म के तीन अंग हैं—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जीवन में दर्शन अर्थात् श्रद्धा का होना आवश्यक है, ज्ञान का होना भी अनिवार्य है किन्तु इन दोनों को क्रियात्मकरूप देने के लिये चारित्र या आचरण का होना तो श्रद्धा व ज्ञान की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण है। केवल श्रद्धा और ज्ञान से क्या हो सकता है, जबकि उनका कोई उपयोग ही न किया जाय।

संत तुकाराम महाराज ने कहा है—

"बोलालाच भात, बोलाचीच कढ़ी,
खाऊँनियां तृप्त कोण झाला ?"

तात्पर्य यह है कि आपने लोगों को भोजन के लिये आमंत्रित किया। समय पर पंगत खाने के लिये बैठ भी गई। किन्तु आपके पास खाद्य वस्तु कोई भी तैयार नहीं है और आप उन व्यक्तियों के सामने घूम-घूम कर कहते हैं—

"लीजिये साहब ! चावल, लीजिये कढ़ी ?"

बर्तन आपका खाली है और आप केवल जबान से ही कढ़ी और चावल परोस रहे हैं तो बताइये आपके बोलते रहने मात्र से ही क्या भोजन करने वाले तृप्त हो जाएँगे ? नहीं।

तो जिस तरह कढ़ी और भात के उच्चारण मात्र से भोजन करने वालों के पेट नहीं भर सकते, उसी प्रकार हृदय में श्रद्धा और मस्तिष्क में ज्ञान होने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मात्र से ही उनका लाभ आत्म-कल्याण के रूप में हासिल नहीं हो सकता जब तक कि उन्हें आचरण में न लाया जाय।

आशा है अब आप समझ गए होंगे कि जिसप्रकार शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा चरणों का महत्व अधिक है उसीप्रकार दर्शन और ज्ञान की अपेक्षा आचरण का महत्व भी अधिक है। यही कारण है कि इन दोनों महत्वपूर्ण अंगों को एक ही शब्द 'चरण' के नाम से उल्लिखित किया गया है तथा प्ररूपणा का सार आचरण कहा गया है।

गाथा में आगे पूछा है—उसका भी सार क्या है ? आचरण का सार क्या है ? तो उत्तर में कहा है —'निव्वाणं।' निव्वाणं यानी निर्वाण। अगर व्यक्ति शुद्ध चारित्र का पालन करता है तो निर्वाण की प्राप्ति होती है। कहा भी है —

भिक्खाए वा गिहत्थेवा, सुव्वए कम्मई दिवं।

भिक्षु हो चाहे गृहस्थ हो, जो सुव्रती सदाचारी है, वह दिव्यगति को प्राप्त होता है।

यहाँ पर एक बात ध्यान में रखने की है कि चारित्रपालन के लिए आयुष्य की बड़ी जरूरत है। अगर आयुष्य न हो तो चारित्र का पालन कैसे होगा ? क्योंकि चारित्र का पालन इस शरीर से ही होता है। इस विषय में आप को एक शास्त्रोक्त उदाहरण देता हूँ।

गौतमस्वामी ने एक बार भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन् ! श्रद्धा इस लोक में ही काम आती है या परलोक में भी ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—'श्रद्धा इस लोक में भी उपयोग में आती है और परलोक में भी।'

गौतमस्वामी ने पुनः प्रश्न किया—"भगवन् ! सम्यक्ज्ञान इस लोक में ही काम आता है या परलोक में भी काम आता है ?

भगवान् ने फरमाया · "ज्ञान इस लोक में भी काम आता है और परलोक में भी काम आता है।"

जिसकी आत्मा पर जो संस्कार होते हैं, वे परलोक में भी उसके पास रहते हैं। इसीप्रकार ज्ञान भी है। जो आत्माएँ यहाँ से ज्ञान प्राप्त करके यहाँ से गई हैं, परलोक में भी ज्ञान-ध्यान में निमग्न हैं। उनका आयुष्य भी हमारी अपेक्षा अनेक गुना अधिक है। वे ज्ञानी आत्माएँ देवलोक में जिन विमानों में बैठकर गई है वहां तैंतीस हजार वर्ष के बाद उनकी खाने की इच्छा होती है जबकि यहाँ एक हजार वर्ष में ही कई पीढ़ियां बीत जाती हैं। वे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्वास भी कई-कई वर्षों बाद लेते हैं। ऐसी स्थिति में आयुष्य के दीर्घ होने से वे पूर्व में सीखे और पढ़े हुए ज्ञान का वहाँ उपयोग करते हैं।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा भी गया—

जहा सुइ ससुत्ता पडियावि न विणस्सई।
एवं जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ॥

जैसे धागे में पिरोई हुई सुई गिर जाने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान रूपी धागे से युक्त आत्मा संसार में भटकता नहीं।

ऐसा क्यों कहा गया है ? इसीलिए कि एक बार ज्ञान प्राप्त कर लेने पर आत्मा में से उसके संस्कार जाते नहीं हैं और वह जिस लोक में भी जाती है साथ बने रहते हैं।

सारांश यही है कि दर्शन अथवा श्रद्धा और ज्ञान, ये दोनों ही इस लोक और परलोक दोनों ही स्थानों पर काम आते हैं। किन्तु अब चारित्र के विषय में भी सुनिये कि भगवान् ने उसके बारे में क्या कहा है ?

दर्शन और ज्ञान के विषय में पूछ लेने के पश्चात् गौतमस्वामी भगवान् से फिर पूछते हैं—"भगवन् ! चारित्र इस लोक में ही काम आता है या परलोक में भी ?" इसका उत्तर भगवान् ने दिया "चारित्र इस लोक में ही काम आता है परन्तु परलोक में इसका फल मिलता है।"

आप समझ गये होंगे बंधुओ, कि दर्शन और ज्ञान जहाँ इस लोक और परलोक दोनों ही स्थानों पर काम आता है, वहाँ चारित्र इस लोक में ही अपना काम करता है। अतः इसके लिए शरीर तो चाहिए ही, पर शरीर प्राप्त करने पर चारित्र का भी अधिक से अधिक पालन करना चाहिए। क्योंकि चारित्र के अभाव में ही अगर जीवन समाप्त हो गया तो फिर कब चारित्र का पालन किया जा सकेगा ? और कैसे आत्मा का उद्धार होगा ?

यह तो निश्चय है कि चारित्र का पालन किये बिना आत्मा संसार-मुक्त नहीं हो सकती, चाहे दर्शन और ज्ञान आत्मा में क्यों न विद्यमान रहें।

एक गाथा में बताया गया है—

जाणंतोऽवि य तरिउं, काइय जोगं न जुंजइ नईए।
सो बुज्झइ सोएणं एवं नाणी चरणहीणो॥

अगर कोई व्यक्ति तैरना जानते हुए भी जल-प्रवाह में कूदने पर हाथ-पांव न हिलाए तो प्रवाह में डूब जाता है। इसी प्रकार कार्य जानते हुए भी यदि कोई उस पर आचरण न करे तो वह चारित्रहीन व्यक्ति संसार-सागर को कैसे पार कर सकता है ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तात्पर्य यही है कि तैरने पर पार हुआ जाता है इस बात का विश्वास और किस प्रकार तैरा जाता है इसका ज्ञान भी व्यर्थ होता है, जबकि पानी में गिरा हुआ व्यक्ति अपने हाथ-पैरों से क्रिया नहीं करता । इसीप्रकार धर्म पर रहने वाली श्रद्धा और धार्मिक क्रियाओं का ज्ञान भी सार्थक नहीं होता जब तक कि उसे व्यवहार में न लाया जाय ।

स्पष्ट है कि आचरण अथवा चारित्र का महत्व सर्वोपरि है अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार चारित्र का पालन करना चाहिए । आपने श्रमणपना और हमने साधुपना स्वीकार किया है अतः आपका देश-चारित्र और हमारा सर्व-चारित्र है । आपका चारित्र भी कम नहीं है तथा आत्मा के उत्थान में कारणभूत है, पर पालन इसका ईमानदारी से होना चाहिए । अन्यथा हाथी के दाँत खाने के और तथा दिखाने के और यह कहावत अगर चरितार्थ हुई तो फिर सब गुड़-गोबर होने वाला है ।

तो आपने आज के कथन का सार समझ लिया होगा । संक्षेप में वह इस प्रकार है—

द्वादशांग का सार है आचार । आचार का सार-अंगुहो यानी आज्ञा के पीछे चलना । उसका भी सार-प्ररूपणा, यानी पदेश । प्ररूपणा का सार-चारित्र का पालन करना । चारित्र का सार-निर्वाण । तथा निर्वाण का सार-**अब्बाबाहं जिणाहुति** । यानी जिनेश्वर भगवान् ने फरमाया है कि अगर निर्वाण प्राप्त करना है तो पहले आचार को ग्रहण करो । फिर भगवान् की आज्ञा के पीछे चलो । बाद में प्ररूपणा से औरों को सन्मार्ग पर लाओ, फिर चारित्र का पालन करो जिससे निर्वाण प्राप्त हो । निर्वाण याने अक्षय शांति । आत्मा उस स्थान पर पहुंच जाती है जहाँ किसी भी प्रकार की बाधा या पीड़ा नहीं होती । बाधा इसलिए नहीं होती कि शरीर नहीं होता और पीड़ा नहीं होती क्योंकि मन नहीं होता ।

तो बंधुओ, समस्त पीड़ाओं एवं बाधाओं से रहित, अक्षयशांति और सुख प्रदान करने वाले ऐसे अपूर्व स्थान पर पहुंचने के लिए उत्कृष्ट चारित्र ही एक मात्र साधन है । अगर हम शुद्धचारित्र का पालन करते हैं तो हमारे दर्शन और ज्ञान का भी सम्यक् उपयोग हो सकता है । अन्यथा ये भी निरर्थक साबित हो जाएँगे ।

श्रद्धा का कार्य आपको धर्म पर विश्वास रखना तथा ज्ञान का कार्य आपको मुक्ति के मार्ग की पहचान कराना है । किन्तु चारित्र का काम है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आपको उस मार्ग पर चलाना। आप जानते ही हैं कि कहीं भी जाने वाले मार्ग पर विश्वास रखना और उस मार्ग की पहचान हो जाना ही काफी नहीं होता। सबसे जरूरी होता है उस मार्ग पर चलना। यही हाल मोक्ष-मार्ग का है। इस पर श्रद्धा रखना और इसका ज्ञान होना ही मुमुक्षु के लिए काफी नहीं है। उसके लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है इस मार्ग पर चलना। और चलने का दूसरा नाम ही चारित्र है।

आशा है चारित्र के महत्व को पूर्णतया हृदयंगम करते हुए आप अपने जीवन को दृढ एवं शुद्ध चारित्र से अलंकृत करेंगे तथा अपनी मंजिल के समीप पहुंचने का प्रयत्न करेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२१ ज्ञान की पहचान

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

कल के प्रवचन में बताया गया था कि ज्ञान और दर्शन, ये इस लोक में भी काम आते हैं और परलोक में भी काम आते हैं। किन्तु इस लोक में काम कैसे आते हैं और परलोक में कैसे आते हैं, इस विषय को जानने की जिज्ञासा जिज्ञासु व्यक्तियों के मन में होती है। सभी व्यक्ति '**बाबा वाक्यम् प्रमाणम्**' को माननेवाले नहीं होते। विचारवान और चिंतनशील व्यक्ति प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक शब्द को सुनकर उस पर विचार करते हैं और उनका सही ज्ञान करना चाहते हैं।

व्याकरणशास्त्र के अनुसार ज्ञान शब्द की व्याख्या की है—'**ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्**।' जिससे जाना जाय वह ज्ञान—यहाँ तृतीया विभक्ति है। वैसे पंचमी विभक्ति का प्रयोग भी किया जाता है—'**ज्ञायते अस्मात् तद् ज्ञानम्**।' थोड़ा-सा अन्तर बताया गया—जिसमें से मालूम होता है वह ज्ञान।

मेरे कहने का आशय यह है कि जिससे जाना जाय—मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? मेरा कर्त्तव्य क्या ? मैं कर क्या रहा हूँ ? इन सब बातों को समझा सकनेवाला ज्ञान कहलाता है।

यद्यपि ज्ञान भी अनेक प्रकार का है। आज संसार में अनेक प्रकार के व्यवसाय-धन्धे करने वाले लोग हैं। कोई सुनार है, कोई लुहार है, कोई बढ़ई, कोई दरजी, या नाई, धोबी कुछ भी है सभी के कार्य अलग हैं और सब अपने-अपने कार्य का ज्ञान करते हैं तथा अपने व्यवसाय में पारंगत हो जाते हैं। वैसी स्थिति में सुनार लोहारी धंधे में लग जाय और लुहार आभूषण गढ़ने बैठे तो क्या वे सफलतापूर्वक कार्य कर सकते हैं ? नहीं। वे अपना ही कार्य सफलतापूर्वक कर सकते हैं, जिसका उन्होंने ज्ञान किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बंधुओ, अभी आपने मेरे कथन से समझा होगा कि किसी भी वस्तु, व्यवसाय या कला की जानकारी करना ज्ञान है। यह सत्य है, पर फिर भी गंभीरतापूर्वक सोचा जाय तो ज्ञान को दो भागों विभक्त किया जा सकता है। एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक।

भौतिकज्ञान —

मान लीजिये, किसी ने भूगोल पढ़ा। उसमें पृथ्वी के विस्तार की जानकारी की। कौन-सा देश कहाँ है, कहाँ सागर, कहाँ रेगिस्तान, कहाँ बंजर भूमि और कहाँ की भूमि उपजाऊ है, इसका ज्ञान हासिल किया।

किसी ने इतिहास पढ़ा। उसमें प्राचीनकाल की राज्यव्यवस्था के बारे में, प्राचीन काल के लोगों के रहन-सहन और सभ्यता के बारे में तथा उस समय राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्थिति के बारे में जानकारी हासिल की।

इसीप्रकार किसीने ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन किया। उससे सूर्य, चन्द्र नक्षत्रों की गतिविधि एवं हस्तरेखाओं को पढ़ने की विद्या हासिल की।

किन्तु इन सबको पढ़ने से लाभ कितना ? उतना ही, जितनी हमारी जिन्दगी है। अर्थात् यह ज्ञान केवल हमारे इस जीवन तक ही कुछ काम आने वाला है और वह काम है जीने के लिए अर्थ उपार्जन कर लेना और संसार के व्यक्तियों पर अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमा लेना। ऐसा क्यों ? इसलिए कि यह भौतिक ज्ञान है। इस ज्ञान का सम्बन्ध केवल इस जीवन से ही है। आत्मा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है अतः आत्मा का भला करने में वह समर्थ भी नहीं है। भौतिकज्ञान में पारंगत होकर कोई व्यक्ति चाहे जितना होशियार हो जाय, कितना भी बड़ा पंडित कहलाने लगे और दुनियां भर की पोथियों को पढ़ कर तर्क-वितर्क करने में प्रवीण बन जाय, किन्तु उसकी ये समस्त विशेषताएँ काम वहीं तक आती हैं, जहाँ तक उसका यह वर्तमान जीवन है। इसके पश्चात् आत्मा को इससे कोई लाभ नहीं होता और यह ज्ञान उसे पुनः पुनः संसार-परिभ्रमण करने से रोक नहीं सकता।

मेरा आशय भौतिकज्ञान की व्यर्थता साबित करना अथवा बुराई करना नहीं है। चूँकि हमने इस पृथ्वी पर जन्म लिया है, मनुष्य देह पाई हैं और संसार के अन्य व्यक्तियों से हमारा इहलौकिक सम्बन्ध भी है अतः हमें सांसारिक कर्तव्यों को निभाने के साथ-साथ जीवन-यापन करने के साधनों को जुटाना भी है। इसलिए भौतिक ज्ञान की प्राप्ति करना आवश्यक है। पर हमें इस जीवन को सफलतापूर्वक बिताने के साथ-साथ यह भी कभी नहीं भूलना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए कि इस जीवन के पश्चात् भी हमारी आत्मा विद्यमान रहेगी और इस जीवन में किए हुये उत्तम या निम्न कर्मों के अनुसार उसे अगले जीवन में फल मिलेगा। अगर इस बात पर हमें विश्वास रहेगा तो हम निश्चय ही भौतिक ज्ञान के द्वारा परलोक को सुधार लेंगे।

आध्यात्मिक ज्ञान—

अभी मैंने आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा परलोक सुधारने की बात कहीं है अतः अब आध्यात्मिक ज्ञान क्या है, हमें इसे भी जान लेना जरूरी है।

आध्यात्मिक ज्ञान सर्वप्रथम हमें यह बताता है कि आत्मा का अस्तित्व अनन्त काल से चला आया है और चौरासी लाख योनियों में जन्म लेकर अनेकानेक प्रकार के दुःख सहने के पश्चात् इस मनुष्य शरीर को प्राप्त कर सकी है। आध्यात्मिक ज्ञान यह भी बताता है कि पाप और पुण्य क्या हैं तथा इनके परिणाम किस प्रकार आत्मा को भोगने पड़ते हैं। इसके पश्चात् यह ज्ञान ही हमें बताता है कि आत्मा का कल्याण कैसे हो सकता है, यानी किन उपायों से आत्मा जन्म-मरण से छुटकारा प्राप्त कर सकती है और छुटकारा पाने का मार्ग कौन सा है ?

भगवान् महावीर ने 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के अट्ठाईसवें अध्याय की गाथा में कहा है—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप, इनका आराधन ही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी जिनराज ने कहा है।

बंधुओ, हमारी दृष्टि तो अत्यन्त संकुचित एवं सीमित है। आँखों के सामने कपड़े का एक परदा भी लगा दिया तो उसके पीछे क्या है, यह हम देख नहीं सकते। इतना ही नहीं, आँख के ऊपर छोटी-सी पलक के गिरते ही सारा संसार हमारी आँखों से ओझल हो जाता है।

किन्तु जिनेश्वर भगवान् की दृष्टि सर्वदर्शी होती है। जिसके सामने कोई भी पदार्थ, पर्दा, दीवाल, पहाड़ या और कुछ भी क्यों न आ जाय वह बाधा नहीं डाल पाता। वे एक स्थान पर बैठे-बैठे ही इस पृथ्वी पर क्या हो रहा है यह भी देख लेते हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि दिव्य-दृष्टि या सर्वदर्शी कहलाती है।

आप सोचेंगे उन्हें ऐसी दृष्टि कैसे प्राप्त हुई और हमें वह क्यों नहीं मिलती ? इसका उत्तर यही है कि उन्होंने ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक् प्रकार से आराधन किया तथा विषय-विकारों का सर्वथा त्याग करके अपनी आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाया। जब आत्मा अपने निजस्वरूप को प्राप्त हुई तो सम्पूर्ण कर्म उससे अलग हो गए। इस प्रकार आत्मा से समस्त दोष दूर हो जाने पर उन्हें दिव्य-दृष्टि की प्राप्ति हुई।

पर हम उनके मुकाबले में क्या करते हैं, जिससे हमें ऐसी दृष्टि प्राप्त हो सके ? कुछ भी नहीं। न अभी हमारी श्रद्धा मजबूत है, न ज्ञान ही सम्यक् है, न हम उत्तम चारित्र का पालन करते हैं, और तपस्या तो होती ही नहीं। इसके अलावा हमारे हृदयों से राग-द्वेष की भावना नहीं जाती, 'मेरा' और 'तेरा' नहीं छूटता, एक रुपया देकर दानी कहलवाना और तनिक सा किसी का कार्य करके सेवाभावी कहलाने की आकांक्षा बनी रहती है। फिर बताइये हमें हमारे कौन से उत्तम कर्म का कोई शुभ फल प्राप्त हो सकता है ?

किन्तु भाइयो ! हमें अपनी आज की स्थिति से तनिक भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस जगत में असंभव कुछ भी नहीं है। न पुण्य-संचय करना असंभव है, न स्वर्ग प्राप्त करना असंभव है और न ही संसार से मुक्त होना असंभव है। अगर यह सब संभव नहीं होता तो अर्जुनमाली जैसा पापी और अंगुलिमाल जैसा क्रूर डाकू भी अपनी आत्मा का उद्धार कैसे कर लेता ? हमें विश्वास रखना चाहिये कि हमारी आत्मा अभी पापों से कितनी भी लिप्त क्यों न हो, अगर हम शुभ और दृढ़ भावना से प्रयत्न करेंगे तो धीरे-धीरे इसे निश्चय ही कर्म-मुक्त कर सकेंगे। भले ही एक जन्म में यह कार्य पूरा न हो पाए तो भी चेत जाने पर इसी जीवन में इतना कुछ उपार्जन कर लेंगे कि आगामी जन्मों में क्रमशः हमारी आत्मा मुक्तावस्था के समीप होती जाएगी। पर आवश्यकता है इसके लिये सतत प्रयत्न और हार्दिक लगन की।

एक दोहा आपने कई बार सुना होगा—

रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान।
करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान॥

अर्थ सरल और स्पष्ट है कि जिस प्रकार कुए के पत्थर पर बार-बार रस्सी के आने जाने से गहरा निशान हो जाता है, उसी प्रकार सतत अभ्यास करते रहने से महामूर्ख और मोटी बुद्धि वाला व्यक्ति भी पंडित बन जाता है।

तो मैं आपसे यह कह रहा था कि हमें अपने वर्तमान जीवन से असंतुष्ट और निराश न होकर अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न आरंभ कर देना चाहिये और उसके लिये सर्वप्रथम आध्यात्मिक ज्ञान हासिल करना चाहिये। यह ज्ञान हमें शास्त्रों के अध्ययन से तथा सद्गुरुओं के उपदेश से प्राप्त हो सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान में रखने की बात है कि व्यक्ति को ज्ञान हासिल करने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिये ताकि सम्यक् ज्ञान के स्थान पर हम धोखा न खा जांय। यानी मिथ्याज्ञान ग्रहण न कर लें। मिथ्याज्ञान भी मनुष्य को भ्रम में डाल देता है।

मान लीजिये आप नदी के तट पर घूमने गए। वहाँ जल में चमकती हुई सीप देखी। सीप चाँदी की तरह चमकती है अतः उसे आप सीप समझ लें तो क्या वह सम्यक्ज्ञान हुआ? नहीं, वह मिथ्याज्ञान है। इसीप्रकार बिना आत्मा को स्पर्श किये अर्थात् बिना भावना के केवल शरीर से की जाने वाली पूजा, उपासना या अन्य क्रिया को आप भक्ति मानें तो वह सब भी ज्ञानमय नहीं है, केवल दिखावा ही है। बहुत से व्यक्ति दान देने, को पैसा पानी में बहाना और तपस्या करने को व्यर्थ शरीर का सुखाना मानते हैं यह अज्ञान है।

इसप्रकार मिथ्या ज्ञान और अज्ञान भी ज्ञानवत् दिखाई देते हैं तथा मनुष्य उसके भ्रम में पड़कर अपने आपको ज्ञानी समझ बैठता है। परिणाम यह होता है कि सम्यक्ज्ञान जहाँ आत्मा को ऊँचा उठाता है, वहां ये झूठे ज्ञान उसे ले डूबते हैं।

शास्त्रों में कहा जाता है--

जहा अस्साविणि णावं, जाइअंधो दुरुहिया।
इच्छइ पारमागंतुं अंतरा य विसीयई॥

—सूत्रकृतांग १।१।२।३१

अज्ञानी साधक उस जन्मांध व्यक्ति के समान है जो छिद्रवाली नौका पर चढ़कर नदी के किनारे पहुंचना तो चाहता है, किन्तु किनारा आने से पहले ही बीच-प्रवाह में डूब जाता है।

वस्तुतः ज्ञान से रहित व्यक्ति अंधे के समान होता है और वह अपनी असहायावस्था में मिथ्याज्ञान या अज्ञानरूपी छिद्र वाली नौका का आश्रय लेकर पार उतरना चाहे तो यह कैसे संभव हो सकता है। यह तो ठीक उसी प्रकार हुआ, जैसे :—

'अंधो अंधं पहंणितो, दूरमद्धाणुगच्छइ।'

अन्धा अंधे का पथ प्रदर्शक बनता है, तो वह अभीष्ट मार्ग से दूर भटक जाता है।

इसीलिये बंधुओ, हमें सच्चा ज्ञान हासिल करना चाहिये तथा मिथ्या ज्ञान के भ्रम में पड़कर इस दुर्लभ जीवन को निरर्थक नहीं जाने देना चाहिये। सच्चा ज्ञान हमें शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त हो सकता है। सत्शास्त्र अथवा आध्यात्मिक शास्त्र-मुक्ति का सही मार्ग बता सकते हैं। वे ही बताते हैं कि आत्मा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनात्मा क्या है ? पाप-पुण्य क्या है ? मनुष्य के लिये कर्तव्य-अकर्तव्य क्या है और आत्मा को कर्मों से मुक्त करने के साधन कौन-कौन से हैं !

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के अठाईसवें अध्याय की तीसरी गाथा में भगवान ने कहा है—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप मार्ग को प्राप्त हुए जीव सुगति में जाते हैं।

यह शास्त्रों के वचन हैं, जिसके द्वारा संक्षेप में बताया है कि जो भव्य प्राणी मिथ्याज्ञान के धोखे में न आकर सम्यक्ज्ञान, सम्यकदर्शन, सम्यक् चारित्र एवं सम्यक्तप की आराधना करते हैं वे अपने पूर्वोपार्जित पापों को नष्ट करते हैं, नये पाप-कर्मों का बंधन नहीं करते और पुण्य-कर्मों का संचय करके इस जीवन के पश्चात् भी शुभ-गति प्राप्त करते हैं।

पर यह सब तभी हो सकता है जबकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप रूप धर्म को सम्यक् प्रकार से ग्रहण किया जाय। जो प्राणी धर्म के सही स्वरूप को समझ लेता है, समझना चाहिए कि उसने सभी कुछ समझ लिया। क्योंकि धर्म के प्रभाव से उसकी प्रत्येक क्रिया एवं प्रत्येक व्यवहार धर्ममय हो जाता है। संक्षेप में धर्म वह मूल है, जिसके मजबूत हो जाने पर शनैः शनैः निर्वाण रूपी फल की प्राप्ति हो जाती है।

आचारांग सूत्र में भी धर्म की महत्ता समझाते हुए कहा है—

लोगस्स सारं धम्मो, धम्मं पि य नाण सारियं बिंति।
नाणं संजमसारं, संजमसारं च निव्वाणं ॥

—आचारांग नि० १४४

विश्व-सृष्टि का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान यानी सम्यक्बोध है, ज्ञान का सार संयम है, और संयम का सार निर्वाण अर्थात् शाश्वत सुख की प्राप्ति है।

तो शाश्वत सुख की प्राप्ति का मूल है धर्म। और सच्चा धर्म वही अपना सकता है जो ज्ञानी हो। पर अभी मैंने आपको बताया था कि सच्चा ज्ञान प्राप्त करना भी टेढ़ी खीर है, क्योंकि मिथ्याज्ञान और अज्ञान, ये दोनों ही अपना दाँव लग जाने पर मनुष्य को गुमराह कर देते हैं तथा उसे सच्चे ज्ञान से दूर ले जाते हैं। अतः निर्वाण प्राप्ति के इच्छुक साधक को पहले विशुद्ध सम्यक्दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए तथा उसके साथ विवेक को सहायक बनाकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सच्चे ज्ञान को अपनाना चाहिए। सम्यक्त्व के अभाव में विपुल ज्ञान भी अज्ञान है और सम्यक्त्व की विद्यमानता में अल्पज्ञान भी सम्यक्ज्ञान है।

सम्यक्त्व की शक्ति

सम्यक्त्व में बड़ी जबर्दस्त शक्ति होती है। इसकी प्राप्ति हो जाने पर व्यक्ति में सहज ही ऐसा विवेक जागृत हो जाता है, जिसके कारण वह विषय-भोगों से विरक्त हो जाता है। भले ही वह उनका त्याग करने में समर्थ नभी हो, फिर भी उनमें लिप्त नहीं होता। अर्थात् वह भोगों को भोगता हुआ भी अंतःकरण से उनमें अनासक्त रहता है।

इस विषय में एक गम्भीर प्रश्न उठ सकता है कि सम्यक्दृष्टि जीव जब भोगों को हेय समझता है तो उनका सर्वथा त्याग क्यों नहीं करता ? हेय समझते हुए भी भोगों का सेवन क्यों करता है ?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि विशुद्ध सम्यक्-दृष्टि प्राप्त हो जाने पर भी कर्मोदय के कारण वह चारित्र का अनुष्ठान नहीं कर सकता। किन्तु उसका विवेक जागृत रहता है अतः वह सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, हेय-उपादेय सभी को समझता अवश्य है।

उदाहरण के लिए— कोई व्यक्ति जेल में बंद रहता है और वहाँ रहकर कैदखाने के नियमों का पालन करता है, रूखा-सूखा और नीरस खाना खाता है, कठिन श्रम भी करता है। किन्तु क्या वह प्रसन्नतापूर्वक वह सब करता है ? नहीं, कैदखाने में रहते हुए भी प्रतिपल उसकी यही इच्छा रहती है कि कौन सी वह शुभ-घड़ी आये कि मैं इससे छुटकारा पा सकूँ। इस प्रकार कैदखाने के प्रति हेय बुद्धि रखता हुआ भी वह विवश होकर सजा की अवधि पूर्ण होने तक वहाँ रहता है, क्योंकि रहना पड़ता है।

इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि की भी स्थिति होती है। वह ससार रूपी कारा-गार से बाहर निकलने की इच्छा रखता है, यहाँ के भोग-विलास भी उसे रुचि कर नहीं होते तथा उनके प्रति वह अत्यन्त हेय बुद्धि रखता है, किन्तु जब तक कर्मों की स्थिति तथा अवधि पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक वह विवशता के कारण उन्हें त्याग नहीं सकता, किन्तु जिस क्षण भी कार्य विधि पूर्ण हो जाती है, वह विषय-भोगों से सर्वथा विरक्त हो जाता है तथा शरीर पर से ममत्व हटा लेता है।

सम्यक्दृष्टि और ज्ञानीपुरुषों के विषय में वीर प्रभु ने कहा है :—

साहरे हत्थ पाए य, मणं पंचिंदियाणि य।
पावकं च परिणामं, भासादोसं च तारिसं॥

—सू० प्र० श्रु० अ० ८, गा० १७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानी जन हाथ और पैरों की वृथा हलन-चलन क्रिया को, मन की चपलता को और विषयों की ओर जाती हुई पाँचों इन्द्रियों को तथा पापोत्पादक विचारों को और भाषा संबंधी समस्त दोषों को रोक लेते हैं।

इस प्रकार वे मन, वचन और काया के अनिष्ट व्यापारों को रोककर अपनी आत्मा का गोपन करते हैं तथा आश्रवरूपी कर्म श्रोत को बन्दकर अपने अंत समय में पंडितमरण को प्राप्त होकर निर्वाण के अधिकारी बनते हैं।

अज्ञान का परिणाम

अभी मैंने आपको बताया था कि सम्यक्त्व और ज्ञान जीव को संसार-कारागार से मुक्त करके निर्वाण की प्राप्ति कराते हैं। किन्तु अज्ञान इसका उलटा ही परिणाम लाता है। वह जीव को अनन्त काल तक भी संसार से मुक्त नहीं होने देता तथा पुनः-पुनः जन्म-मरण कराता हुआ नाना कष्टों का भागी बनाता है।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है—

जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्ख संभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए।

—अध्ययन ६-१

जितने भी अज्ञानी-तत्व बोध-हीन पुरुष हैं, वे सब दुःख के पात्र हैं। इस अनन्त संसार में वे मूढ़ प्राणी बार-बार विनाश को प्राप्त होते रहते हैं।

इसका कारण यह है कि अज्ञानी जीव विषय भोगों को उपादेय समझता है और किन्हीं कारणों से उन्हें भोग न सकने पर भी भोगने की अभिलाषा रखता है तथा उनमें अत्यन्त आसक्त बना रहता है।

ध्यान देने की बात है कि ज्ञानी और अज्ञानी की बाहरी चेष्टाएँ एक सी दिखाई देती हैं किन्तु ज्ञानी भोग भोगते हुए भी उनसे विरक्त रहता है और अज्ञानी न भोगते हुए भी उनमें आसक्त रहता है। इसप्रकार भावनाओं का दोनों में बड़ा भारी अन्तर होता है। ज्ञानी अपनी अनासक्त भावनाओं के कारण अंत में मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं और अज्ञानी कर्मों के भार से लदे हुए जन्म-मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं।

अज्ञानी जीवों में एक सबसे बड़ा दोष यह होता है कि वे अपने आपको सबसे अधिक ज्ञानी मानते हैं। थोड़ा जानने पर भी अधिक जानने का दावा करते हैं और यही समझते हैं कि हम जो कुछ जानते हैं वही सम्पूर्ण है, यानी बोध की पराकाष्ठा हो गई है। अज्ञानियों की यह भ्रांति ही उनकी दयनीय दशा की द्योतक है। अपने अज्ञान के कारण वे अपनी अज्ञानता को भी नहीं जान पाते तो उसे दूर करने की चेष्टा कर भी कैसे सकते हैं?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञानियों की दृष्टि भूतकाल और भविष्यत् काल से हट जाती है तथा केवल वर्तमान की ओर ही रहती है। वे केवल वर्तमान के लाभ और आनन्द को ही देखते हैं तथा भविष्य की ओर से इतने उदासीन हो जाते हैं, मानो भविष्य से उनका कोई सरोकार हो नहीं है। इसीलिये वे अपने भविष्य को सुधारने की तनिक भी परवाह नहीं करते। अपना सुधार वही व्यक्ति कर सकता है जो प्रथम तो अपनी त्रुटियों एव दोषों को पहचाने और दूसरे भविष्य में विश्वास रखे।

अज्ञानी में ये दोनों ही बातें नहीं होतीं। वह इस बात का विचार नहीं करता कि संसार और संसार के सारे पदार्थ नाशवान हैं। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

भोगा मेघवितानमध्य विलसत्सौदामिनी चंचला।
आयुर्वायु—विघट्टिताभ्रपटली लीनाम्बुवद् भंगुरम्॥
लोला यौवन लालसा तनुभृतामित्याकलय्यद्भुतं।
योगे धैर्य समाधि सिद्धि सुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः॥

अर्थात्—देह धारियों के भोग विषय सुख, सघन बादलों में चमकने वाली बिजली की तरह चंचल हैं। मनुष्यों की आयु हवा से छिन्न-भिन्न हुए बादलों के जल के समान क्षण-स्थायी या नाशवान है। और युवावस्था की उमंग भी स्थिर नहीं है। इसलिये बुद्धिमानो! धैर्य से चित्त को एकाग्र करके उसे योग साधना में लगाओ।

अभिप्राय यही है कि मनुष्य की आयु और इस संसार के समस्त मनमोहक पदार्थ नाशवान हैं। अतः अज्ञानी पुरुष ही इनमें आसक्ति रखते हैं तथा अपनी विवेकहीनता के कारण इनमें शुद्धता एवं ममत्वभाव रखते हैं। परिणाम यह होता है वे अपने जीवन काल में तो कर्मों का बंधन करते ही रहते हैं, अंत समय में भी हाय-हाय करते हुए बाल-मरण मरते हैं तथा कुगति में जाते हैं।

इसलिये बंधुओं! हमें ज्ञान की सच्ची पहचान करके आध्यात्मिक ज्ञान हासिल करना है। आध्यात्मिक या धारमार्थिक ज्ञान के समान पावन और दुर्लभ वस्तु इस संसार में दूसरी नहीं है। इसे प्राप्त करने पर ही मनुष्य अपना लौकिक और लोकोत्तर कल्याण करने में समर्थ बन सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२२ सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्

धर्मप्रेमी बंधुओ माताओ एवं बहनो !

हमारा विषय यह चल रहा है कि सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप, ये चारों मोक्ष के साधन हैं। इन चारों में से अगर एक भी मर्यादित नहीं रहे तो हमें अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसी प्रकार, जिस प्रकार आप हलुआ बनाते हैं तो उसके लिए आटा, शक्कर, घी और पानी ये चारों ही उसी प्रमाण में डालते हैं जिस प्रमाण से डालना चाहिए। इन वस्तुओं में एक भी वस्तु अगर न रही या न्यून मात्रा में रही तो आपका पकवान रुचिकर नहीं बनेगा।

सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का भी यही हाल है। ये चारों सही मात्रा में होने पर ही आप मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति कर सकते हैं और आत्मा के लिए कल्याणकारी स्थिति बना सकते हैं। किन्तु इनमें से किसी का भी अभाव हो तो हमारा उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता।

कल मैंने आपको ज्ञान के विषय में बताया था कि भौतिक अथवा व्यावहारिक ज्ञान कितना भी हासिल क्यों न कर लिया जाय वह इहलोक में ही उपयोगी बनेगा, परलोक में वह आपका तनिक भी सहायक नहीं बन सकता। किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान आपको इस लोक और परलोक दोनों में लाभकारी सिद्ध होगा। कहा भी है—

"ज्ञानं सर्वार्थसाधकम्।"

सभी प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति में ज्ञान ही साधक है।

तो ऐसा ज्ञान कहाँ प्राप्त होगा ? इस विषय में भी कल कहा गया था कि आत्म-कल्याणकारी, यानी आध्यात्मिक ज्ञान धर्म शास्त्रों से प्राप्त हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकेगा। स्वाभाविक है कि भूगोल पढ़नेवाला न्याय के सवालों का उत्तर नहीं दे सकता और ज्योतिष पढ़नेवाला इतिहास के बारे में नहीं बता सकता। सारांश यही है कि जिस विषय को जो पढ़ता है उसी में वह पारंगत होता है तथा जिस विषय को पढ़ना चाहता है वह उसी विषय के ग्रन्थों में पा सकता है। इस प्रकार आध्यात्मिक विषय हमें धर्म-ग्रन्थों में ही मिलता है अन्य व्यावहारिक विषयों के ग्रन्थों में नहीं ?

किस धर्म के शास्त्र पढ़े जाँय ?—

बंधुओ, आप लोग महाजन हैं, बाल की खाल निकालने वाले हैं। महाजनों का शरीरबल भले ही कम हो पर दिमागी बल बड़ा जबर्दस्त होता है। अतः आप में से कोई यह प्रश्न भी पूछ सकता है कि धर्म तो अनेक हैं फिर कौन-सा धर्म-शास्त्र हम पढ़ें ?

आपका प्रश्न गलत नहीं होगा। जब धर्म अनेक हैं तो धर्मशास्त्र भी अनेक होने स्वाभाविक हैं। उनमें से किसी की भाषा पाली है, किसी की अर्धमागधी इसी प्रकार संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी तथा उर्दू आदि अनेक भाषाओं में धर्म-शास्त्र लिखे गये हैं।

किन्तु हमें उनकी भाषा से कुछ नहीं लेना है। देखना यह है कि धर्म के मूल सिद्धान्त वही हैं या नहीं ? और वे मूल सिद्धान्त सभी धर्मों में एक जैसे हैं। सभी धर्म-शास्त्र कहते हैं 'सत्य बोलो, हिंसा मत करो, चोरी को त्यागो, दान दो, शील का पालन करो, आदि-आदि।

मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या किसी भी धर्म अथवा धर्मशास्त्र में यह कहा गया है ? झूठ बोलो, हिंसा करो, चोरी करो, व्यभिचारी बनो या कभी दान मत दो ? नहीं, कोई भी धर्म ऐसा नहीं कहता। भले शास्त्र अलग-अलग हैं पर वे हमें आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करते हैं।

उदाहरणस्वरूप ज्ञान को ही लीजिए ! हम कहते हैं—'**सम्यक्ज्ञान**', अंग्रेजी भाषा वाले कहेंगे—'**राइट नॉलेज**', फारसी भाषा बोलने वाले कहते हैं—'**इल्मफाजी**,।' इस प्रकार केवल भाषा में फर्क है पर चीज वही है। कोई व्यक्ति उन्हें धर्म-विरोधी नहीं कह सकता। खींचातानी केवल इसलिए होती है कि हम भाषा को मानते हैं और प्रत्येक भाषा-भाषी अपने शास्त्र को पढ़कर अपनी इच्छानुसार अर्थ निकालता हुआ धर्म क्रियाओं में कुछ फेर कर लेता है। लेकिन इनसे धर्म-शास्त्रों को कभी गलत नहीं ठहराया जा सकता। वे सभी सच्चे धर्म को प्रकाशित करते हैं।

भगवद्गीता में कहा गया है—

"**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।**"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस संसार में ज्ञान जैसा पवित्र पदार्थ दूसरा नहीं है।

मराठी भाषा में भी कहा है—

अज्ञानाचे भस्म करावे, ज्ञान स्वरूपी मन विचारावे।
त्यामुनि माया नार, अजुनी तरी, मना कर विचार॥

कहते हैं—अज्ञान को भस्म करो और ज्ञान तत्व को आत्मा में प्रतिष्ठित करो। हम भी साधु भाषा में कहते हैं अज्ञान को हटाओ और सम्यक् ज्ञान को ग्रहण करो, तभी आत्मा संसार की वास्तविक स्थिति को समझकर उससे मुक्त हो सकेगी। हमें जानना चाहिए कि आत्मा क्या है ? उसका शुद्ध स्वरूप कैसा है और क्या करने पर वह अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति कर सकती है ? हम शास्त्रों की आज्ञा का बराबर पालन नहीं कर सकते किन्तु जिन महान-आत्माओं ने ऐसा किया है वे ही भव-सागर को पार कर सके हैं।

शास्त्रों में गौतमस्वामी का वर्णन आता है और उनके विशेषणों में एक विशेषण भी बताया जाता है – **'उद्दढ जाणू अवोसिरे।'**

वे किस प्रकार आत्म-चिंतन करते थे वह दृश्य हमारे समक्ष आता है कि उनका मस्तक थोड़ा झुका है, जानु यानी घुटने थोड़े उठे हुए हैं और दृष्टि नत है। ऐसा क्यों ? इसलिए कि उनकी दृष्टि इधर-उधर न जाये, कौन आया, कौन गया ? इसका तनिक भी ख्याल न रहे। ऐसी एकाग्रता होने पर ही गहन चिंतन होता है। आज आप एक सामायिक भी मौन रहकर एक आसन नहीं कर सकते। उस काल में भी इधर-उधर की सारी बातें करते रहते हैं और कई बार तो स्थानक में सामायिक काल में भी मीटिंग करते हुए आप लोग झगड़ पड़ते हैं। पर चाहते हैं उस सामायिक का भी बड़ा भारी फल प्राप्त करना। पर यह कैसे संभव हो सकता है ?

तभी मैंने गौतमस्वामी के विषय में कहा कि वे किस स्थिति में आत्म-चिंतन करते थे। और केवल चिंतन ही नहीं उनका प्रत्येक कार्य-कलाप तपोमय, ज्ञानमय एवं धर्ममय होता था। दो दिन उपवास करना, तीसरे दिन पारणा करना और उसके लिए भी स्वयं ही भिक्षा लाना। भिक्षा लाकर भगवान् को दिखाने के पश्चात् कहीं पारणा होता था। यह तो थी उनके आहार की विधि।

इसके अलावा वे दिन के पहले प्रहर में स्वाध्याय करते थे, दूसरे प्रहर में चिंतन करते थे और तीसरे प्रहर में आहार के लिये जाते थे।

हमारे भाइयों को शंका होगी कि उस समय मुनि एक बार गोचरी के लिये जाते थे तो आज संत दो बार क्यों जाते हैं ? इसका कारण यह है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कि उस समय पुद्गलों में सरसता थी। एक बार कल्पवृक्ष का फल खाया तो तीन दिन तक भूख नहीं लगती थी। यह पहले आरे की बात है। दूसरे आरे में एक बार खा लेने पर दो दिन तक भूख का अनुभव नहीं होता था। तीसरे आरे में आज खा लेने पर कल यानी अगले एक दिन खाने की इच्छा नहीं होती थी और चौथे आरे में प्रतिदिन एक बार खा लेना काफी होता था।

वर्तमान में पाँचवाँ आरा चल रहा है, इसमें प्रतिदिन दो वक्त खाने की आवश्यकता है, पर इसके अलावा भी फलाहार, चाय-नाश्ता आदि चलता रहता है। वैसे इस पंचमकाल में दो वक्त खाना पर्याप्त हो जाता है। इसके बाद आयेगा छठा आरा। उसके बारे में तो क्या कहें—'हाथ सूखा और बालक भूखा।' यह बात ही सच होगी। यानी इतनी भूख लोगों को लगेगी।

तो काल के मुताबिक शरीर की स्थिति होने के कारण संत अगर दो वक्त आहार करते हैं तो यह शास्त्र-विरोधी बात नहीं है। शास्त्र में तो यह भी कहा गया है—**'काले कालं समाचरेत्।'** यानी समय और काल देखते हुए जिस क्षेत्र में जैसा रिवाज हो, वैसा करो।

साधु के लिए नियम है कि वह समय देखकर भिक्षा के लिये निकले। और भिक्षा का समय क्षेत्रों के रिवाज से बदलना पड़ता है। अगर हम 'चिंच-पोकली' गाँव में चातुर्मास करें तो वहाँ लोग नौ बजे खा-पीकर घर से अपने-अपने काम के लिए निकल जाते हैं और दस बजे बहनें चौका-बर्तन भी निपटा लेती हैं। उस स्थिति में संतों को दस बजे भिक्षा के लिए पहुंचना चाहिए। और पंजाब में लोगों के खाने का समय बारह बजे के बाद प्रारम्भ होता है अतः वहाँ साधु-मुनिराजों को ही अपना समय बदलना पड़ता है।

तो मैं आपको मराठी कवि के पद्य के बारे में बता रहा था जिसने कहा है—'अज्ञान को भस्म करो तथा ज्ञान के स्वरूप को समझो।' कुछ व्यक्ति कहते हैं—ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान में ही अधिक सुख है। क्योंकि—**'बहुजाणे घणा ताणे।'** यानी अज्ञानी तर्क-वितर्क नहीं करता पर ज्ञानी बहुत खींच-तान करता है।

ऐसा मानने वाले बड़ी भूल करते हैं। अज्ञान में ही जो आनन्द मान लेगा वह जीवन और जगत् के रहस्य को कैसे समझेगा? पाप और पुण्य के अन्तर को न समझते हुए वह किस प्रकार मुक्ति के लिए प्रयत्न करेगा और मुक्तावस्था पा सकेगा? अज्ञान का केवल यही परिणाम होगा कि जीव जन्म-मरण करता चला आ रहा है और करता ही चला जाएगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु इसके विपरीत ज्ञानी अपने बुद्धि-बल और विवेक के द्वारा जीव तथा जगत् के रहस्य को जान लेगा, आत्मा के शुद्ध स्वरूप की जानकारी करेगा तथा शास्त्रों का अध्ययन करके अपनी आत्मा को शुद्ध करने का और कर्मों के नाश करने का प्रयत्न करेगा। पर यह सब होगा तभी जबकि हेय-उपादेय तथा कर्तव्य-अकर्तव्य को वह अपने विवेक की कसौटी पर कसेगा। दही का मंथन करने पर ही मक्खन की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार तर्क-वितर्क करने पर ही अज्ञान और ज्ञान की परख हो सकती है।

इसीलिये मराठी कवि ने अज्ञान का ज्ञान करने की प्रेरणा दी है क्योंकि अज्ञान आत्मा का हित नहीं कर सकता उलटे अहित का कारण बनता है।

कहा भी है—

अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्वदेहिणं॥

—ऋषिभाषित २१-१

अज्ञान सबसे बड़ा दुख है। अज्ञान से भय उत्पन्न होता है, सब प्राणियों के संसार-भ्रमण का मूल कारण अज्ञान ही है।

तो मराठी कवि ने अज्ञान का नाश करने की प्रेरणा के साथ-साथ अंतर तम में ज्ञान की स्थापना करने के लिये भी कहा है। पर उसके लिये एक शर्त भी रखी है कि ज्ञान-मार्ग में दो बाधाएँ यानी अवरोध आते हैं उन्हें पहले हटाना चाहिये। वे अवरोध हैं—धन और स्त्री। इनके लिये स्पष्ट कहा है—'त्यागुनि माया नार।' अर्थात् धन और स्त्री के प्रति ममत्व का त्याग करो तभी आत्म-चिंतन हो सकेगा तथा ज्ञान फलीभूत बनेगा।

जब तक व्यक्ति धन के पीछे बावला बना फिरता है, उसे पाने के लिये नाना प्रकार के अन्याय, अनीति और कुकर्म करता है तब तक उसका हृदय ज्ञान प्राप्ति की ओर उन्मुख नहीं हो पाता। इसीप्रकार नारी के लिये भी कहा है कि उसके मोह में ग्रसित मानव को सदैव घर-गृहस्थी की तथा पत्नी की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की ही इतनी फिक्र रहती है कि वह धर्म-कार्य के लिये समय ही नहीं बचा पाता। काम-भोगों में जिस व्यक्ति का मन उलझ जाता है वह पारमार्थिक विषय को नहीं सोच पाता।

किसी कवि ने भी कहा है :—

चलूँ चलूँ सब कोइ कहै, पहुंचे बिरला कोय।
एक कनक और कामिनी, दुर्लभ घाटी होय॥
एक कनक और कामिनी, ये लम्बी तरवारि।
चले थे हरि मिलन को, बिच ही लीने मारि॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नारि नसावै तीन सुख, जेहि नर पासे होय।
भक्ति, मुक्ति अरु ज्ञान में, पैठ सके ना कोय।।

कहते हैं कि इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से छूटना चाहता है और मोक्ष धाम को पहुंचने की आकांक्षा रखता है किन्तु वहाँ तक पहुँच कोई बिरला ही पाता है। इसका कारण कवि ने यह बताया है कि मोक्ष मार्ग का रास्ता बड़ा ऊबड़-खाबड़ है तथा दो तो बड़ी भयंकर घाटियाँ हैं जिन्हें कनक और कामिनी कहा जाता है। इन दोनों के प्रबल आकर्षण से बचना बड़ा कठिन है और जब तक इनसे विरक्ति न हो जाय साधना के पथ पर यानी मुक्ति की ओर जाने वाले मार्ग पर आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

कवि ने एक और उदाहरण दिया है कि भक्त बड़े उत्साह और उमंग के साथ भगवान् से मिलने के लिये भक्ति-मार्ग पर कदम रखता है, अर्थात् भक्ति करना प्रारम्भ करता है। किन्तु कनक यानी सोना और धन तथा कामिनी रूपी तलवार उसे रास्ते में ही मार गिराते हैं। इतिहास हमें अनेक दृष्टान्त ऐसे बताता है, जिनमें बड़े-बड़े तपस्वी और भक्त भी काम विकारों के वशीभूत होकर अपनी भक्ति और तप को मिट्टी में मिला चुके हैं। जैसे—

विश्वामित्र पराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना:—
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगता:।

विश्वामित्र और पराशर आदि अनेक ऋषि हो चुके हैं। जिनमें से कोई वायु भक्षण करके रहता था, कोई जल पर ही जीवन निर्वाह करता था और कोई वृक्षों के पत्तों पर ही अपना जीवन चलाता था। किन्तु ऐसी तपस्या करने वाले भी नारी का सुन्दर मुख देखते ही विकारग्रस्त हो गए।

इसीलिये पद्य में आगे कहा गया है—

नारि नसावै तीन सुख, जेहि नर पासे होय।
भक्ति मुक्ति अरु ज्ञान में पैठ सके ना कोय।

अर्थात् अगर स्त्री पुरुष के समीप रहे तो वह मनुष्य को भक्ति, ज्ञान और मुक्ति, इन तीनों की प्राप्ति में बाधा डालती है। दूसरे शब्दों में इन तीनों में गति नहीं करने देती। इसीलिये कवि ने स्त्री-संगति अथवा विषयों से बचने की प्रेरणा दी है ताकि मानव धन और स्त्री सम्बन्धी प्रलोभनों से बचकर निराकुलता पूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सके।

कहते हैं कि व्यास जी ने शुकदेव से विवाह करने का आग्रह किया और नाना प्रकार से उन्हें समझाया। किन्तु शुकदेव जी ने उनकी एक भी बात नही मानी। उलटे कहा—"पिताजी ! लोहे की और काठ की बेड़ियों से तो फिर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी छुटकारा मिल सकता है किन्तु स्त्री के मोह रूपी बंधन से कभी भी मुक्त नहीं हुआ जा सकता अतः मैं इस बंधन में कदापि नहीं बँधना चाहता।" यह कहकर वे वन में तपस्या करने के लिये चल दिये।

तो बन्धुओ, मुख्य बात यही है कि अगर मानव अपनी आत्मा का कल्याण चाहता है तो उसे धन-वैभव, स्त्री, पुत्र आदि समस्त सांसारिक बंधनों से उदासीन होकर सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति करना चाहिए और इसके लिए धर्म-शास्त्रों का अध्ययन करते हुए उनके आदेशानुसार अपनी श्रद्धा को दृढ़ रखते हुए सम्यक्चारित्र को अपनाना चाहिए।

धर्मशास्त्र भले ही अनेक हों, किन्तु उनके मूल तत्व एक हों तो उन्हें जैन धर्म के सिद्धांतों के विरुद्ध नहीं समझना चाहिये। जैन धर्म में अन्य कोई विशेष भेद की बात नहीं है। वह शब्द रहित है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर मालूम पड़ सकता है कि इसमें मूल शब्द 'जन' है। हम सब जन कहलाते हैं। जन पर दो मात्राएँ लगाई गई हैं 'जैन' कहने के लिये और वे दो मात्राएँ ज्ञान और क्रिया की समझनी चाहिए। ये दोनों जिसके जीवन में हों वही जैनी है अकेले ज्ञान या अकेली क्रिया से मतलब सिद्ध नहीं होता। ज्ञान होने पर जहाँ क्रिया न हो, और जहाँ क्रिया हों किन्तु ज्ञान न हो वहाँ जैन धर्म का अस्तित्व नहीं रहता।

बहुत से व्यक्ति इस बात को न समझने के कारण जैनधर्म को एक भिन्न ही धर्म मानते हैं। लेकिन बात ऐसी नहीं है। उसमें है केवल यही कि ज्ञान के साथ-साथ आचरण भी हो ऐसा जैनधर्म कहता है। और जिस धर्म में भी ये दोनों बातें आवश्यक मानी जाती हैं वह जैनधर्म से अलग नहीं हो सकता।

इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान और कर्म इन तीनों के सुमेल से जो भी धर्म अस्तित्व में आता है वह जीव को संसार-मुक्त होने में सहायक बनता है तथा उसे मंजिल तक पहुंचाता है। किसी को भी ऐसा नहीं समझना चाहिए कि हमारा धर्म ही मोक्ष दिलाता है। उदाहरण के लिए आपके नागपुर में किसी को आना हो तो क्या एक ही दिशा या एक ही मार्ग से कोई आ सकता है? दूसरी दिशा या दूसरे मार्ग से नहीं? ऐसी बात नहीं हैं। व्यक्ति किसी भी ओर से इस शहर में पहुंच सकता है। शर्त केवल यही है कि उसे मार्ग का ज्ञान हो, उस मार्ग से नागपुर आ जाएगा इसका विश्वास हो, और वह अपने विश्वास के अनुसार चले भी। अगर इन तीनों में से किसी एक का भी अभाव होगा तो वह नागपुर में नहीं पहुंच सकेगा। जैसे मार्ग की तो उसे जानकारी हो पर वह चले नहीं, या चल भी पड़े पर मार्ग का ज्ञान न हो तो न जाने किस ओर भटक जाएगा। इसलिए विश्वास, ज्ञान और क्रिया, इन तीनों का एक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साथ होना जरूरी है, उस धर्म का नाम चाहे कोई भी क्यों न हो। और ये तीनों चीजें ही सम्यक् ज्ञान, सम्यक्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र कहलाती हैं; जिनको हमारा धर्म मुक्ति का मार्ग कहता है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं।

तो बंधुओ, जिस प्रकार आप किसी चौराहे पर लगे हुए मील के पत्थर से जानकारी हासिल करते हैं कि कौन सा मार्ग किस शहर को जाता है? और शहर कितनी दूर है? और तब अपने गंतव्य की ओर बढ़ते हैं।

इसीप्रकार शास्त्र हमारे लिए चौराहे पर खड़े मील के पत्थर का काम करते हैं। यह मानव जीवन भी एक चौराहा है और यहाँ से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन चारों गतियों में जा सकता है। किन्तु कौन सा मार्ग किस गति में पहुंचाता है, यह मील के पत्थर के समान हमारे शास्त्रों में स्पष्ट और विस्तार से बताया गया है। आप किसी नये प्रदेश में किसी चौराहे पर पहुंच जायं, पर वहाँ अगर संकेत से बताने वाला पत्थर न हो तो किसी भी प्रकार आप नहीं जान सकेंगे कि कौन सा मार्ग किस शहर की ओर जाता है?

ठीक इसी प्रकार मानव-जीवन रूपी चौराहे पर आप खड़े हैं, पर किस ओर आपको बढ़ना चाहिए यह आप नहीं समझ सकते। केवल जिनेश्वर भगवान-प्ररूपित शास्त्र ही आपको यह बता सकते हैं कि कौन सा मार्ग पाप का है जो आपको नरक या तिर्यंच गति की ओर पहुंचा देगा, तथा कौन सा धर्म-मार्ग है जो स्वर्ग और मोक्ष की ओर ले जाएगा। इतना ही नहीं, शास्त्र आपको इससे भी अधिक जानकारी देंगे कि कौन सा मार्ग आपके लिये गृहणीय है, उसमें कौन-कौन से अवरोध हैं और उन अवरोधों से किस प्रकार बच कर आप निकल सकते हैं? संक्षेप में शास्त्रों के समान अन्य कोई भी महत्त्वपूर्ण वस्तु इस संसार में नहीं है, जो आपके महान् उद्देश्य की सिद्धि कर सके। इसीलिये कहा जाता है—

"सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्"

प्राणीमात्र के लिये सर्वश्रेष्ठ आंख सात्विक धर्म-शास्त्र ही हैं—क्योंकि शास्त्रों से ही विश्व की तीनों काल की घटनाओं को जाना जा सकता है।

वस्तुतः अपने शरीर में रहे हुए दोनों नेत्रों से तो आप इस लोक की सम्पूर्ण वस्तुओं को भी नहीं देख सकते। केवल कुछ दूर तक के दृश्यमान पदार्थों का ही अवलोकन कर सकते हैं और उसपर भी जरा सा कुछ अवरोध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे आया तो दृष्टि बिलकुल ही सीमित हो जाती है। किन्तु आध्यात्म-शास्त्ररूपी नेत्र के द्वारा आप त्रिलोक की स्थिति को जान सकते हैं, सम्पूर्ण गतियों की जानकारी कर सकते हैं तथा पुण्य, पाप, राग, द्वेष, मोह आदि विषय-विकारों के कुफलों को नष्ट करने के उपायों को पहचान सकते हैं। 'अध्यात्मसार' ग्रन्थ में कहा भी है—

"अध्यात्मशास्त्रमुत्तालमोहजालवनानलः।

आध्यात्म शास्त्र ही भयंकर मोह-जाल रूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान हैं।

इसका कारण यही है कि वे संसार-भ्रमण कराने वाले पाप की तथा संसार-मुक्त कराने वाले पुण्य की सही पहचान कराते हैं वे बताते हैं—

'पातयति इति पापम्।'

अर्थात् जो आत्मा को अधोगति में गिराता है वह पाप है तथा—

"पवित्रम् करोति आत्मानम् इति पुण्यम्।"

हमारी आत्मा, जो काम, क्रोध, मोह एवं लोभ आदि विकारों से मलीन हो गई है उसे शुद्ध और पवित्र बनाने वाला पुण्य है।

तो आत्मा को गिराने वाला पाप है और ऊँचा उठाने वाला पुण्य। जिस प्रकार एक ईंट के ऊपर दूसरी, दूसरी पर तीसरी, इस प्रकार क्रमशः रखते जाने पर दीवार खड़ी हो जाती है, इसीप्रकार पुण्य का संचय होते जाने पर आत्मा ऊँची उठती जाती है। आज आपको जो सांसारिक सुख प्राप्त हुए हैं वे पुण्य से प्राप्त हुए हैं, धन और संतान भी पुण्य से मिले हैं, आपकी श्रद्धा और श्रावकत्व तथा हमारा साधुत्व भी पुण्यों के योग से मिला है। अधिक क्या कहा जाय, जिन्हें तीर्थंकर पद प्राप्त हुआ, वह भी अनंतानंत पुण्यों के संयोग से ही संभव हो सका है।

तो बंधुओ, मेरे कहने का सार यही है कि अगर हम अपना भला चाहते हैं और अपनी आत्मा का कल्याण करने की अभिलाषा रखते हैं तो हमें केवल भौतिक या व्यावहारिक ग्रन्थों तक ही अपने ज्ञान को सीमित नहीं रखना चाहिये अपितु अध्यात्मशास्त्रों का पठन और मनन करना चाहिये। क्योंकि भौतिक-शास्त्र आपको केवल सांसारिक समस्याओं के सुलझाने में सहायक बन सकते हैं तथा इस लोक में सुख-पूर्वक जीवन बिताने के लिये साधन जुटा सकते हैं। किन्तु इस लोक से आगे वे किसी काम नहीं आएँगे। परलोक में काम आने वाले यानी परलोक को सुधारने वाले आध्यात्मिक शास्त्र ही होते हैं। आप कहेंगे, ऐसा किस प्रकार होता है? इसलिये कि शास्त्र मानव को सद्गुणों से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिचित कराके जीवन को सद्गुण-सम्पन्न बनाते हैं, पापों का कुपरिणाम समझा कर उनसे बचाते हुए शुभकर्मों के लिये प्रेरित करते हैं तथा व्रत, नियम, त्याग, तपस्या आदि के महत्व को आचरण में उतारने का आदेश देकर इस लोक और परलोक दोनों को सँवारते हैं। अर्थात् वे आत्मा को उत्तरोत्तर निर्मल बनाए हुए इस लोक के पश्चात् भी सद्गति की ओर ले जाते हैं।

पर यह होगा तभी, जबकि शास्त्रों का स्वाध्याय केवल तोतारटंत न हो। अनेक व्यक्ति प्रवचन सुनने के लिये स्थानक में जाकर बैठ जाने को ही अपने कर्तव्य की इति श्री मान लेते हैं, सोचते हैं कि हमने धर्म कर लिया या पुण्य कमा लिया। चाहे मन की चारों ओर उड़ानें जारी रहने पर वे धर्मोपदेश को समझ ही न पाए हों, उन्हें जीवनसात् करना तो दूर की बात है। और इसी प्रकार वे कुछ समय शास्त्रों का स्वाध्याय भी कर लेते हैं। पर वह केवल जबान से। शास्त्रों में क्या पढ़ा इसे न वे अन्तरात्मा से ग्रहण करते हैं और न ही उसे शरीर के द्वारा आचरण में उतारते हैं। ऐसे स्वाध्याय से कोई लाभ नहीं होता। वह उसी प्रकार निरर्थक चला जाता है जिस प्रकार चिकने घड़े पर डाला हुआ पानी।

मनुस्मृति में कहा गया है—

"पठनं मननविहीनं पचनविहीनेन तुल्यमशनेन।"

अर्थात् चिंतन और मनन रहित वाचक ऐसा ही है, जैसा कि पाचन क्रिया से रहित खाया हुआ भोजन।

वह भोजन जो पच नहीं पाता, शरीर को कोई लाभ नहीं पहुंचाता, इसी प्रकार जो स्वाध्याय मन को शुद्ध नहीं करता और आचरण में नहीं उतरता वह भी व्यर्थ ही चला जाता है। अतः हमें शास्त्रों का पठन करके उसे जीवन में उतारना है तथा जीवन को हारना नहीं, जीतना है।

जीत कैसी हो ?

इस संसार में 'जीत' शब्द सभी को प्रिय लगता है। कोई भी व्यक्ति हार शब्द को पसंद नहीं करता। पर हार और जीत शब्दों को किन अर्थों में लेना चाहिये, समझना इसी बात को है।

क्या व्यक्ति को अपने समकक्ष व्यापारी से अधिक धन कमाकर उसे नीचा दिखाने में जीत है ? क्या अपने से झगड़ पड़ने वाले व्यक्ति को अपने शारीरिक बल से परास्त कर देने में जीत है ? क्या दुनिया भर की पोथियों को पढ़कर आत्म-ज्ञान से शून्य रहते हुए भी लोगों पर कुतर्कों के द्वारा अपनी विद्वत्ता जमा देने में ही जीत है ? नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इतिहास के पढ़नेवाले जानते है कि हिटलर ने अपने समय में लाखों व्यक्तियों का संहार करके यूरोप की भूमि को रक्तरंजित कर दिया था और अपने आपको विजेता घोषित किया था। सिकंदर ने अनेक देशों को अपनी सैन्यशक्ति से जीतकर चारों ओर अपनी विजय का डंका बजवा दिया था। किन्तु लोग आज हिटलर के नाम पर थूकते हैं और सिकन्दर स्वयं ही मरते समय पश्चाताप करता हुआ इस लोक से रवाना हुआ था। आज उनकी जीत और विजय कोई महत्व नहीं रखती, क्योंकि उससे उन्होंने अपनी आत्मा को क्या लाभ पहुंचाया ? कुछ भी नहीं।

इसलिए हमारा धर्म और हमारे धर्म-शास्त्र युद्धों में निरपराध प्राणियों को मारकर उन पर जय पाने वालों को विजयी नहीं मानते। वे मानव के हृदय में चलने वाली सत् और असत् प्रवृत्ति की लड़ाई को लड़ाई मानते हैं। गीता में उसे दैवी और और आसुरी प्रवृत्ति के नाम से कहा गया है। तो अन्तर में चलने वाले इस झगड़े में जब सत् प्रवृत्ति जीत जाती है तो उसे जीत कहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से रावण, कंस, गोशालक, और वर्तमान युग के जिन्हा विजयी नहीं कहला सकते, क्योंकि वे सत् प्रवृत्ति से हार गए थे। विजयी कहलाये है— भगवान् महावीर, ईसामसीह, गौतम बुद्ध और महात्मा गाँधी जैसे आत्म-विजयी। जिन्होंने अपनी समस्त असत्प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर ली थी।

इस विषय को सरल ढंग से इसप्रकार भी समझा जा सकता है कि असत्य, अन्याय, अनीति, हिंसा, क्रूरता एवं निर्बलों के शोषण में जीत नहीं है। जीत छिपी है सत्य, अहिंसा, नीति, न्याय, दया, परोपकार तथा क्षमा आदि उत्तम भावनाओं में।

'सामवेद' में एक स्थान पर दिया गया है—

"दान द्वारा कृपणता पर विजय प्राप्त करो, शांति द्वारा क्रोध पर विजय प्राप्त करो। अश्रद्धा को श्रद्धा से जीतो और असत्य को सत्य से। यही सन्मार्ग है, यही स्वर्ग है।"

अभिप्राय यही है कि मानव के अन्तर्मन में ही दैवी और आसुरी युद्ध होता रहता है। क्रोध के सामने क्रोध करना आसुरी युद्ध है और क्रोध का क्षमा से मुकाबला करना दैवी युद्ध कहलाता है। इस प्रकार अशुभ विचारों को शुभ विचारों से जीतना असत् पर सत् का विजय पाना कहलाता है और जो ऐसी विजय प्राप्त कर लेता है वही सच्चा विजयी कहा जा सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा गया है—

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

अर्थात्—भयंकर युद्ध में हजार-हजार दुर्दान्त शत्रुओं को जीतने की अपेक्षा अपने-आपको जीत लेना ही सबसे बड़ी विजय है।

वस्तुतः ऐसी विजय ही आत्मा को संसार-भ्रमण से बचा सकती है। मानव-जीवन एक संग्राम है। स्वयं तीर्थंकरों ने भी इसी जीवन में कर्मों के साथ लड़कर विजय प्राप्त की थी। इस जन्म में अगर विषय-विकारों पर विजय प्राप्त न की गई तो फिर और कोई भी जीवन इस कार्य को सम्पन्न न कर सकेगा। 'आचारांग सूत्र' में कहा भी है—

जुद्धारियं खलु दुल्लहं।

विकारों से युद्ध करने के लिए फिर यह अवसर अर्थात् मानव-जन्म मिलना दुर्लभ है।

इसलिए मुमुक्षु को बाह्य प्रपंचों से ध्यान हटाकर अपने अन्दर की उलझनों को सुलझाना है तथा आन्तरिक शत्रुओं को ही जीतना है, जिससे आत्मा का लाभ होगा। बाहरी युद्धों से कुछ बनने वाला नहीं है सिवाय बिगड़ने के।

आचारांग सूत्र में ही बताया है—

इमेण चेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण बज्झओ।

जीव को कितनी सुन्दर प्रेरणा दी है कि—अपने अन्तर के विकारों से ही युद्ध कर। बाहर के युद्ध से तुझे क्या प्राप्त होगा?

तो बंधुओ, आप समझ गए होंगे कि जहाँ बाहरी युद्ध में जीतने पर भी आत्मा अवनति के गर्त में गिरती है वहाँ आंतरिक युद्ध में जीतने पर वह निरंतर ऊँची उठती जाती है। अतः हमें आत्मिक शत्रुओं से ही जीतना है, और उन्हें जीतने के उपाय सत्-शास्त्रों में खोजकर काम में लेना है। ऐसा करने पर ही हमारा इह लोक और परलोक सुधर सकेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२३ | सच्चा पंथ कौन सा ?

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने धर्मशास्त्रों के विषय में काफी विचार-विमर्श किया और जानकारी हासिल की कि सम्यक्ज्ञान और सम्यक्दर्शन के मार्ग दर्शक धर्मशास्त्र हैं। धर्म शास्त्र विभिन्न भाषाओं में लिखे गए हैं, पर उन भाषाओं पर ध्यान न देकर हमें इनसे यह जानना है कि आत्मा का कल्याण किसमें है ? और उस कल्याण के मार्ग पर चलने के लिये कौन सी बातें ग्रहण करनी हैं तथा कौनसी छोड़नी हैं ? इन सब बातों को समझकर अमल में लाना ही शास्त्रों के पढ़ने का सार है।

अगर धर्मशास्त्र सुनेंगे नहीं, सत्संग करेंगे नहीं तथा तत्त्व ज्ञान के रहस्य को काम में लेंगे नहीं तो आत्म-कल्याण कैसे होगा ? रास्ता ही जब जीव नहीं जानेगा तो चलेगा कैसे ? भटकने के लिये तो चौरासी लाख योनियाँ हैं और इनमें भटकता-भटकता जीव मनुष्य शरीर में आया है। इसमें आने के पश्चात् ही इसे समझ आई है कि यह जीवन बड़ी कठिनाई से मिला है। जीवन में कर्तव्य-अकर्तव्य क्या है ? प्रशंसनीय व निन्दनीय क्या है तथा यशकारक और अपयशकारक क्या हैं ? इन सब बातों की जानकारी मानव जीवन में ही होती है, क्योंकि इस जीवन में बुद्धि और विवेक मिलते हैं जो अन्य योनियों में नहीं मिल पाते। अपनी विशिष्ट बुद्धि और विवेक द्वारा जब वह सम्यक् ज्ञान हासिल करता है तो शारीरिक सुख एवं ऐश-आराम को असार समझकर उनसे उदासीन हो जाता है और मुक्ति के मार्ग पर बढ़ता है।

इस मार्ग पर बढ़ने में शास्त्र उसके सहायक बनते हैं। किन्तु जब व्यक्ति धर्मशास्त्रों के गूढ़ रहस्यों तक नहीं पहुंच पाते और विभिन्न शास्त्रों की शब्दावलियों में उलझकर निराशा से भर जाते हैं तो कहा जाता है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतयोविभिन्ना, स्मृतयोश्चभिन्नाः, ।
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम् ।
महाजनो येन गतः स पन्थाः ।।

हिन्दु धर्म में श्रुति-शास्त्र और स्मृति-शास्त्र अलग-अलग हैं। श्रुति शास्त्र आत्मा के विषय में विशद विवेचन करते हैं और स्मृति शास्त्र क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए इसे स्मरण रखने का आदेश देते है।

तो साहित्यकार का कथन है कि श्रुति-शास्त्र जिन्हें वैष्णव धर्मग्रन्थों की दृष्टि से उपनिषद् कहा जाता है, उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार मिलते हैं तथा स्मृतियों में भी यही बात है कि एक में जो बात पाई जाती हैं वह दूसरी में नहीं दिखाई देती। मनुस्मृति, दक्षस्मृति, कात्यायन स्मृति, आदि अष्टादश स्मृतियाँ मेरे देखने में भी आई हैं। तो कहा गया है कि श्रुति वचन भिन्न-भिन्न हैं। और स्मृति वचन भी भिन्न-भिन्न हैं। इसके अलावा मुनिजनों के वचनों को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता तो फिर धर्म को किस प्रकार समझा जाय ? ऐसा लगता है कि विभिन्न श्रुतियों, विभिन्न स्मृतियों और भिन्न-भिन्न महापुरुषों के विचार भी भिन्न-भिन्न होने के कारण धर्म का तत्व तो किसी गहन गुफा में जाकर छिप गया है; जिसे बाहर लाया नहीं जा सकता।

तो अब समस्या उठ खड़ी होती है कि जब धर्म के रहस्य को जाना नहीं जा सकता तो आखिर किया क्या जाय ? बिना किसी आधार के और बिना किसी सहायक के जीवन को किस प्रकार चलाया जाय ? तो उसका उत्तर देते हैं—'**महाजनो येन गतः स पन्था।**'

अर्थात् श्रुति-स्मृति एवं अन्य शास्त्रों के मत विभिन्न हैं तो रहने दो, हमें तो उस मार्ग से चलना चाहिए जिससे महापुरुष, ऋषि, महर्षि भक्त आदि गये हैं। इधर-उधर के पचड़े में न पड़कर सत्य, शील, तप आदि गुणों से जिन महापुरुषों ने आत्म-कल्याण किया है। हम भी उन्हीं गुणों को अपनाएँ।

हमारे यहाँ चौपाई पढ़ने का रिवाज है। चौपाई यानी चारपाई, चार पायों वाली चीज। दान, शील, तप और भाव में भी धर्म के चार पाये हैं और ऐसे धर्म कथानकों को जिनमें ये चारों चीजें होती हैं हम पढ़ते हैं आप सुनते भी हैं। पर सुनकर उसका निचोड़ जो आत्मा के लिए कल्याणकारी है, उसे ग्रहण करना चाहिए। पढ़ने और सुनने का लाभ तभी हासिल हो सकता है जबकि उसमें से सार तत्व ग्रहण किया जाय। प्रत्येक महापुरुष के जीवन में कुछ ऐसी अच्छाइयाँ होती हैं जिन्हें ग्रहण करके व्यक्ति स्वयं भी महान् बन सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राजा हरिश्चन्द्र की जीवनी सत्य-धर्म को प्रकाशित करती है। उन्होंने सत्य का पालन करने के लिये अपना राज्य-पाट छोड़ा, पत्नी से दासी वृत्ति कराई और स्वयं भी शूद्र के यहाँ काम करते रहे। सब संकटों को सहन किया किन्तु अपने सत्य का त्याग नहीं किया। किन्तु आखिर में विजय उन्हीं की हुई और सम्पूर्ण विश्व में उनकी ख्याति फैली। स्वयं देवताओं को भी उनके सत्यव्रत ने अपने चरणों पर झुका लियाँ। इसीलिए कहा है—

सत मत छोड़ो सांइयां, सत छोड़े पत जाय।
सत की बाँधी लक्ष्मी, फेर मिलेगी आय॥

यानी सत्य का त्याग मत करो। अगर इसे त्याग दिया तो इज्जत और प्रतिष्ठा भी चली जाएगी जो लाख प्रयत्न करने पर भी पुनः प्राप्त नहीं होगी और उसके विपरीत सत्य पर दृढ़ रहे तो उसके कारण गई हुई लक्ष्मी अवश्य ही लौटकर आ जाएगी। जिस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र सत्य पर दृढ़ रहे तो उनका गया हुआ विशाल राज्य पुनः मिल गया यानी लक्ष्मी को लौटकर आना ही पड़ा।

इसी प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तमराम की जीवनी से भी शिक्षा मिलती है कि व्यक्ति को अपने वचनों की प्राण देकर भी रक्षा करनी चाहिये। राम को वनवास करना पड़ा, वह भी कम नहीं, पूरे चौदह वर्षों के लिये। यद्यपि राम न चाहते तो वन में न भी जाते किन्तु कैकयी को दिए हुए अपने पिता के वचनों की रक्षा के लिये वे सहर्ष वन में गए और अपने उज्ज्वल कुल के गौरव की रक्षा की। तभी तो आज तक गाया जाता है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जायँ पर वचन न जाई॥

रामायण के द्वारा सतीत्व के पालन का भी एक महान् आदर्श हमारी बहिनों के सम्मुख उपस्थित होता है। रावण ने सीता का बलपूर्वक हरण किया किन्तु लाख प्रयत्न करने और समझाने पर भी वह अपने पातिव्रत्य से बाल भर भी नहीं डिगी। शीलव्रत का इस प्रकार अखंड पालन करने के कारण ही आज घर-घर में सीता सती की महिमा गाई जाती है और कहा जाता है—"सती न सीता सारखी···।'

राजा कर्ण को आज घर-घर में लोग उनके दान के कारण स्मरण करते हैं। प्रातःकाल के समय में अगर कोई झगड़ा-झंझट करता है या अप्रिय शब्द बोलता है तो लोग कहते हैं—"राजा कर्ण का वक्त है इस समय तो कम से कम धीरज रखो।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्ण सूर्य के वरदानित पुत्र थे। अतः उन्हें जन्म के साथ ही दैवी कवच एवं कुंडल प्राप्त हुए थे। वे स्वयं महान् वीर थे और अपने कवच-कुंडलों से अपराजेय बन गए थे। अतः जब महाभारत के इतिहास प्रसिद्ध युद्ध में जब वे हराये नहीं जा सके तो अर्जुन ने देवराज इन्द्र की शरण ली और उन्होंने ब्राह्मण के वेश में आकर कर्ण से उनके अद्भुत कवच और कुंडलों को दान के रूप में मांग लिया।

कर्ण याचक को निराश नहीं लौटाते थे, उन्होंने उसी क्षण शरीर से चमड़ी के समान जुड़ी हुई दोनों वस्तुओं को खींचकर ब्राह्मण के वेश में आए हुए इन्द्र को प्रदान कर दीं। शरीर लहूलुहान हो गया किन्तु उन्होंने परवाह नहीं की।

उनके दान की एक और दिल दहला देने वाली घटना है - जब वे मृत्यु शैय्या पर पड़े हुए थे, उनके दान की परीक्षा लेने के लिए पुनः याचक आ उपस्थित हुए और उनसे एक माशा सोना दान में मांगा।

कर्ण बोले—"भाई ! इस समय तो मेरे पास अब कुछ भी नहीं है तुम्हें किस प्रकार दूँ ?"

"आपके दांतों में सोना जो लगा हुआ है।" याचक ने सुझाव दिया।

"ओह ! मुझे इस बात का खयाल ही नहीं रहा। तुमने बड़ा उपकार किया है कि मेरे व्रत को भंग होने से बचा लिया। कृपा करके मेरे दांतों से सोना निकाल लो, मैं स्वयं नहीं दे सकता क्योंकि मेरे हाथ इस योग्य नहीं हैं।" कर्ण ने बड़े विनीत स्वर से आग्रह किया।

'पर तुम्हारे दांतों से सोना मैं निकालूँ तो यह मेरे परिश्रम से उपार्जित धन हो जाएगा। फिर वह तुम्हारा दिया दान कैसे कहलाएगा ?"

"सच कहते हो भाई ! शायद मृत्यु करीब होने के कारण मेरी मति मारी गई है। तुमने जो सत्य मुझे बताया है उसके लिए जन्म-जन्मान्तर तक मैं तुम्हारा ऋणी रहूंगा। अच्छा हुआ कि मेरे वचन में कलंक नहीं लगा। अब मैं तुम्हें स्वयं एक माशा सोना प्रदान करता हूं।"

यह कहते हुए महाप्रयाण के पथिक महादानी कर्ण अत्यन्त कठिनाई से घिसट-घिसट कर अपने शरीर को एक पत्थर के पास ले आए और शरीर में बची-खुची शक्ति के बल पर अपने मुँह को जोर से टक्कर पत्थर पर मारी। फलस्वरूप उनके दांत टूट गए और उन्होंने इशारे से याचक को दांतों से सोना लेने के लिये कह दिया।

इस प्रकार दानी कर्ण ने अंतिम क्षण तक अपने दान-व्रत का पालन किया तथा महाकवि कालिदास के कथन को अक्षरशः सत्य साबित किया कि—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थं क्रियैव ।'

सज्जनों की रीति ही यह है कि जब कोई उनसे कुछ मांगता है तो वे मुँह से कुछ न कहकर काम पूरा करके ही उत्तर दे डालते हैं।

तो सत्यवादिता के लिये राजा हरिश्चन्द्र, वचन-पालन के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम राम और दान देने के लिए जिस प्रकार कर्ण को संसार स्मरण करता है, उसी प्रकार शील का अखंड पालन करने वाले सेठ सुदर्शन का भी ज्वलंत उदाहरण सदा जगत के सामने रहेगा। अपने शीलव्रत का पालन करने के लिए उन्होंने सूली पर चढ़ जाना कबूल कर लिया तथा मरणांतक कष्ट को भी गले लगाने के लिये तैयार हो गए पर अपने विचारों से नहीं डिगे। परिणामस्वरूप सूली भी उनके लिए सिंहासन बन गई।

वास्तव में ही शीलवान पुरुष इस बात को भली भांति समझ लेते हैं कि—

शीलप्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बंधुभिः॥

- महाभारत

शील जीवन का अनमोल रत्न है। उसे जिस मनुष्य ने खो दिया उसका जीवन ही व्यर्थ है। ऐसा व्यक्ति चाहे जितना धनी अथवा भरे-पूरे घर का हो, उसका कोई मूल्य नहीं रहता।

तो आत्म बंधुओं! महापुरुषों के ये कुछ उदाहरण मैंने इसलिये दिये हैं कि अगर व्यक्ति श्रुति, स्मृति अथवा अन्य शास्त्रों के गूढ़ अर्थों की तह तक न पहुंच पाये और ऊपरी बातों की भिन्नता के कारण वह उलझन में पड़ जाए कि किस शास्त्र की बात मानें और किस की नहीं, तो जैसा कि प्रारम्भ के श्लोक में कहा गया है—

"महाजनो येन गतः स पन्थाः।"

व्यक्ति को उस मार्ग पर चलना चाहिये जिस पर महापुरुष चले हैं। अर्थात् महापुरुषों ने जिन गुणों को अपनाकर जगत में तो अमर ख्याति प्राप्त की ही है, अपनी आत्मा का भी कल्याण कर लिया, उन गुणों को अपनाना चाहिये। उसे समझना चाहिये कि धर्म सद्गुणों से भिन्न नहीं है। जैसा कि अभी बताया गया है—सत्य, वचन-पालन, दान तथा शीलादि गुण धर्म के ही विविध अंग हैं और जो व्यक्ति इन्हें अपना लेता है, उसने धर्म को अपनाया है इसमें रंच-मात्र भी सन्देह नहीं है।

आवश्यकता है मन को दृढ़ रखने की। मन अगर डाँवाडोल रहा और तनिक से संकट या भय से घबरा गया तो व्यक्ति कभी भी अपने किसी नियम या व्रत की रक्षा नहीं कर सकता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संत तुकारामजी मन को दृढ़ एवं स्थिर रखने के लिये भगवान से क्या प्रार्थना करते हैं ?—

आता देवा ऐसा करी उपकार—
देहा चा विसर पड़ो माझा ।
आशा, भय, लाज, चिंता, काम, क्रोध
तोड़ावा संबंध यांचा माझा ।
तुका म्हणे न को वर वधू देवा—
घेई माझी सेवा, भाव शुद्ध ॥

कहते हैं—"हे भगवन ! मुझ पर ऐसा उपकार करो कि मैं इस शरीर के सुख-दुःख से सर्वथा उदासीन हो जाऊँ । मेरी इस देह को कैसा भी कष्ट क्यों न उठाना पड़े कभी भी मैं विचलित न होऊँ ।

बालमुनि गजसुकुमाल के मस्तक पर धधकते हुए अंगारे रखे गये, मेतार्य मुनि और खंदक मुनि को भी मरणांतक कष्ट भोगने का अवसर आया । किन्तु उन्हें रंच-मात्र भी शरीर के प्रति ममत्व नहीं रहा था अतः वह कष्ट, कष्ट नहीं महसूस हुआ । ऐसा कैसे हो सका ? इसलिए कि उनका मन मजबूत था । मन की ऐसी ही मजबूती के लिये तुकाराम जी ईश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं । वे आगे कहते हैं—

"आपल्या आत्म्या बरोबर ह्या ज्या वस्तु अनंतकाला पासून लागत्या आहेत् आशा, भय, चांगल्या कामात लाज बाटणें, शारीरिक चिंता करणें विषय वासना, क्रोध, जे लागल्या आहेत् । हे देवा, ही जी माझी प्रार्थना आहे, तिच्याकड़े लक्षद्या वर पाहु नका । या कारणामुलेच मला अनंत वेला जन्मावे लागले आणि मरावे लागले म्हणून यांचा संबंध माझ्याशी तोडून टाका । शुद्ध भावेनेने आहे अशी तुकारामाची मागणी आहे ।"

बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में तुकाराम जी ने प्रभु से याचना की है—'हे देव ! आशा, भय, लाज, चिंता, काम, क्रोध आदि ये समस्त दोष जो अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए हैं तथा आत्मा को मलिन बनाए हुए हैं, इनसे मेरा सम्बन्ध तोड़ दो ! अपनी आज्ञानुसार दान, शील, तप तथा संसार से विरक्ति रखना, आदि-आदि सेवाएँ भले ही आप मुझसे ले लो पर शुभ भाव से मेरी जो प्रार्थना आपसे है, उसे सफल बनाओ । तुकाराम की यही माँग आप से है ।'

तो बंधुओ, आपके कथन का सारांश यही है कि मुक्ति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को अपने दुर्लभ जीवन का महत्व समझना चाहिये तथा अपने जीवन का कोई भी क्षण निरर्थक न जाए इसका ध्यान रखना चाहिये । उसे जहाँ से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और जैसे भी मिले सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये, चाहे वह संतों के सदुपदेशों से मिले या धर्मशास्त्रों से। ध्यान में रखने की बात यह है कि उसे अधिक तर्क-वितर्क और भिन्न-भिन्न मतामत में उलझकर अपने मार्ग को त्यागना या गुमराह नहीं होना चाहिये। अगर विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न-विभिन्न विचार उसे दिखाई देते हैं तो महापुरुषों के जीवनों को ही अपना मार्गदर्शक मानकर उन्हीं के अनुसार चलने का प्रयत्न करना चाहिये। अर्थात् उनके गुणों को अपनाते हुए निष्ठापूर्वक उनका पालन करने का निश्चय करना चाहिये।

महापुरुषों की जीवनियाँ हमारे समक्ष दर्पण का काम करती हैं। आप दर्पण देखते हैं और उसमें देखकर अपने चेहरे पर लगे हुए किसी निशान को या धब्बे को अविलम्ब मिटा लेते हैं।

इसीप्रकार महाजनों की, यानी महान् पुरुषों की, जीवनी-रूपी दर्पण को सामने रखकर भी आप अपने जीवन में रहे हुए दुर्गणों को हटा सकते हैं, अपने दोषों के धब्बों को मिटा सकते हैं। उनके चरित्र-रूपी आइने के द्वारा आप उनकी विशेषताओं की, उनके त्याग, तप और बलिदान की तथा वे जिस मार्ग पर चले थे, उसकी जानकारी कर सकते हैं तथा उनके चरण-चिन्हों पर चलकर अपनी आत्मा का उद्धार कर सकते हैं। वे हमारे समक्ष जो-जो आदर्श उपस्थित कर गये हैं तथा जिस मार्ग पर चले हैं, वही मार्ग हमारे लिये मुक्ति का मार्ग साबित हो सकता है। अतः उनका अनुकरण करना ही भव्य प्राणियों के लिये उचित एवं कल्याणकारी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२४ | पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषिजी

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज कविकुल-भूषण पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज साहब की पुण्य तिथि है। इस विशिष्ट प्रसंग पर आज मैं उन्हीं के विषय में संक्षिप्त रूप से कुछ कहना चाहता हूं।

उस महापुरुष ने अपनी दस वर्ष की अल्प-वय में ही भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली थी। साथ ही आपकी जन्मदायिनी माता नानुदेवी, बहन हीराबाई एवं ज्येष्ठ बन्धु श्री मोडमलजी ने भी दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार एक ही परिवार के चार सदस्यों ने एक साथ संयम-पथ पर अपने चरण रखे थे।

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् आपके बड़े भाई जो कुँवरऋषि जी के नाम से प्रसिद्ध हुए, वे एक दिन उपवास और एक दिन भोजन, इस प्रकार एकांतर तप करने में लग गए और त्रिलोकऋषि जी महाराज ज्ञान-ध्यान की प्राप्ति में संलग्न हुए।

आप विचरण करते हुए जब भोपाल पधारे तो इतने कट्टर थे कि स्थानक में बात करना भी निषिद्ध कर दिया। भोपाल क्षेत्र में मोड़ समाज जो कि सम्प्रदाय की दृष्टि से विशेष सम्प्रदाय माना जाता था उसे स्थानकवासी धर्म में प्रविष्ट करने के लिये पहले भी अनेक संतों ने जाकर प्रयत्न किया था, किन्तु आपके त्याग व तपस्या का ही उन पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था। अब तो मोड़ समाज में यद्यपि बहुत लोग अच्छी दशा में हैं और मोड़ों का स्थानक ही कहलाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काव्य साधना

श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज ने सत्रह शास्त्र कंठस्थ किये थे। शास्त्र-स्वाध्याय में उन्हें अपूर्व रुचि थी और वे प्रतिदिन करीब तीन घंटे तक स्वाध्याय-रत रहा करते थे। स्वाध्याय के बिना ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय नहीं होता जैसा कि 'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है—

'सज्झाएणं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेई।'

स्वाध्याय से ज्ञान को आच्छादन करने वाले कर्मों का क्षय होता है।

तो स्वाध्याय में प्रबल रुचि होने के कारण ही उनकी ज्ञानवृत्ति तीव्रता से बढ़ी और उनके हृदय में कवित्वशक्ति का भी आविर्भाव हुआ। परन्तु जब उन्होंने कविताएँ लिखनी चाहीं तो बुजुर्गों ने कहा—"अपने सम्प्रदाय में कविताएँ लिखना ठीक नहीं माना जाता। क्योंकि कविताओं में अतिशयोक्ति बहुत होती है, जिससे झूठ का दोष लगता है।"

किन्तु त्रिलोकऋषि जी म० ने इस निषेध से हिम्मत नहीं हारी और विनयपूर्वक उत्तर दिया—"मुझे पंखुड़ी का फूल बनाकर अतिशयोक्ति नहीं करनी है तथा शास्त्रविरोधी कविताएँ भी नहीं लिखनी हैं। पर जो वास्तविक स्थिति है, उसे कहने में जिस प्रकार हर्ज नहीं होता उसीप्रकार कविताओं में लिखने से क्या हर्ज है?"

इसप्रकार बुजुर्ग संतों की अनिच्छा के बावजूद भी उन्होंने चाहा कि कविता कला के द्वारा जैनधर्म का प्रसार किया जाय। वह इसलिए गंभीर और गूढ़भावों को भी कविताओं में गूँथ देने से उनमें मनोरंजकता आ जाती है और काव्य रुचिकर हो जाता है।

तो अपनी तीव्र भावना के कारण आपने कवित्व-कला का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। चौपाई, दोहरे, आनंद श्रावक का तोड़ा, मेतारज मुनि, अंगद मुनि एवं मृगद्रोही का चौढाला बनाया। एक वीररस प्रधान भगवान महावीर का चौरा लिखा। नवरसों से वीररस भी एक है। इसके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओं को अपनी वीरता से परास्त करना, यह भाव प्रदर्शित किया गया है।

अद्भुत कला-कृतियाँ

महाराज श्री का लिखना भी बड़ा आश्चर्यजनक था। वे इतने सूक्ष्म अक्षर लिख सकते थे कि एक ही पन्ने में आपने सम्पूर्ण दशवैकालिक सूत्र, भगवान महावीर की स्तुतिका एवं दो सौ छप्पन श्लोक लिखे हैं। एक पन्ने में करीब सात सौ पचास गाथाएँ लिखी हैं। अक्षर बिलकुल साफ-सुथरे और शुद्ध हैं। जिनकी आंखों की रोशनी ठीक है वे आज भी उन्हें भली-भांति पढ़ सकते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आपने ज्ञान कुंजर के नाम से एक अत्यन्त सुन्दर कलाकृति का निर्माण किया है। ज्ञान कुंजर यानी ज्ञान रूपी हाथी। आप सोचेंगे, कैसा है वह हाथी ? चित्र के रूप में नहीं वरन अक्षरों से बनाया गया है। अगर आप देखना चाहें तो "ज्ञान कुंजर दीपिका" में उसे देख और पढ़ भी सकते हैं।

ज्ञान-कुंजर में पाँच महाव्रतों की सीढ़ियाँ बनाई गई हैं। सूंढ़ हाथी का सबसे महत्वपूर्ण अंग है और सबसे आगे है अतः उसमें ज्ञान और धर्म को चलाने वाले चौबीसों तीर्थंकरों के नाम हैं। सबसे अंत में भगवान महावीर हैं।

सूंड के बाद कान है। कान में ग्यारह गणधर हैं—इन्द्र, अग्नि, वायुभूति आदि। भगवान महावीर के मुखारविंद से निकली हुई वाणी सुनने वाले सबसे पहले श्रोता गणधर थे अतः उन्हें कानों में रखा गया है।

ज्ञानरूपी हाथी के चार पैर हैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपश्चर्या। इस की आँख है—केवल ज्ञान। हाथी के दो दाँत हैं—धीरज और धर्म। जरा विचार कीजिये कि उनकी कल्पनाशक्ति कितनी जबर्दस्त और सही थी ? ठीक तरह से समझाने के लिए उन्होंने रंग-परिवर्तन भी किया है। ज्ञान-रूप हाथी का खाद्य क्षमा आदि को बताया है तीर्थंकर एवं गणधर मोक्ष में गए तो उसका आधार भी कुछ होना चाहिए। अतः आधार आचारांग, सूयगडांग आदि शास्त्रों को बताया गया है। मिथ्यात्वरूपी मक्षिका को उड़ाने के लिये पूँछ है। महावत का आकार बताया है, जिसके हृदय में दया, दान और सत्य हो वही ज्ञान-कुंजर को चला सकता है। महावत के पास अंकुश भी होना चाहिए अतः उपदेश-रूपी अंकुश दिया गया है। अम्बारी के चार खंबे, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप हैं। महावत की छत्री में लिखा है –'देव अगोषी ...।' देव में गुरु और दया से धर्माचरण करना। अंबारी की ध्वजा में लिखा गया है—

'जिन्होंने क्रूर कर्म हटा दिया है, उनकी मैं वंदना करता हूं।'

इन सबके अलावा चित्र में दो तोते हैं, जिनका मुँह एक है और तीन मछलियों की आकृतियाँ हैं, जिनका मुँह भी एक है। इनके द्वारा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का भाव बताया गया है। उसी चित्र में एक चवन्नी के जितनी जगह में पैंसठ हाथी भी बनाए हैं, जिनके चारों पैर, सूंढ़, पीठ, पूँछ आदि सभी अंग हैं। चित्र के नीचे उन्होंने एक दोहा लिखा है—

ज्ञानी समझे ज्ञान में, अनसमझा चित्राम्।....

यानी ज्ञानी पुरुष तो ज्ञान से इस चित्र के रहस्य को समझ लेगा किन्तु अज्ञानी इसे केवल सुन्दर चित्र मानेगा। 'ज्ञान कुंजर दीपिका' में चित्र के विषय में विस्तृत विवेचन दिया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज की दूसरी कृति हैं 'शीलरथ।' शीलरूपी रथ में उन्होंने लिखा है—प्रतिक्रमण में ब्रह्मचर्य का पालन करना है। जो १८००० गाथा हैं, उनकी पूरी विभामणी करके उन्होंने बताया है। इसमें एक ही गाथा से १८००० गाथाएँ निकलती हैं और वह गाथा यहाँ दी हुई है।

आज के समय में तो बहुत से उपयुक्त साधन होते हैं लेकिन यह लिखा गया है सं० १९३८ में। अर्थात् नब्बे साल पुराना है। आज जो सामग्री मिलती है वह नब्बे साल पहले उपलब्ध नहीं थी। फिर भी ऐसा चित्र बनाना साधारण बात नहीं है।

महाराज श्री की तीसरी कृति है—'चित्रालंकार काव्य।' इसे देखकर तो हमारी बहनें कहेंगी—'कितना सुन्दर कसीदा निकाला गया है। इसे सीधी रीति से पढ़ा जाय तो कुल छत्तीस दोहे हैं। प्रथम दोहा मंगलकारक है। उसके पश्चात् चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति में चौबीस दोहे हैं। तत्पश्चात् आचार्य, साधु आदि पाँच पदों के पांच दोहे, फिर ज्ञान, दर्शन, चारित्र इस रत्नत्रय पर तीन दोहे और सबसे अन्त में तीन दोहे हैं—देव, ऋषि और धन पर। इस प्रकार छत्तीस दोहे सीधे पढ़ने पर हैं।

चित्र में अगर गोमूत्रिका बंध से पढ़ना प्रारम्भ करें तो नीले में नमोहिरि-कारयं और लाल अक्षरों में मंगलाचरण दिया है। चित्रालंकार बनाते समय उन्होंने उसके साथ ही मंगलाचरण बनने के शब्दों की रचना दोहे में उस विशेष स्थान पर की है। अन्त में उन्होंने दोहे में चालूष्ण नमोकार मंत्र दिया है। बची हुई जगह पर पीले रंग में उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्ययन की पहली गाथा सिद्ध और साधु के बारे में लिखी गई है। सिद्ध अरिहंत हैं और आचार्य साधु हैं। बीच में जो चोकड़ी है उसमें लाल रंग की जो जगह है वहाँ 'तुभ्यं-नमस्त्रिभुवनातिहराय नाथ' यह श्लोक जो हम प्रतिदिन बोला करते हैं, बताया गया है। जो सीधे दोहे में अक्षर गाथा है। बीच में जो छोटी सी जगह है वहाँ 'ओम नमो सिद्धम्' यह लिखकर काव्य समाप्त कर दिया गया है। चित्र में छतरी के आकार का छत्रबंध भी बना हुआ है।

सौ वर्ष से ऊपर हो गए हैं इसे बनाए हुए। महाराज श्री ने कहा है—केवली भगवान की वाणी निश्चित रूप से प्रमाणस्वरूप है और यह काव्य ऋषिपंचमी-संवत्सरी को बनाया है अन्त में त्रिलोक ऋषि जी महाराज कहते हैं—जो चित्रालंकार काव्य मैंने बनाया है; अपनी शक्ति से नहीं। अपितु गुरु म० की कृपा से बना है। छंद भी बनाया, परिस्थिति भी बताई और गुरु महाराज का स्मरण भी किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक अद्भुत काव्य उन्होंने और भी लिखा है जिसे पढ़ने का तरीका बड़ा मनोरंजक है। यह इस प्रकार है—पहले 'डब्ल्यू' बाद में 'एम' फिर 'डब्ल्यू' और फिर 'एम' इसी प्रकार पढने पर कविता पढ़ी जा सकती है। यह उनके चातुर्य का प्रमाण है।

कवित्व और प्रेरणा

पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषि जी म० ने प्रवचनों के द्वारा तो धर्म-जागरण किया ही, साथ ही अपनी कवित्व-शक्ति से भी लोगों को पुरुषार्थ करने की प्रबल प्रेरणा दी। उदाहरण स्वरूप उनका एक पद्य आपके सामने रखता हूँ—

उद्यम धर्म सदा सुखदायक,
उद्यमथी सब दुख मिटे है।
उद्यम ज्ञान ध्यान तप संयम,
उद्यम थी कर्म मैल छुटे है।
उद्यम थी ऋद्धि सिद्धि मिले सब,
उद्यम श्रेष्ठ दरिद्र घटे है।
'तिलोक' कहत है केवल दंसण,
उद्यम थी शिव मेल पटे है।

महाराज श्री ने मनुष्यों को प्रेरणा देते हुए कहा है—"भव्य पुरुषो! सदा उद्यम करते रहो। उद्यम से ही तुम्हें इहलौकिक एवं पारलौकिक समस्त सुखों की प्राप्ति होगी और उद्यम से ही सम्पूर्ण दुखों का नाश होगा।

क्योंकि उद्यम करने से ही ज्ञान में निरंतर वृद्धि होती है, ध्यान एवं चिंतन करने से आत्मिकशक्ति बढ़ती है तथा तपस्या करने का अभ्यास होता है। तप करना सरल नहीं है। हमारे प्राचीन ऋषि मुनि महीनों का तप करते थे पर वह भी एकाएक ही नहीं किया जा सकता। उसके लिए बड़े अभ्यास और पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। जो साधक सम्पूर्ण अन्तःकरण से इस ओर प्रवृत्त होता है तथा उद्यम करता है वही घोर तप का आराधन कर सकता है। इसीप्रकार अथक उद्यम करनेवाला व्यक्ति संयम का भी दृढ़ता से पालन करने में समर्थ बनता है।

संयम का पालन करना लोहे के चने चबाना है। साधारण और उद्यम रहित व्यक्ति कभी भी संयम-मार्ग पर दृढ़ कदमों से नहीं चल सकता। क्योंकि संयम किसी एक इच्छा को वश में कर लेने से ही नहीं हो जाता। अपितु इसके लिये 'स्थानांग सूत्र' में बताया गया हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चउव्विहे संजमे—मणसंजमे, वइसंजमे,
काय संजमे, उवगरण संजमे ।

अर्थात् संयम के चार रूप हैं—मन का संयम, वचन का संयम, शरीर का संयम और उपधि सामग्री का संयम । इन चारों प्रकारों का संयम ही पूर्ण संयम कहलाता है ।

तो उद्यम के अभाव में इन चारों प्रकार के जबर्दस्त संयमों का पालन व्यक्ति कर भी कैसे सकता है ? इसीलिये कविश्री ने उद्यम पर अत्यधिक बल दिया है ।

आपने आगे कहा है केवल उद्यम ही एक ऐसा साधन है, जिसकी सहायता से इस लोक में दरिद्रता मिटाकर अपार ऋद्धि को प्राप्त किया जा सकता है तथा अनेक प्रकार की सिद्धियाँ और लब्धियाँ हासिल की जा सकती हैं । इतना ही नहीं, प्रबल उद्यम या पुरुषार्थ से ही जीव केवल दर्शन की प्राप्ति करके शिवगति यानी मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है ।

इसप्रकार अपने एक पद्य में ही महाराजश्री ने पुरुषार्थ के असीम महत्व को बताकर 'गागर में सागर' भर देने वाली कहावत चरितार्थ की है । आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसी एक विषय को ही आपने अपने कवित्व में नहीं लिया वरन धर्म की वृद्धि करने वाले सभी भावों को आपने अपनी कविताओं में गूँथ दिया है ।

संसार को असार एवं चंचल मानकर आत्मा को सन्मार्ग पर ले जाना चाहिये इस भाव को भी आपने अपने एक पद्य में बड़ी कुशलता से दर्शाया है—

इन्द्र धनुष्य ध्वजा सम चंचल,
अंबु की लहर प्रपोट विचारो ।
कहत 'तिलोक' वो रीति खलक की,
धार सुपंथ के आतम तारो ॥

यानी यह संसार स्वप्न के समान क्षणिक है । जिस प्रकार इन्द्र धनुष अल्प-काल के लिये दिखाई देता है और लुप्त हो जाता है, जल में उठने वाली लहर किनारे तक पहुंचते ही मिट जाती है, उसी प्रकार संसार की वस्तुएँ भी थोड़े समय में नष्ट हो जाती हैं अतः भवि जीवो ! सन्मार्ग को ग्रहण करके अपनी आत्मा का कल्याण करो । आशा यही है कि इस संसार के पदार्थों में आसक्ति रखना और सांसारिक संबंधियों में मोह रखना वृथा है, लाभ इस जीवन का तभी हासिल हो सकता है जबकि इनसे उदासीन रहकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति संयममार्ग को अपनाते हुए अपनी आत्मा को शुद्ध बनाए तथा निज-स्वरूप में ले आए। वह स्थिति आने पर ही आत्मा-परमात्मा कहलाने लगती है।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि श्री त्रिलोकऋषि जी म० ने अनवरत साहित्य साधना की तथा अपनी वक्तृत्व-शक्ति से, लेखन-शक्ति से और कवित्व-शक्ति से, इस प्रकार सभी संभव तरीकों से अज्ञानी प्राणियों को बोध देने का प्रयत्न किया था। विरले व्यक्तियों में ही इसप्रकार की विभिन्न शक्तियाँ पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होती हैं, जो कि अपने-अपने तरीके से जनता पर समान प्रभाव डालती हैं। आपके रचित सवैयों की तो मालवा, मेवाड़, मारवाड़, पंजाब, काठियावाड़ आदि अनेक प्रांतों में अभूतपूर्व प्रसिद्धि हुई और जन-जन के मुँह पर वे रहे और आज भी रह रहे हैं। सारांश यही है कि आपका जीवन धर्मोपदेश, लेखन कार्य, कवित्व रचना एवं स्वाध्याय में ही व्यतीत हुआ।

धर्मप्रसार

आपने निरंतर भ्रमण करते हुए धर्म का प्रचार व प्रसार किया। वह समय सम्प्रदायों की कट्टरता के लिये बड़ा प्रसिद्ध था। किन्तु आप मालवा, मेवाड़, मारवाड़ जहाँ भी गए, सभी सम्प्रदाय के संतों से अभिन्नतापूर्वक मिले और उसी के अनुरूप व्यवहार करते रहे। परिणामस्वरूप जब आपका स्वर्गवास हुआ, सभी संप्रदाय के संतों ने एक स्वर से कहा—"आज हमारे धर्म का एक सूर्य अस्त हो गया।"

अपने अंतिम चार वर्ष आपने दक्षिण में धर्म-प्रचार करने में बिताए थे। वहाँ भी आपके पधारने से पूर्व दो सम्प्रदायों का बड़ा जोर और मतभेद था, किन्तु आपकी कृपा से वहाँ जैनधर्म की जागृति हुई। तथा आपके स्मरणार्थ त्रिलोकऋषि छात्रावास तथा ज्ञानालय आदि का निर्माण हुआ।

आपके पट्टधर शिष्य गुरुदेव श्री रत्नऋषि जी म० थे। उन्होंने भी जैनधर्म के प्रसार का बीड़ा उठाया था तथा अपना जीवन इसी सत्कार्य में लगा दिया था।

इस प्रकार बहुत संक्षेप में मैं आपको पूज्यश्री त्रिलोकऋषि जी म० के विषय में बता सका हूं क्योंकि उनकी सम्पूर्ण विशेषताएँ जबान से कहना संभव ही नहीं है। वे एक महापुरुष थे और जो महापुरुष होते हैं वे ज्ञान को अपने माहात्म्य से ग्रहण करके उसे जीवन में उतारते है तथा उसके प्रकाश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में औरों का मार्ग दर्शन करते हैं। परिणाम स्वरूप वे सदा के लिये अमर हो जाते हैं तथा अज्ञानी प्राणी युग-युग तक उनका स्मरण करते हुए उनके जीवन से शिक्षा लेने का प्रयत्न करते हैं।

आपको भी उनके जीवन से शिक्षा और प्रेरणा लेनी है तथा उनके चरण चिन्हों पर चलकर अपने जीवन को सार्थक बनाने का प्रयत्न करना है। तनिक खेद की बात है कि आप धन कमाने में तो उत्तरोत्तर कुशल बनते जा रहे हैं किन्तु धर्म कमाने में ढीले, पर मैं आशा करता हूं कि उस ढिलाई को आप पुनः दृढ़ता में बदलने का प्रयत्न करेंगे और ऐसा करने पर ही हमारे द्वारा पूज्य पाद श्री त्रिलोक ऋषि जी की पुण्यतिथि मनाना सार्थक हो सकेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२५ कर्म लुटेरे !

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

पूर्व प्रवचनों में हमने सम्यक्ज्ञान और सम्यक्दर्शन के विषय में विचार किया। आज चारित्र के विषय में वर्णन करने की भावना है। जो व्यक्ति जिज्ञासु होते हैं वे प्रत्येक विषय पर चिंतन-मनन करते रहते हैं और चिंतन जितना गहरा होता जाता है उतना ही वह आध्यात्मिक विषयों को स्पष्ट करता है। धर्म ग्रन्थों और धर्म-शास्त्रों में हमें धर्म के मूल सिद्धांत और उनका संक्षिप्त विवेचन प्राप्त होता है किन्तु उन्हें भली-भांति समझाने के लिये हमारे आचार्यों ने प्रयत्न किया है और उनके पश्चात् कविजन विषयों को और भी स्पष्ट करते रहे हैं। ऐसे ही एक कवि की की कविता जो भजन के रूप में लिखी गई है, आज आपके सामने रखूँगा। कवि हैं पूज्य श्री अनिलऋषि जी महाराज। आप शास्त्रविशारद कहलाते थे और बड़े विद्वान थे। आपकी अनेक प्रासादिक कविताएँ है जिनमें आध्यात्मिक विषयों का बड़े सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है। आज उनकी जिस कविता को मैं आपके सामने रख रहा हूँ, इसमें जिज्ञासु व्यक्ति अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करता है कि मैं किस प्रकार इस स्थिति से छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त कर सकता हूँ ? कविता इस प्रकार है—

प्रभु मोक्ष नगर कैसे जाना ? कर्मों से पड़ा है पाना।
नाना स्वरूप बनवाया, भव मंडप में नचवाया।
ऐसे दोस्त ..... कर्मों से पड़ा है पाना—।

तो, जिज्ञासु भक्त भगवान से प्रश्न कर रहा है—हे प्रभो ! मैं इस संसार के बंधनों से छुटकारा पाकर मोक्ष नगर में जाना चाहता हूँ पर जाऊँ कैसे ? क्योंकि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ये जबर्दस्त कर्म बुरी तरह से मेरे पीछे पड़े हुए हैं और भिन्न-भिन्न योनियों में नाना-स्वरूप दिखाते हुए भव-भव रूपी मंडपों में नचा रहे हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्याय में भी कर्मों के करिश्मे के विषय में कहा गया है -

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल बुक्कसो।
तओ कीड पयंगो य, तओ कुंथु पिवीलिया॥

अर्थात्—अपने कर्मों के अनुसार जीव कभी क्षत्रिय, कभी चाण्डाल, कभी वर्ण शंकर और कभी-कभी कीट, पतिंगा, कुंथुआ और चींटी भी हो जाता है।

यही बात कवि कह रहे हैं कि इन कर्मों के चक्कर में पड़कर मैंने कभी तो क्षत्रिय बनकर उच्च जाति में जन्म लिया और कभी चाण्डाल बनकर नीच जाति में पैदा हुआ। पर इतने से भी कर्मों को संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने मुझे वर्णशंकर की स्थिति में पटक दिया और मेरी प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया।

उसके पश्चात् भी कीड़ा, पतिंगा, कुंथुआ चींटी और उससे भी अधिक सूक्ष्म शरीरों वाला प्राणी बनाकर असह्य दुःख सहने के लिये बाध्य किया। इस प्रकार नाना-स्वरूपों यानी नाना योनियों में पैदा करके इन कर्मों ने मुझे नचाया है। अतः प्रभो! आप ही बताएँ कि इनसे बचकर मैं किस प्रकार मोक्ष में जाऊँ?

आगे कहा है—

मुझे पुद्गल ने ललचाया अपना स्वरूप बिसराया।
अब आया बहुत पछताना, कर्मों से पड़ा है पाना॥

कवि का कथन है कि—"अज्ञानावस्था के कारण मेरा मन पुद्गलों में आसक्त बना रहा और मैं सांसारिक भोगोपभोगों उलझकर आत्मा के मान को भूल गया। पुद्गलों को ललचाने वाले ये पदार्थ इतने मनमोहक हैं कि इनके आकर्षणों से मन बच नहीं सका।

राजा-महाराजा शेर का शिकार करने के लिये जाते हैं तो उसके लिये पूरा इन्तजाम करते हैं। एक बाड़ा बनाया जाता है और उसमें बकरी या भैंसा बाँध देते हैं। शेर बँधे हुए जानवर को खाने के लिये ज्योंही बाड़े के अन्दर जाता है, उसका दरवाजा बंद हो जाता है और उसी समय वह शिकारियों के द्वारा गोली से छलनीकर दिया जाता है। इस प्रकार शेर जैसा शक्तिशाली, और खूंखार प्राणी भी खाने के लोभ में पड़कर अपनी जान गँवा देता है।

ठीक यही दशा मेरी भी हुई है। इस संसार रूपी बाड़े में भोगोपभोगों के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ मन को ललचाने के लिये चारों ओर बिखरे पड़े हैं। जीवात्मा ज्योंही इन्हें भोगने में मशगूल होता है त्योंही कर्म घेरा डालकर उसे कस लेते हैं तथा जन्मांतर तक कष्ट पहुँचाते रहते हैं। मुझे भी झूठा सुख प्रदान करने वाले संसार के इन पदार्थों ने भ्रम में डाल दिया और मैं पुद्गलों के ललचाने से इन भोगों में लिप्त होकर कर्म बन्धनों से जकड़ गया हूँ।

पर, हे प्रभो ! आज मुझे बड़ा पश्चाताप हो रहा है और मैं सोच रहा हूँ कि महापुरुष धन्य हैं जो सांसारिक पदार्थों से प्राप्त होने वाले क्षणिक सुखों के प्रलोभन में नहीं फंसे और अपनी आत्मा को इनसे बचाकर अपने कर्मों का नाश कर संसार मुक्त हो गए। आप भी ऐसे महा-मानव, संत-महात्मा हैं जो संसारी चीजों को आत्म-घातक मानकर उन्हें ठुकरा देते हैं। वे समझते हैं कि अगर हम पुद्गलों के चक्कर में फँस गए तो अपने आत्म-स्वरूप से दूर हो जाएँगे। वे यह भी जानते हैं कि दो विरोधी कार्य कभी एक साथ नहीं हो सकते। एक व्यक्ति एक ही बार में हँसना और मुँह चढ़ाना, दोनों नहीं कर सकता, इसी प्रकार जो व्यक्ति पुद्गलों में आसक्त हो, वह उनसे विरक्त नहीं हो सकता। निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्ग दोनों अलग-अलग और परस्पर विरोधी है। इसलिये इन दोनों पर एक साथ नहीं चला जा सकता। जिसके हृदय में भोगोपभोगों के प्रति आसक्ति है वह वैराग्यावस्था को कैसे पा सकता है ? ग्रहण करना और छोड़ना दोनों साथ चल भी कैसे सकते हैं।

तो यह मैं आज समझ रहा हूँ, किन्तु अज्ञानावस्था में रहकर जो पाप-कर्म मैंने उपार्जित कर लिये हैं और वे मुझे नाना-योनियों में भटकाकर नचा रहे हैं इन्हें मैं किस प्रकार नष्ट करूँ और किस मार्ग पर चलकर शिवपुर पहुँचूं !"

संत तुकाराम जी ने भी कहा है—

"आमिषाच्या आशे, गल गिली मासा,
फाटोनिया घसा, मरण पाये।
मरणाच्या वेली, करी तल मल,
आठवी कपाल, तये वेली॥

मांस का टुकड़ा या अनाज खाने के लोभ में मासा यानी मछली को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़ते हैं। वह किस प्रकार मरती है यह आप में से अधिकांश व्यक्ति जानते होंगे। क्योंकि प्रायः नदी या तालाब के किनारों पर मच्छी मार मछली पकड़ते हुए दिखाई देते हैं। आप लोग कुए में पड़ी हुई वस्तु को गल-आंकड़े में फंसाकर बाहर निकालते हैं। वैसा ही एक तीखा आंकड़ा मछली पकड़ने वाला प्रत्येक व्यक्ति रखता है और उसमें आटा या मांस का टुकड़ा फंसा देता है। मछली उस वस्तु को खाने के लोभ में पड़कर निगल लेती है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और वह काँटा उसके गले में फंस जाता है। मछलीमार कांटे से बंधी हुई डोरी को ऊपर खींच लेता है और मुड़े हुए कांटे से मछली का गला फट जाता है और वह मर जाती है।

मछली के समान ही अज्ञानी व्यक्तियों की दशा होती है। वे इन्द्रिय-सुखों के लालच में आकर उन्हें भोगते हैं किन्तु परिणाम यह होता है कि कर्म उन्हें पकड़ लेते हैं और अनंतकाल तक सताते हैं।

हिन्दी भाषा के एक कवि ने भी कहा है—

नित भटकता मैं फिरा, संसार में सुख ना मिला।
बस, जिधर दौड़ा उधर से, सुख के बदले दुख मिला,
अब तो गोदी में अपनी बिठा लो मुझे,
स्वामी! चरणों का दास बना लो मुझे,
सच्चा मुक्ति का मार्ग दिखा दो मुझे॥

यहां भी एक जिज्ञासु कर्म-जनित दुखों से पीड़ित होकर भगवान से प्रार्थना कर रहा है कि में सुख की खोज में इस संसार में सदा भटकता रहा। किन्तु कहीं भी सच्चा सुख हासिल नहीं हुआ। सुख के बदले उलटा दुख ही मुझे मिला है।

बंधुओ, आप सोचेंगे कि देवगति तो बड़ी अच्छी है क्योंकि स्वर्ग पाने के सभी इच्छुक होते हैं। वहाँ कष्ट है? पर आपको जानना चाहिए कि यद्यपि कुछ काल तक देवता सुखोपभोग करते हैं। पर साथ ही अन्य देवताओं के ऐश्वर्य से जलते हैं और आपस में झगड़ते भी हैं।

इसके अलावा जब उनका मृत्युकाल समीप आता है तो उन्हें घोर दुःख होता है और पश्चाताप भी। दुख इसलिये होता है कि अवधिज्ञान के कारण वे जानते हैं कि यहाँ से कहाँ जाएँगे। उन्हें माता के गर्भ में रहना पड़ेगा, देवलोक में दुर्गन्धि नहीं है किन्तु गर्भावस्था में नौ महीने तक वहाँ की गन्दगी को सहन करना होगा तथा जन्म के समय अनन्त वेदना और उसीप्रकार फिर मरण के समय भी अनन्त दुख भोगना पड़ेगा। यद्यपि सम्यक्दृष्टि पुरुष दुःख को दुःख नहीं मानते, फिर भी कष्ट तो होता ही है। तीर्थंकर पद प्राप्त करने वाली आत्माओं को भी नर्क की अपार क्षेत्र वेदना भोगनी पड़ी थी। कहने का तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वी जहाँ रोते-झींकते दुखों को सहन करता है वहाँ सम्यक्त्वी कर्मों को कर्ज मानकर उन्हें शांति से चुकाता है किन्तु वेदना तो अवश्य होती है।

तो मैं देवताओं के विषय में बता रहा था कि जब उनका मृत्युकाल समीप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आता है, तो वे भविष्य में होने वाले दुख में दुखी होते हैं। साथ ही पश्चाताप भी करते हैं कि हमने किन-किन जन्मों में क्या-क्या पाप किये थे और अब उनका क्या-क्या फल भोगना पड़ेगा। ध्यान में रखने की बात तो यह है कि वे पश्चाताप करते हुए भी वहाँ रहकर उत्तम करनी नहीं कर सकते, जो कि मानव-भव में की जा सकती है।

तो कवि का कहना यही है कि मैं सुख की खोज में अनन्तकाल से भटक रहा हूं पर वह मुझे नहीं मिला उलटा दुख ही प्राप्त होता रहा है। देवगति में भी जहाँ पंचेन्द्रियों का ऐश-आराम है, सुख नहीं माना जा सकता। क्योंकि अंत में जहां दुख है वहाँ सच्चा सुख नहीं होता। सच्चा सुख तो वही कहलाता है जो मिलने के पश्चात फिर कभी जाता नहीं। अतः हे भगवन ! अब मुझे आप अपने में मिलालो। इस संसार में भटकते-भटकते मैं बहुत परेशान हो गया हूं और अब आपके चरणों की शरण लेना चाहता हूं। आप मुझे मुक्ति का सही मार्ग बताओं और इस संसार-चक्र से छुड़ाओ।

हम इस संसार में देखते हैं कि मछली आमिष की लालसा में कांटा निगल जाती है और फिर मरते समय तिलमिलाते हुए भगवान की याद करती है, उसी प्रकार सांसारिक मानव इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए नाना प्रकार के पाप करते हैं पर जब उन्हें भोगने का वक्त आता है तो रोते हैं, पश्चाताप करते हैं और राम-राम या अर्हत-अर्हत कहते हुए भगवान को याद करते हैं। पर उस समय फिर क्या हो सकता है ? जब तक युवावस्था रहती है और शरीर शक्ति-सम्पन्न होता है, तब तक तो वे त्याग-तपस्या, व्रत, नियम कुछ भी ग्रहण नहीं करते, अपना थोड़ा सा समय भी धर्माराधन में व्यय नहीं करते। किन्तु जब वृद्धावस्था आ जाती है, शरीर में रोग अपना अड्डा जमा लेते हैं और शक्ति काफूर हो जाती हैं तब भगवान को याद करते हैं तथा कृत-पापों के लिए पश्चाताप करते हैं। पर उससे फिर क्या बन सकता है ? केवल वही कहावत चरितार्थ होती है—"फिर पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गइ खेत।"

अब मैं अपनी पूर्व कविता पर आता हूं। जिसमें आगे कहा गया है—

मेरा आतम धन सब लूटा, जब से शिव मारग छूटा।
मैं ऐसा जुलम नहीं जाना, कर्मों से पड़ा है पाना।

कवि का कहना है—इन कर्मों ने मेरा समस्त आत्म-धन लूट लिया है। बड़ी कठिनाई से थोड़ा सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूपी धन आत्मा ने कमाया था किन्तु मेरी अज्ञानता के कारण कर्मों का दाव लग गया और उन्होंने डाका डालकर उसे लूट लिया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञानदशा क्या है ? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि यद्यपि ज्ञान प्राप्त किया, किन्तु उसके लिए गर्व का भाव आ गया तो प्राप्त ज्ञान भी अपना शुभ-फल प्रदान नहीं कर सकता। कोई ज्ञानी व्यक्ति स्वाध्याय करता है, भगवान की भक्ति और प्रार्थना करता है किन्तु घर में अथवा समाज में औरों के वह सब न करने पर अपनी प्रशंसा तथा दूसरों की निन्दा करता है तो उसका अहम् उसके ज्ञान और भक्ति के फल को मिट्टी में मिला देता है। और परिणाम यह होता है कि वह कितनी साधना तथा तपस्या क्यों न करे अपने अज्ञान के कारण कर्मों की निर्जरा नहीं कर पाता।

इसीलिए भगवान ने कहा है—

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाइं वास कोड़ीहि।
तं नाणी तिहिगुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेण॥

जिन कर्मों को क्षय करने में अज्ञानी करोड़ों वर्ष व्यतीत कर देता है, उन्हीं कर्मों को ज्ञानी आत्मा क्षण मात्र में नष्ट कर देती हैं।

वस्तुतः गर्व, मिथ्यात्व, ईर्ष्या, निन्दा आदि समस्त दोष अज्ञान के कारण ही जन्म लेते हैं। और इसीलिये अज्ञानी वर्षों तप करके भी अपने कर्मों को नहीं खपा पाता किन्तु ज्ञानी और विवेकी पुरुष जो दोषों से बचा रहता है अल्प-समय में ही अपने अनेकानेक कर्मों का क्षय कर लेता है। कर्मों का क्षय कर लेता है। कर्मों का भुगतान कभी बाँटा भी नहीं जा सकता है। जो बाँधता है वही भोगता भी है। इसी दृष्टि से किसी कवि ने जीव को चेतावनी दी है—

पापों का फल एकसे, भोगा कितनी बार।
कौन सहायक था हुआ, करले जरा विचार ?

वस्तुतः पापों का बंधन तो अन्य अनेक प्राणियों की सहायता से किया भी जा सकता है, उसमें अनेक सहायक बन सकते हैं और बनते ही हैं। किन्तु उनके फल को जीव अकेला ही भोगता है, उसे बाँटने में कोई सहायक नहीं बनता।

जिस प्रकार दस गायें और उनके दस बछड़े एक स्थान पर खड़े हैं। बछड़े छोड़ देने पर अपनी-अपनी माता के पास दूध पीने के लिये जाते हैं। किन्तु गाय अपने बछड़े के पास आने पर उसे ही दूध पिलाती है अन्य को नहीं। दूसरी गाय का बछड़ा अगर उसके पास आ जाय तो लात मार देती है। इसी प्रकार कर्म भी जिसने किये हैं, उसी को चिपटते है और उसे ही भुगतने पड़ते हैं।

तभी कवि ने कहा है कि लोभ, लालच बेईमानी एवं घमंड आदि जो दोष मेरी अज्ञानावस्था के कारण पैदा हुए थे उनके कारण मेरा आत्म-धन जो कि दया,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करुणा, संतोष, शांति, धैर्य तथा क्षमा आदि के रूप में था सब नष्ट हो गया है और मोक्ष के मार्ग से मैं बहुत दूर हो चुका हूँ। मैंने पाप करते समय नहीं जाना था कि ये कर्म मुझ पर इस प्रकार जुल्म करेंगे। यह तो अब मालूम पड़ रहा है, जबकि इन्हें भोगने का समय आया है।

आगे कहा गया है—

अमृत कह जहर पिलाया, हिंसा में धर्म बताया।
फिर किया बहुत हैराना, कर्मों से पड़ा है पाना॥

अर्थात—"दुर्भाग्य से मुझे सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हुई और मैं जिनके संपर्क में आया, उन मिथ्याग्वी और पाखंडियों ने मुझे गुमराह कर दिया। हिंसा पूर्ण कार्यों को धर्म क्रियाएँ बताकर अमृत के स्थान पर विष-पान कराया और उसके घातक प्रभाव से मेरे सद्गुणों का नाश तो हुआ ही, कर्मों के चंगुल में मैं फंस गया जिन्होंने अब तक नाना-प्रकार से मुझे हैरान किया और करते जा रहे हैं।"

वस्तुतः मिथ्यात्व का रोग पीलिये रोग के समान होता है जिसमें प्रत्येक वस्तु पीली दिखाई देती है। मिथ्यात्व रोग से ग्रस्त व्यक्ति भी कभी शुभ-कर्मों में रुचि नहीं लेता उसे वे क्रियाएँ दोष पूर्ण या व्यर्थ मालूम होती हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

तुलसी पूर्वला पाप से, प्रभु चर्चा न सुहाय।
जैसे ज्वर के जोर से, भोजन की रुचि जाय॥

कहा है कि जिस व्यक्ति के पूर्वकृत पापों का उदय होता है, उसे भगवत् वाणी अथवा धर्मोपदेश सुनने की भी इच्छा नहीं होती। भगवान की भक्ति व साधना आदि उसे ढोंग और व्यर्थ के काम मालूम देते हैं। उसकी दृष्टि भूत और भविष्य से हटकर केवल वर्तमान में ही सीमित रहती है। वर्तमान के सुख-भोग ही उसे जीवन का लक्ष्य दिखाई देते हैं। साधना, प्रार्थना और भक्ति से प्राप्त होने वाले आनन्द की वह कल्पना ही नहीं कर सकता और इसलिये इन क्रियाओं को करता भी नहीं।

अमूल्य धन—

एकबार एक महात्मा किसी निर्जन वन में एक शांत स्थान पर बैठे हुए ध्यान कर रहे थे कि उधर से एक व्यक्ति घोड़े पर से गुजरा। महात्मा जी को देख-कर उनका उपहास करने के लिए वह घोड़े से उतर गया और उनके समीप आकर बोला—"साधुजी महाराज ! क्यों अपना समय बर्बाद कर रहे हो ? तुम बूढ़े तो नहीं दिखाई देते, शक्तिशाली हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति हो। क्यों नहीं इस समय में कुछ कमाई करते हो, दो पैसे मिलें और भिक्षा भी न माँगनी पड़े।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आखिर आँख बंद करके राम-राम करने से तुम्हें कौन-सा आनन्द प्राप्त होता है।

महात्मा जी ने उसी समय ध्यान समाप्त किया था अतः उस व्यक्ति को देखकर मुस्कराये और बोले—"भाई, मैं कमाई ही कर रहा हूँ।"

"क्या खाक कमाई कर रहे हो ? आँखें मूँद कर बैठे रहने से क्या कोई तुम्हें यहाँ धन लाकर दे देगा ?"

"धन तुम किसे कहते हो ?" महात्मा जी ने उससे पूछ लिया।

व्यक्ति दंभी था। अकड़ कर बोला—"यह भी कोई बताने की बात है ? पैसा, रुपया, सोना, चाँदी, हीरे और जवाहरात धन कहलाता है। देख लो इस समय भी मेरे गले में कंठा, हाथ में सोने की चैनवाली घड़ी और अंगुली में हीरे की अंगूठी है। यही तो धन है।"

"क्या कीमत है इनकी ?" संत ने सहजभाव से पूछ लिया।

"इनकी कीमत तो हजारों रुपये हैं।"

"अच्छा मैं तुम से यह पूछता हूँ कि मीलों तक फैले इस निर्जन वन में अगर तुम भटक जाओ और इस भीषण गर्मी में प्यास के मारे तुम्हारी जान निकलने लगे पर दूर-दूर तक कोई व्यक्ति तुम्हें दिखाई नहीं न दे, यहाँ तक कि मारे छटपटाहट के और रास्ते के न होने पर एक कदम भी न बढ़ सको। पर उसी समय एकाएक कोई व्यक्ति आकर तुम्हें एक लोटा पानी दे किन्तु बदले में तुम्हारी ये सब कीमती चीजें माँगे तो उसे लोटाभर पानी के बदले में सब चीजें दे दोगे या नहीं ?"

व्यक्ति संत की बात सुनकर हँस पड़ा और बोला—"महात्मा जी ! कैसी बातें करते हो ? मैं मूर्ख हूँ क्या ? ये कीमती चीजें क्या प्राणों से बढ़कर हैं ? प्राण बचाने के लिये मैं दे दूँगा ही।"

"तो भाई ! इन हजारों रुपयों की कीमती चीजों को जब तुम एक लोटे पानी के बदले में ही दे सकते हो तो इनका क्या मूल्य हुआ ? सिर्फ एक लोटा पानी के बराबर ही तो। न जाने कितनी मेहनत करके तुमने एक लोटे पानी के मूल्य जितना धन कमाया है और वह एक लोटा पानी भी कितनी देर तक के लिये तुम्हारी प्यास मिटायेगा ? घंटे, दो घंटे या चार घंटे। फिर तुम्हें प्यास लग जाएगी। पर मैं तो ऐसा धन कमा रहा हूँ कि जिससे अनेक जन्मों की प्यास मिट जाय और फिर भविष्य में कभी लगे ही नहीं। अब बताओ, मेरे धन में और तुम्हारे धन में अन्तर है या नहीं ? क्या मेरे धन के मुकाबले में तुम्हारा धन अभिमान करने योग्य है ?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह धनी व्यक्ति महात्मा जी की बात सुनकर बड़ा शर्मिन्दा हुआ और उनके चरणों पर गिर पड़ा। बोला—"गुरुदेव ! आपकी बात सत्य है। आपके धन की बराबरी मेरा यह सांसारिक धन नहीं कर सकता कृपया मुझे अपना शिष्य बना लिजिये और आपके धन जैसा धन कमाने का मार्ग बताइये।"

तो बंधुओ, कवि ने इसलिए कहा है कि ज्वार का प्रकोप होने पर जिस प्रकार भोजन में रुचि नहीं रहतीं इसीप्रकार मिथ्यात्व का रोग रहने पर भी प्राणी धर्माराधन में रुचि नहीं लेता। वह भौतिक धन के पीछे दौड़ता है और आत्मिक धन को भूलकर मोक्ष-मार्ग से परे चला जाता है।

मराठी भाषा में एक कवि ने कहा है—

"हरि नामाची गोड़ शर्करा, घेऊन नि अनुभव,
सर्व जनानां मुठ-मुठ वाटवि।"

अर्थात्—भगवान् की भक्ति और उनके नाम का स्मरण मीठी शक्कर के समान है। इसलिए उसका अनुभव स्वयं पहले करो और मुट्ठी भर-भर-कर दूसरों को भी बाँटो। पर ऐसा कौन कर सकता है ? बताया है—

संत बड़े परमार्थी, मोटो जिनको मन।
भर-भर मूठी देत हैं, धर्म रूप यो धन॥

स्पष्ट है कि संत जो, निस्वार्थी, निस्पृही, निरहंकारी एवं निर्लोभी होते हैं वे ही इस प्रकार परोपकार और पर-सेवा में संलग्न रह सकते हैं। उन्हें न धन कमाने की चिन्ता रहती है, न परिवार के पालन-पोषण की फिक्र और न ही इन्द्रियों के सुखों को प्राप्त करने की लालसा होती है।

सिख-धर्म-गुरु नानक ने भी सच्चे संतों के लक्षण बताए हैं—

सुख - दुख जिह परसे नहीं, लोभ मोह अभिमान।
कहे नानक सुनरे मना ! सो मूरत भगवान्॥
इस्तुत निंद्या नाहिं जिह, कंचन लोह समान।
कहे नानक सुन रे मना ! मुक्ति ताहि ते जान॥
हरष शोक जाके नहीं, बैरी-मीत समान।
कहे नानक सुनरे मना ! ज्ञानी ताहि बखान॥
भय काहू को देत ना, ना भय मानत आन।
कहे नानक सुन रे मना ! मुक्ति ताहिते मान॥

संत की कितनी सुन्दर, सत्य और स्वाभाविक परिभाषा की है कि—जिन महापुरुषों के मन को सुख, दुख लोभ, मोह और अभिमान स्पर्श भी नहीं करता अर्थात् जिनके हृदय में ऐसी भावनाओं का लेश भी नहीं होता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और जो न किसी स्वार्थ के कारण अन्य व्यक्तियों की प्रशंसा करते हैं और न ही किसी प्रकार की दुर्भावना के परिणाम स्वरूप किसी की निन्दा करते हैं वे संत भगवान् के प्रतिरूप होते हैं तथा स्वयं संसार-मुक्त होते हुए औरों को भी उसी मार्ग पर लेजा सकते हैं।

आगे भी कहा है—जो महा-मानव सुखद संयोगों के उपस्थित होने पर हर्ष से फूल नहीं जाते और दुखों या संकटों की घटाएँ जीवन पर छा जाने से घबराते या शोक-ग्रस्त नहीं होते वे ही संत कहलाते हैं। ऐसे संत अपना घोर अहित करने वालों को भी अपना दुश्मन नहीं समझते और अपनी सेवा, प्रशंसा अथवा स्तुति करनेवाले को मित्र नहीं मानते। उन्हें शत्रु और मित्र दोनों समान लगते हैं। न वे किसी को भयभीत करते हैं और न किसी से भी भयभीत होते हैं। ऐसे संत ही गुरु नानक की दृष्टि में ज्ञानी हैं और अन्य जीवों को ज्ञान-दान करके मोक्ष-मार्ग पर लाने वाले होते हैं।

संत किस प्रकार गुमराह व्यक्तियों को मार्ग पर लाते हैं इसका एक छोटा-उदाहरण है—

मैं बादशाह हूँ—

एक बादशाह रात को अपनी राजधानी के किसी मार्ग पर अकेला आ रहा था। सामने से एक अत्यन्त वृद्ध संन्यासी जिसे बहुत कम दिखाई दे रहा था, धीरे-धीरे लाठी लिए आ रहा था। बादशाह ने अपने आपको सम्राट् मानते हुए रास्ते से हटने की आवश्यकता नहीं समझी और सन्यासी को अंधेरे के कारण बराबर दिखाई नहीं दिया अतः वह बादशाह से टकरा गया।

बादशाह को बड़ा क्रोध आया और पूछ बैठा—"देखकर नहीं चलते ? कौन हो तुम ?

बादशाह के बोलने के ढंग से और शरीर की आकृति बगैराह से संन्यासी की अनुभवी आँखों ने बादशाह को पहचान लिया और उन्हें कुछ सीख देने के उद्देश्य से शांति पूर्वक उत्तर दिया—"मैं बादशाह हूँ।"

बादशाह खिलखिलाकर हँस पड़ा और उसने व्यंग तथा कौतूहलवश पूछा—"अच्छा आप बादशाह हैं ? पर आपका राज्य इस संसार में किस स्थान पर हैं ?

संन्यासी ने शांति से कहा—"मेरे मन पर।"

बादशाह ने पुनः प्रश्न किया—"अच्छा सम्राट् ! जरा बताइये कि मैं कौन हूँ ?

"तुम गुलाम हो।" साधु ने अविलम्ब और स्पष्ट शब्दों में कह दिया।

यह सुनते ही बादशाह क्रोध के मारे आग बबूला हो गया और गश्त लगाने वाले सिपाहियों से पकड़वाकर सन्यासी को कैद करवा दिया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अगले दिन प्रातःकाल दरबार में बादशाह ने संन्यासी को बुलवाया और पूछा—"रात को तुमने अपने-आपको बादशाह और मुझे गुलाम क्यों कहा था ?"

"इसलिए कि मैंने अपनी इच्छाओं पर, वासनाओं पर, लोभ, मोह और क्रोध सभी पर विजय प्राप्त कर करली है। उदाहरण के लिए देखो तुमने मुझे कैद करवा दिया तब भी मेरे मन में तुम्हारे प्रति तनिक भी रोष का भाव नहीं आता। अतः मैं अपने मन को जीत लेने वाला सम्राट् हूँ। किन्तु तुमने जरा-सा गुलाम कहते ही क्रोध से भडक कर मुझे कैद करवा दिया। फिर बताओ, क्या तुम वासनाओं के या कषायों के गुलाम नहीं हो ?"

बादशाह यह सुनकर अपनी भूल को समझ गया तथा अत्यन्त लज्जित हुआ। उसी क्षण उसने संन्यासी को मुक्त कर दिया तथा अपने अपराध के लिए क्षमा माँगी।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो समस्त सांसारिक पदार्थों पर से अपनी आसक्ति हटा लेते हैं और अपने सगे-संबन्धियों पर अथवा दुश्मनों पर भी समभाव रखते हैं वे ही साधु-पुरुष कहलाते हैं और ऐसे महापुरुष ही निस्वार्थ भाव से जिन वचनों को जनता के समक्ष रख सकते हैं तथा अज्ञानी व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर कल्याण के मार्ग पर लगा सकते हैं।

अब हमारी कविता में जो कि आपके सामने चल रही हैं, उसमें आगे कहा है—

मेरा अनन्त ज्ञान ठग लीन्हा, मुझे पुद्गल ने वश कीन्हा।
कछु नहीं आपसे छाना, कर्मों से पड़ा है पाना॥

जिज्ञासु भक्त कह रहा है—मुझे पुद्गलों ने ठगकर अनंतज्ञान छीन लिया है। शास्त्र कहते हैं कि आत्मा के पास अनंत ज्ञान है लेकिन अनंतज्ञान की सत्ता की भी पुदगलों ने परवाह नहीं की तथा मेरे अनंतज्ञान पर अज्ञान का आवरण डाल दिया। परिणाम स्वरूप मैं सम्यक् ज्ञान से वंचित रहा और अज्ञान के कारण कर्म-बंधन करता रहा।

हे प्रभो ! आप तो सर्वज्ञ हैं अतः जानते ही हैं कि मैं किस प्रकार इन भयानक कर्मों के वशीभूत होकर दुःख पा रहा हूँ। अपनी असावधानी और भयंकर भूल पर मुझे अब बहुत ही पश्चाताप हो रहा है और इसीलिए मैंने—

लिया धर्म सुभट का शरणा, मिट जाए मेरा सब डरना।
मुझे ऐसी राह बताना जी, कर्मों से पड़ा है पाना॥

क्या कहा है कवि ने ? यही कि मैं अब तक असावधान रहा अतः पुद्गलों ने मुझे ठगकर मेरा अनंतज्ञान लूट लिया। किन्तु अब मैंने धर्म-रूपी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुभट यानी वीर योद्धा की शरण ले ली है ताकि अब पुनः लूटा जाने का भय न रहे और धर्म-रूपी योद्धा मेरे साथ रहकर मेरी रक्षा करता है।

आप जानते ही है बंधुओ कि अगर किसी निर्जन मार्ग से आप गुजर रहे हों, और साथ में आपके पास धन हो तो चोर-डाकुओं का भय उस मार्ग पर आपको बना रहेगा। और ऐसे मार्ग पर राही चोरों के द्वारा लूटे भी जाते हैं ऐसे उदाहरण आए दिन आपके सामने आते हैं। मुक्ति का मार्ग भी ऐसा ही विकट मार्ग है। जीवात्मा अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र की सम्पत्ति लेकर इस मार्ग पर बढ़ता है किन्तु मार्ग में क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह रूपी क्रूर लूटेरे ताक लगाए बैठे रहते हैं और मौका पाते ही उसे लूट लेते हैं। इसीलिए मुमुक्षु जीव अपनी पूर्व-कृत भूल से सीख लेकर पुनः उस मार्ग पर अकेला नहीं चलता अपितु धर्म-रूपी सुभट को अपना पहरेदार और रक्षक बनाकर चलता है। उसकी प्रभु से प्रार्थना है—

पहुँचा दो मोक्ष ठिकाना, नहिं होय फिर यहाँ आना।
इतना सा हुकुम फरमाना, कर्मों से पड़ा है पाना॥

प्रार्थना है कि हे प्रभो! मुझे ऐसी शक्ति प्रदान करो ताकि मैं समस्त विषय-वासनाओं और विकारों को जीतकर कर्मों से मुकाबला कर सकूँ। अर्थात् उन्हें अपनी आत्मा पर हावी न होने दूँ। धर्म-रूप सुभट की भी इसीलिए मैंने सहयता ली है कि वह ढाल बनकर मेरे सामने आ जाय और कर्म-वैरी का कोई भी आत्म-गुण-नाशक वार मेरी आत्मा तक न पहुँच सके। अगर मेरी यह मोर्चेबन्दी सफल हो गई तो फिर मैं अपने मोक्ष-रूपी गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाऊँगा और फिर मुझे कभी भी पुनः यहाँ नहीं आना पड़ेगा। इसलिए भगवान्! मुझे ऐसा वरदान दो कि—

सब माल मेरा मिल जावे, प्रभु अनिलरिख यह ध्यावे।
तब होय काज मनमाना, कर्मों से पड़ा है पाना॥

श्री अनिलऋषि जी महाराज कह रहे हैं—हे प्रभो! आपकी कृपा दृष्टि हो जाए तो मैं धर्म-रूपी योद्धा की सहायता से अपना ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य रूप-धन पुनः प्राप्त करलूँ। मैं किसी अन्य की वस्तु लेना नहीं चाहता केवल अपनी गई हुई सम्पत्ति ही पुनः प्राप्त करना चाहता हूं। उस सम्पत्ति की अधिकारिणी मेरी आत्मा है। मेरी आत्मा ही असली साहूकार है जिसका धन सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र है अतः ये अमूल्य वस्तुएँ उनके असली मालिक या साहूकार को मिल जानी चाहिए।

जिस दिन ऐसा हो जाएगा, मैं समझूँगा कि मेरा मनचाहा सिद्ध हो गया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और मेरी मनोकामना पूरी हुई है। वही दिन धन्य होगा, जिस दिन इन क्रूर कर्मों से मेरा पिंड छूट जाएगा।

बन्धुओ ! आशा है आपने कविता के भाव समझ लिये होंगे। कविता में जो कुछ कहा है वह केवल एक ही जीवात्मा के लिए नहीं है। इस संसार में प्रत्येक प्राणी की यही दशा है, हर व्यक्ति अपने पूर्व-कृत कर्मों का परिणाम भोग रहा है। अनन्तकाल से परिभ्रमण करती हुई उसकी आत्मा नाना योनियों में नाना प्रकार के कष्ट सहती रही है। किन्तु अब कुछ शुभ कर्मों के उदय से उसे मानव-पर्याय मिल सकी है। मानव-जन्म एक ऐसा दुर्लभ अवसर है जो महामुश्किलों के पश्चात् प्राप्त हो सका है। पर इस जीवन में अगर वह चाहे तो अपने समस्त कर्मों के जाल को छिन्न-भिन्न कर सकता है अपनी आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाकर परमात्मा बना सकता है।

किन्तु यह कार्य सहज और सरल नहीं है। इसके लिए बड़े पुरुषार्थ और त्याग-तपस्या की आवश्यकता है। व्यक्ति अगर यह सोचे कि मैं संसार के सुखों को भी भोगता चलूँ और आत्मा का कल्याण भी कर लूँ तो यह छत्तीस का आंकड़ा होगा जो कभी भी एक दूसरे से मेल नहीं खायेगा। अभी मैंने आप से कहा था कि दो विरोधी कार्य एक साथ नहीं हो सकते। जिस प्रकार कोई व्यक्ति दो दिशाओं में एक साथ नहीं चल सकता, इसी प्रकार प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग पर भी साथ-साथ नहीं चला जा सकता। एक मार्ग भोग का है और दूसरा त्याग का। भोगी त्यागी नहीं बन सकता और त्यागी भोगी बना नहीं रह सकता।

इसलिये अगर हम पापों से छुटकारा चाहते हैं और परमात्मदशा की प्राप्ति की अभिलाषा रखते हैं तो हमें विषय-विकारों के लुटेरों से आत्म-धन की रक्षा करते हुए संयमपूर्वक साधना-पथ पर बढना होगा तथा धर्म की सहायता से आत्मा को अपने शुद्ध-रूप में लाने का प्रयत्न करना होगा। तभी हमारा मनुष्य जन्म सार्थक होगा तथा हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेंगे।

आवश्यकता है हमें अपने अन्दर पूर्ण विश्वास और उत्साह भर लेने की। अपनी आज की दशा को देखकर किसी को निराश नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वह आत्मा जो संसार-मुक्त हुई है सदा ही वैसी नहीं थी। सभी की दशा आप और हमारे जैसी रही है। किन्तु उन्होंने प्रयत्न किया, त्याग और तपस्या की और तब कर्मों को नष्ट किया। हम भी चाहें तो सर्वथा कर्म-रहित हो सकते हैं पर चाहिये आत्म-विश्वास। अगर हम आत्मा की तेजस्विता में, उसकी अनंत शक्ति में विश्वास रखें तो फिर कौनसा कार्य हमारे लिये कठिन रह जाय ? कोई भी नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा जाता हैं जब रावण ने सीता का हरण कर लिया था। राम उन्हें खोजते हुए सुग्रीव से मिले। सुग्रीव के द्वारा पता चला कि सीता को चुराकर रावण लंका में ले गया है।

रामने सुग्रीव से पूछा—लंका यहाँ से कितनी दूर है? सुग्रीव इस प्रश्न का उत्तर दे हो नहीं पाए थे कि वानरवंशियों का सेनापति जामवन्त जो कि शरीर से अत्यन्त वृद्ध था पर चेहरे पर बड़ी तेजस्विता और ओज रखता था, बोल उठा—लंका इतनी दूर है कि हजारों वर्षों में भी वहाँ तक नहीं पहुंचा जा सकता, और वही लंका इतनी पास है कि एक कदम रखने पर दूसरा उठाते ही वह लंका में रखा जा सकता है।

राम भौंचक्के होकर जामवन्त का मुँह देखने लगे। बोले—"भाई! यह कैसी बात है? एक तरफ तो कहते हो लंका तक हजारों वर्षों में भी नहीं पहुंचा जा सकता और दूसरी तरफ कह रहे हो अगला कदम लंका में ही रखा जा सकता है। तुम्हारी इन बातों में क्या रहस्य है?"

जामवन्त ने मुस्कुराते हुए कहा—"महाराज! जिस व्यक्ति के हृदय में लगन, उत्साह और पुरुषार्थ की भावना नहीं है, वह तो हजारों वर्ष बीतने पर भी लंका तक नहीं पहुंच सकता। किन्तु जिसके हृदय में पूर्ण विश्वास और दृढ़ भावना है वह कुछ ही पलों में लंका तक पहुंच सकता है।"

आशा है आप भी बन्धुओ, जामवन्त के द्वारा कही हुई बात का अर्थ समझ गये होंगे कि सच्ची लगन, आत्म-विश्वास और पुरुषार्थ होने पर कोई भी कार्य असंभव नहीं है। हमारी आत्मा में ही तो अनन्तशक्ति छिपी हुई है और हमें इसे केवल उपयोग में लेना है। आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तचारित्र्य का धनी है। आवश्यकता है इन पर पड़े हुए अज्ञान और मिथ्यात्व आदि के आवरणों को हटाने की। हमारी सच्ची लगन, श्रद्धा और साधना से जिस दिन वे हट जाएँगे आत्मा अपने पूर्व ज्योतिर्मय रूप में आ जाएगी और फिर कभी भी उसे इस संसार में नहीं आना पड़ेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२६ | शुभ फलप्रदायिनी सेवा

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

कल के प्रवचन में बताया गया था कि जिज्ञासु व्यक्ति भगवान से प्रार्थना करता है—"हे प्रभो ! आपने कर्मों से सर्वथा रहित होकर शाश्वत सुख की प्राप्ति कर ली है। अपनी श्रेष्ठता एवं महानता के कारण आपकी आत्मा परमात्म पद को प्राप्त कर चुकी है। किन्तु मैं पुद्गलों से ठगाया गया और कर्मों से सताया हुआ एक दुखी प्राणी हूँ। आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे ऐसी आत्म-शक्ति प्राप्त करने का वरदान दें कि मैं भी इन कर्मों का मुकाबला कर सकूँ और इनसे पीछा छुड़ा सकूँ। आपके वचनानुसार मैंने जाना है कि कर्म का मार्ग कल्याण-कारी है और कर्म में ही वह शक्ति है जो आत्मा को शुद्ध और कर्मों से मुक्त कर सके। इसलिये मैंने भी धर्म रूपी सुभट की शरण ली है तथा इसे अपनी रक्षा का भार सोंपा है।"

यह प्रार्थना केवल एक प्राणी के लिये ही नहीं है। इस संसार में प्रत्येक प्राणी कर्मों के वश में होकर संसार-भ्रमण कर रहा है। अतः अगर उसे इस संसार के बंधनों से छुटकारा पाना है तो यही प्रार्थना करनी चाहिये। उसे भी अपने मन में यही भावना रखनी चाहिये कि मैं अपनी आत्मा में रहे हुए अनंतज्ञान, अनंतदर्शन और अनंतचारित्र को प्रकट करके इन कर्मों से मुक्ति प्राप्त करूँ।

किसी भी आत्मा के लिये यह कार्य कठिन भले ही हो पर असम्भव कदापि नहीं है। आत्मा सभी की समान रही है और समान ही है। तीर्थंकरों की आत्मा में जो शक्ति थी वही शक्ति संसार के प्रत्येक प्राणी की आत्मा में है चाहे वह मनुष्य हो, चाहे पशु। चाहे हाथी हो और भले ही चींटी या उससे भी सूक्ष्म प्राणी क्यों न हो। आत्म-शक्ति प्रत्येक प्राणी की आत्मा में है; केवल प्रगट होने की कमी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो मैं आपसे कह रहा था कि तीर्थंकरों की आत्मा भी एक समय हमारे जैसी ही थी किन्तु साधना के फल-स्वरूप उन्होंने तीर्थंकर गोत्र की प्राप्ति की। 'ज्ञाता सूत्र' के आठवें अध्याय में वर्णन आता है कि बीस कारणों से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन होता है। उनमें साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका की सेवा करना भी है जिन्होंने ऐसा किया है वे ही अपनी आत्मा का कल्याण कर सके हैं।

हमारे पूर्वज कहते आए है :—

सतन की सेवा किया, प्रभु रीझत है आप।
ज्यांका बाल खिलाइये, ताका रीझत बाप॥

कहते हैं कि सन्तों की सेवा करने से भगवान प्रसन्न होते हैं, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार बच्चों को खिलाने से उनके माता-पिता प्रसन्न होते हैं।

यहाँ आप मन में विचार करेंगे कि भगवान के लिये तो संसार में सभी प्राणी समान हैं। उनका सभी पर सम-भाव है फिर सन्तों के लिए ही यह बात क्यों? आपका सोचना गलत नहीं है। यह विचार मन में उठना स्वाभाविक है। और वास्तव में ही प्राणी मात्र की सेवा से भगवान प्रसन्न होते हैं। किन्तु यह पद्य सहज भाव से कहा जाता है और इसका आशय मैं संक्षेप में आपके सामने रखता हूँ।

इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति पहले किसी का पुत्र बनता है और उसके बाद स्वयं पिता बन जाता है। पिता के एक, दो चार या अधिक भी पुत्र होते हैं। सभी के लिये उसके हृदय में अथाह ममत्व होता है और अपने पुत्रों के दुख से वह दुखी तथा उनके सुख से स्वयं भी सुख का अनुभव करता है। किन्तु स्वाभाविक है कि सभी पुत्रों में समानता नहीं पाई जाती। प्रायः देखा जाता है कि एक ही पिता के पुत्र होने पर भी कोई तो बाप का आज्ञाकारी, सेवा भावी एवं विनयवान होता है और कोई पुत्र अनुशासनहीन, उद्दंड तथा क्रूर प्रकृति का निकल जाता है।

यद्यपि पिता का आन्तरिक ममत्व सुपुत्र और कुपुत्र दोनों पर समान होता है और दोनों में से किसी को भी कष्ट में नहीं देख सकता किन्तु विनयी, आज्ञाकारी और सेवाभावी पुत्र अपनी सेवा परायणता के कारण पिता के अधिक नजदीक रहता है और अधिक समय उनकी सुश्रूषा में व्यतीत करने के कारण पिता के गद्‌गद् हृदय का मूक आशीर्वाद प्राप्त करके उसका शुभ फल पाता है।

इसी प्रकार भगवान के लिये संसार के सभी प्राणी समान हैं सब के लिये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उनके हृदय में करुणा व वात्सल्य की भावना होती है किन्तु पिता के लिये सुपुत्र जैसा होता है, वैसे ही भक्त अथवा सन्त भी भगवान के बताए हुए त्याग और तपस्या के मार्ग पर चलता है, उनके वचनों पर पूर्ण श्रद्धा और आस्था रखता है तथा गद्‌गद् हृदय से उनकी पूजा भक्ति और उपासना करता है अतः अपनी श्रेष्ठ व उत्तम भावनाओं का शुभफल प्राप्त करता हुआ भगवान के अधिक नज़दीक रहता है। श्रेष्ठ गुण या सद्‌गुण ही व्यक्ति की आत्मा को परमात्मा बनाते हैं अतः सद्‌गुणी व्यक्ति परमात्मा को सन्तुष्ट करता है। सारांश यही है कि परमात्मा को कोई भी प्राणी अप्रिय नहीं लगता किन्तु दुर्गुण अप्रिय लगते हैं और सद्‌गुण प्रिय। यही कारण है कि सन्त या भक्त सद्‌गुणी होने के कारण प्रभु की कृपा को प्राप्त कर लेते हैं।

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है :—

जे आयरिय-उवज्झायाणं, सुस्सूसा वयणं करे।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जल सित्ता इव पायवा॥

जो अपने आचार्य एवं उपाध्यायों की सुश्रुषा-सेवा तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करता है उसकी विद्याएँ वैसे ही बढ़ती हैं, जैसे कि जल से सींचे जाने पर वृक्ष।

तो बंधुओ, जैसा कि गाथा में कहा गया है—गुरु की आज्ञा पालन करने पर और उनकी सेवा करने पर शिष्य का ज्ञान वृद्धि प्राप्त करता है, उसी प्रकार भगवान की भक्ति करने वाले साधक, सन्त और भक्त का ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र भी अपने श्रेष्ठ रूप को प्राप्त करता जाता है और अपनी श्रेष्ठता के कारण वह भगवान का प्रिय बनता है। इससे स्पष्ट ही है कि श्रेष्ठ तथा सद्‌गुणी जब भगवान को प्रिय होता है तो उसकी सेवा करने पर वे प्रसन्न होते हैं।

इस प्रकार सेवा का बड़ा भारी महत्त्व माना गया है। सेवा मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है जो कि हृदय और आत्मा को पवित्र करती है तथा आत्मा की शक्ति को बढ़ाती है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये एक प्रासंगिक उदाहरण आपके समक्ष रखता हूँ।

भगवती सूत्र में बताया गया है कि जिस प्रकार इस मानव-लोक में मनुष्य आपस में झगड़ पड़ते हैं उसी प्रकार देवलोकों में भी झगड़े हुआ करते हैं। देवलोक बारह हैं और जिस प्रकार हमारे यहाँ देश के राजा होते हैं, उसी प्रकार वहाँ इन्द्र हैं। पहले दो-दो देवलोकों के लिये एक-एक इन्द्र और बाकी आठ देवलोकों के लिये आठ इन्द्र, इस प्रकार कुल दस इन्द्र हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पहले इन्द्र शक्रेन्द्र और दूसरे इन्द्र ईशानेन्द्र के देवलोकों की सीमाएँ पास-पास जुड़ी हुई हैं। उनमें प्रसंगवश कभी-कभी विवाद हो जाता है। तो भगवती सूत्र में दिया गया है कि उन इन्द्रों के पारस्परिक झगड़ों को कौन मिटाता है ? ऐसा प्रश्न भगवान् से गौतम स्वामी ने किया।

भगवान् का उत्तर है—"गौतम ! जब पहले दोनों इन्द्रों में विवाद होता है ऊपर तीसरे देवलोक के इन्द्र आकर उनके विवाद को मिटाते हैं।" गौतम स्वामी पुनः प्रश्न पूछते हैं—"भगवन् ! पहले दोनों इन्द्र भी साधारण देवता नहीं हैं, इन्द्र हैं। उन्हें समझाने की शक्ति तीसरे देवलोक के इन्द्र में कैसे होती है ?"

भगवान् पुनः उत्तर देते हैं—"तीसरे देवलोक के इन्द्र सनत्कुमार हैं। उन्होंने अपने पूर्वजन्म में साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका, इस प्रकार चारों तीर्थों की बहुत सेवा की थी, इसीलिए उन्हें इतना ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ।"

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा भी है—

वैयावच्चेणं तित्थयरनामगोयं कम्मं निबंधेइ।

आचार्यादि की वैयावृत्य करने से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्रकर्म का उपार्जन करता है।

इस प्रकार जिस व्यक्ति की सेवा-भावना जितनी उत्कृष्ट होगी वह उतना ही ऊँचा उठेगा। आपने मुनि नन्दीषेण के विषय में सुना होगा। वे इतने सेवा-भावी थे कि देवलोक में शक्रेन्द्र जो कि सम्यक्दृष्टि है उन्होंने समस्त देवताओं के सामने नन्दीषेण मुनि की प्रशंसा की। कहा—"नन्दीषेणजी के समान सेवा करनेवाला और कोई नहीं है।"

शक्रेन्द्र की इस बात को सम्यक्दृष्टि देवों ने सत्य मानी और स्वयं भी मुनि की प्रशंसा करने लगे। किन्तु एक मिथ्यात्वी देव ने इस बात को नहीं माना। उलटे उसे बुरा लगा कि इन्द्र महाराज देवताओं की तारीफ़ न करके एक साधारण मानव की प्रशंसा करते हैं।

उस मिथ्यात्वी देव ने निश्चय किया कि मैं नन्दीषेण मुनि की परीक्षा लूंगा और इन्द्र महाराज के कथन को गलत साबित करूँगा।

अनेक व्यक्तियों का ऐसा ही स्वभाव होता है। वे स्वयं तो कुछ सराहनीय कार्य करते नहीं, पर औरों के कामों में मीन-मेख निकालने के लिये और उनकी परीक्षा लेने के लिये तैयार रहते हैं। हमारे यहाँ भी अनेक प्रकार के व्यक्ति आते हैं। कुछ तो उनमें से ऐसे होते हैं जो आन्तरिक श्रद्धा और स्वयं अपनी रुचि से जिन-वचनों का श्रवण करने के इच्छुक होते हैं, कुछ ऐसे भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं जो केवल लोक-लज्जा के कारण आते हैं कि लोग कहेंगे—"महाराज का चातुर्मास कराया पर प्रवचन तो सुनते ही नहीं।"

कुछ उनमें से ऐसे भी होते हैं जो अपने स्वार्थ के कारण आते हैं कि प्रवचन सुनेंगे यानी धर्म के शब्द कान में पड़ेंगे तो धन, वैभव, परिवार सभी की वृद्धि होगी और सांसारिक सुख प्राप्त होगा। कुछ सटोरिये भी यहाँ आते हैं, जो सन्तों के मुँह से निकले किसी अङ्क पर ही सट्टा लगा दिया करते हैं। पर कुछ व्यक्ति ऐसे भी आते हैं जो केवल हमारे रहन-सहन व्यवहार-क्रिया आदि में कमियाँ देखते हैं। वे छिद्रान्वेषण करने की भावना को लेकर ही यहाँ तशरीफ़ लाते हैं।

अब उनसे पूछा जाय कि साधु में भले ही कुछ कमी होगी, ढीलापन होगा किन्तु क्या वे तुमसे अनेक गुने त्यागी नहीं हैं? साधु की परीक्षा करने चले हो पर उनमें जितने भी गुण हैं उनमें से एक-दो भी तो अपनाकर देखो? अधिक नहीं तो साधु के लिये जो साधारण बातें हैं उन्हें ही कुछ दिन अपना लो। जैसे सर्दी या गर्मी में नंगे पैर ही चलना, रात को पानी नहीं पीना, कड़ाके की सर्दी में भी गद्दे-रजाई में नहीं सोना। यह तो हमारे लिये मामूली बातें ही हैं संयम और साधना तो दूर की चीजें हैं। तो ये छोटी बातें भी क्या छिद्रान्वेषण करने वाले कुछ दिन के लिये अपना सकते हैं? नहीं, वह तो दो दिन के लिये भी सम्भव नहीं है। सम्भव केवल साधु के दोषों को ढूँढ़ना और उन्हें लेकर निंदा करना ही है। वे परीक्षा ले सकते हैं। परीक्षा दे नहीं सकते।

ऐसा ही वह मिथ्यात्वी देव था, जिसने नन्दीषेण मुनि की परीक्षा लेने का निश्चय किया और उन्हें परीक्षा में फ़ेल करके शकेन्द्र की बात को असत्य करना चाहा।

देव ने मुनि का वेश बनाया और मानवलोक में आ पहुँचे। नन्दीषेण से कहा—"मुझे अमुक गाँव जाना है अतः पहुँचा दो।"

नन्दीषेण जी ने सहर्ष इस बात को स्वीकार किया और उन्हें सहारा देकर ले चलना चाहा। यह देखते ही बनावटी मुनि क्रोध से उबल कर बोले—

"तुम्हें दिखाई नहीं देता? मैं चल सकता हूँ क्या?"

"भगवन्! मुझसे गलती हो गई आप मेरे कंधे पर बैठ जाइये।" मुनि के क्रोध पर तनिक भी ध्यान न देते हुए नन्दीषेण जी ने अत्यन्त विनम्रता से क्षमा माँगते हुए कहा।

तत्पश्चात् रुग्ण मुनि को कंधे पर बैठा कर नन्दीषेण जी रवाना हो गए। मुनिदेव था अतः उसने अपना वजन काफ़ी कर लिया था किन्तु नन्दीषेण जी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्यन्त शांतिपूर्वक उसे कंधे पर लिये हुए चले जा रहे थे। पर इतने से ही उनकी परीक्षा सम्पूर्ण कैसे हो सकती थी? मार्ग में नन्दीषेण जी के कंधे पर बैठे हुए ही मुनि रूपी देव ने मल-मूत्र का त्याग कर दिया। वह भी असह्य दुर्गंध के साथ। गन्दगी से नन्दीषेण जी के वस्त्र और शरीर सन गए तथा भयंकर दुर्गंध नाक में घुसने लगी।

किन्तु धन्य थे वे नन्दीषेण मुनि, जिन्होंने उस स्थिति में भी उफ़ तक नहीं किया। जबान से ही नहीं, मन में भी उनके रंचमात्र भी ग्लानि या क्रोध का भाव नहीं आया। उनका हृदय अत्यन्त दुःख और करुणा से भर गया और वे विचार करने लगे—"किस प्रकार मैं शीघ्रातिशीघ्र मुनिराज का इलाज कराऊँ और उनका रोग तथा तकलीफ़ दूर हो सके।"

गन्दगी से सने हुए नन्दीषेण जी ने एक सुरक्षित और साफ़ जगह पर मुनि को कंधे पर से उतारा तथा समीप के गाँव से जल लाकर उनके और अपने वस्त्र एवं शरीर की शुद्धि की।

नन्दीषेण जी की शारीरिक और मानसिक सेवा तथा उत्कृष्ट भावनाओं को अपने ज्ञान से देवता ने समझ लिया और अपने असली स्वरूप में आकर उन्हें धन्य-धन्य कहते हुए नमस्कार किया।

यह सेवा का ही परिणाम था। सेवा करना सरल नहीं है बड़ा कठिन कार्य है। किन्तु जो इस कार्य को अपना लेता है वह इस लोक और परलोक दोनों में ही उसका उत्तम फल प्राप्त करता है। बाहूबलि के उदाहरण से भी इस बात की पुष्टि होती है।

भरत और बाहुबलि दोनों भाई थे तथा भगवन ऋषभदेव के पुत्र थे। भरत जब छः खंड के चक्रवर्ती बने तो उन्होंने अपने भाई बाहुबलि को अपने अधीन रहने के लिये कहा।

किन्तु बाहुबलि ने इस आज्ञा को नहीं माना और उत्तर दिया—"यह कैसे हो सकता है? मुझ पर आपका क्या अधिकार है? पिताजी ने मुझे भी राज्य का हिस्सा दिया है अतः आप अपने राज्य में शासन करिये और मैं अपने राज्य में करूँगा।

पर जब दोनों ही अपनी अपनी बात पर अड़े रहे तो वाद-विवाद बढ़ गया और आवेश में आकार बाहुबलि ने कह दिया—"ऐसे भरत तो हमारे यहाँ चूल्हे पर रोज चढ़ते हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि खंडनी नहीं देना है तो मत दीजिये मगर मैत्री तो रखिये।

किन्तु भरत चक्रवर्ती थे जिनकी सेवा में देवता रहते थे। वे कैसे छोटे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाई की स्वतन्त्रता बर्दाश्त करते ? उन्होंने नहीं माना सो नहीं ही माना। अतः दोनों में युद्ध की नौबत आ गई। किन्तु फिर विचार हुआ कि झगड़ा जब हम दोनों का ही है तो फिर निरपराध अन्य व्यक्तियों का खून क्यों हो ? यही अच्छा हो कि हम दोनों ही द्वन्द्व युद्ध करें। इस प्रकार उनका दृष्टियुद्ध बाहुयुद्ध और मुष्टियुद्ध होना तय हुआ। प्रथम दोनों युद्धों में बाहुबलि जीत गए और फिर तीसरे मुष्टियुद्ध की बारी आई।

चक्रवर्ती सम्राट् भरत को मुष्टि का प्रहार करने का अवसर पहले दिया गया। भरत ने प्रहार किया और प्रहार इतना जबर्दस्त था कि बाहुबलि घुटनों तक जमीन में चले गए।

अब बारी बाहुबलि की थी। प्रथम दोनों युद्धों में जीत जाने के कारण चारों ओर जनता सांस रोके हुए खड़ी थी। सबको दृढ़ विश्वास था कि बाहुबलि का प्रहार भरत किसी प्रकार सह नहीं सकेंगे और निश्चय ही अनर्थ घट जायगा। पर युद्ध, युद्ध ही था और बाहूबलि को अब वार करना था।

नियत समय पर बाहूबलि ने मुट्ठी बाँधी और हाथ उठाया। सबके कलेजे काँप उठे तथा भय के कारण पल भर को आँखें मुंद गई। पर यह क्या ? ज्योंहि लोगों ने नेत्र खोले सब विस्मय से देखते रह गए कि बाहूबलि का मुट्ठी वाला दाहिना हाथ अभी तक ऊपर ही उठा हुआ है, और वे कुछ विचार कर रहे हैं।

इधर ज्योंहि बाहूबलि ने मुट्ठी ऊपर की बड़े भाई को मारने के लिये, त्योंही उनके मस्तिष्क में विचार कौंधा—'अरे, मैं क्या कर रहा हूँ ? प्रथम तो बड़ा भाई पिता के बराबर होता है अतः मैं मानों पिता का संहार करने जा रहा हूँ। दूसरे यह पाप मैं किस लिये कर रहा हूँ ? धन-दौलत राज्य-पाट के लिये ही तो; यह क्या यह क्षणिक ऐश्वर्य सदा मेरे साथ रहेगा ? मेरी आत्मा का इससे क्या भला होगा कुछ भी नहीं, उलटा कर्म-बन्धन होगा जो अलग।"

यह विचार मन में आते ही बाहूबलि ने भाई पर प्रहार करने का इरादा त्याग दिया पर अपनी उठाई हुई मुट्ठी को निरर्थक जाने देना स्वीकार नहीं किया। आपको उत्सुकता होगी कि फिर क्या किया उन्होंने ? उन्होंने यह किया कि अपना हाथ अपने ही मस्तक की ओर ले आए तथा बालों का लुंचन करके सब कुछ त्याग कर मुनिवृत्ति धारण करली।

तो बंधुओ, यह उदाहरण मैंने आपको सेवा के प्रसंग में दिया है। मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि बाहूबलि को एक चक्रवर्ती सम्राट से मुकाबला करने की ओर उसे जीत लेने की शक्ति कैसे प्राप्त हुई ? जबकि चक्रवर्ती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्राट की जूठन खाने वाली दासी भी अपनी चुटकी से वज्र सदृश हीरे को मसल डालती है। हमारे शास्त्र बताते हैं कि बाहूबलि ने अपने पूर्व जन्म में पाँच सौ मुनियों की बड़ी भारी सेवा की थी। उसी सेवा के बल पर उन्हें अपार शक्ति हासिल हुई और वे भरत जैसे चक्रवर्ती सम्राट से मुकाबला करके उन्हें हरा भी सके थे।

तो बंधुओ ! सेवा का महत्त्व अवर्णनीय है। यद्यपि सेवा करने में नाना कष्ट उठाने पड़ते हैं, बड़ा त्याग करना पड़ता है तथा आत्म-भोग देना होता है किन्तु उसका परिणाम श्रेष्ठतम निकलता है।

भगवती सूत्र में कहा भी है :—

समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलभई।

जो दूसरों के सुख एवं कल्याण का प्रयत्न करता है वह स्वयं भी सुख एवं कल्याण को प्राप्त होता है।

तो बंधुओं, इस दुर्लभ मानव-जीवन को पाकर जो व्यक्ति अपना समय सेवा में नहीं लगाता वह निश्चय ही अपने जीवन को निरर्थक करता है। सेवा करना मानव का परम धर्म है। इससे आत्मा सरल और शुद्ध होती है तथा पुण्य का संचय होता है। अगर हम इतिहास को उठाकर देखें तो पता चलेगा कि संसार के प्रत्येक महापुरुष के जीवन में पर-सेवा एक मुख्य कर्तव्य रहा है। अपनी इसी भावना से वे महान् बने और सदा के लिये अमर हो गए हैं।

सेवा के अनेक रूप होते हैं। परिवार के सदस्यों की सेवा, गुरु की सेवा, जाति-धर्म की सेवा या संघ की सेवा यह सब सेवा में आता है। अभी मैंने बताया था कि साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका की सेवा करने से तीर्थंकर गोत्र-नाम-कर्म भी बँध सकता है।

इसलिये बंधुओ, आपको मैं बार-बार संगठन के लिए एवं संघ की सेवा के लिये कहता हूँ। संगठन में अपूर्व शक्ति है। और शक्तिशाली संघ प्रत्येक व्यक्ति के लिये गौरव एवं अभिमान की वस्तु है। अगर संघ का प्रत्येक सदस्य सेवा की भावना रखेगा तो वह फुलवारी में लगे हुए फूल के समान ही स्वयं भी सुशोभित होगा तथा संघ-रूपी फुलवारी की शोभा को बढ़ायेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२७ | जीवन श्रेष्ठ कैसे बने ?

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओं एवं बहनो !

आज के प्रवचन में श्री रतनमुनि जी ने संस्कारों के महत्व पर प्रकाश डाला है। उत्तम संस्कार जीवन को उत्तम और श्रेष्ठ बनाते हैं। जिस व्यक्ति के जीवन में संस्कार अच्छे नहीं होते, उसका जीवन अपूर्ण एवं निष्फल बन जाता है।

संस्कार व्यक्ति की शैशवावस्था में मूल जमाते हैं। जिस प्रकार कुम्हार गीले घड़े पर नक्काशी करता है तो वह कभी नहीं मिटती और उस समय वह चाहे जैसी कारीगरी कर भी लेता है। उसी प्रकार शिशु के कोमल और सरल हृदय में चाहे जैसे संस्कार डाले जा सकते हैं और उस समय जो संस्कार जम जाते हैं वे जीवन पर्यन्त बने रहते हैं।

हम आज जो कुछ करते हैं उसमें अधिकांश भाग हमारे हृदय में जमे हुए संस्कारों का परिणाम होता है। संस्कारों के द्वारा ही मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है। अगर संस्कार अच्छे होते हैं तो मनुष्य सच्चरित्र कहलाता है और संस्कार बुरे हुए तो वह दुश्चरित्र माना जाता है। इसके अलावा सुसंस्कृत व्यक्ति की संगति करने से भी मनुष्य के मन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, वह सत्कर्म-प्रिय बन जाता है और कुसंगति में पड़ गया तो कुकर्मों की ओर प्रेरित होता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को सुसंस्कारों से युक्त बनने का प्रयत्न करना चाहिये। अगर संघ का प्रत्येक व्यक्ति यह निश्चय करले कि मुझे अपने जीवन को सदाचरण से सुशोभित करना है तथा समाज व संघ के प्रति अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करना है तो संघ स्वयं ही महान् और श्रेष्ठ बन जाता है। इसलिये संघ के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने परिवार, समाज एवं संघ के हित को ध्यान में रखते हुए आपसी स्नेह एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सद्भावना के द्वारा संगठन बनाए रखने का प्रयत्न करे। ऐसा उसे अवश्य करना चाहिये। क्योंकि जिस समाज में आपने जन्म लिया है, जिस धर्म में आपने एक-एक श्वास ली है उसका आप पर ऋण है। आप कहेंगे—"हम क्या कर्ज लेने गए थे ?" अरे भाई ! जिस देश में जन्मे हो, जहाँ का अन्न-जल ग्रहण किया है। उस देश का, उस समाज का और उस धर्म का आप पर ऋण है और उसके उपकार से आप दबे हुए हैं। चाहे आप लखपति हों, चाहे करोड़पति हों या कि निर्धन हों किसी न किसी प्रकार से आपको वह ऋण उतारना ही चाहिये। पैसे वाले पैसे से समाज के व्यक्तियों का भला कर सकते हैं और जिनके पास पैसा नहीं है वे शरीर से और शरीर में भी जिनके शक्ति नहीं है वे मन से भी समाज-सेवा करने में समर्थ हो सकते हैं।

पर यह सम्भव कैसे हो सकता है ? तभी होगा जबकि व्यक्ति अपने हृदय को स्नेहामृत से परिपूर्ण रखे तथा समस्त वैर-विरोध एवं कषाय को त्याग दे।

शतावधानीजी श्री रत्नचन्द्रजी स्वामी ने 'भावना शतक' नामक ग्रन्थ में बारहों भावनाओं पर आठ-आठ श्लोक लिखे हैं, एक मंगलाचरण, एक उपसंहार के रूप में और दो श्लोक गुरु महाराज की प्रशस्ति में, इस प्रकार सौ श्लोक लिखे हैं। सभी श्लोक साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका आदि के लिये चिंतनीय तथा मननीय हैं।

उनमें से एक श्लोक आपके सामने रखता हूँ:—

कषाय दोषा नरकायुरर्जकः
भवद्वयोद्वेगकराः सुखच्छिदः ॥
कदा त्यजेयुः मम संगमात्मनो,
विभावयेत्यष्टम भावनाश्रितः ॥

'क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय हैं। ये दोष नरकगति की आयु का उपार्जन करते हैं। जिसकी आत्मा में कषाय होते हैं वह नरक में जाता है और वहाँ नहीं पहुँचा तो तिर्यंचगति में उसे जाना पड़ता है। चन्डकौशिक नरकगति में गया, अपने क्रोध के कारण। यह दुर्गति है सुगति नहीं, सुगति में मनुष्य गति अथवा देवगति मिलती है।

तो कषाय नरकगति का उपार्जन करते हैं और भवद्वय अर्थात् दोनों लोक में, उद्वेगकरः यानी अशान्ति पैदा करने वाले होते हैं। क्रोध करने से इहलोक और परलोक बिगड़ता है इसीप्रकार अभिमान, कपट और लोभ करने से भी दोनों भवों में अशान्ति ही प्राप्त होती है। आगे कहा है—इनसे दुःख ही मिलेगा, सुख नहीं। इसलिये आठवीं जो संवर भावना है उसका आश्रय, लेकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चिंतन करना चाहिये। कि इन कषायों से आत्मा की कितनी हानि होती है और किस प्रकार ये आत्मिक गुणों को नष्ट करते हैं।

दशवैकालिक सूत्र में बहुत स्पष्ट बताया गया है कि ये चारों कषाय क्या-क्या नुकसान करते हैं ? इसके आठवें अध्याय में यह गाथा है—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो॥

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाशक है, माया मित्रता की जड़ काटती है और लोभ तो समस्त सद्गुणों का ही विनाश कर देता है।

वस्तुतः ये चारों कषाय सद्गुणों का नाश करके आत्मा को पतन की ओर ले जाते हैं। कषायों में पहला स्थान क्रोध को दिया गया है। यह आत्मा का प्रबल दुश्मन है। इसके रहते हुए कोई भी उत्तम गुण आत्मा के पास नहीं फटक पाता। जिस प्रकार काले रंग के वस्त्र पर दूसरा कोई भी रंग नहीं चढ़ता, इसीप्रकार आत्मा पर क्रोध के काले रंग के चढ़ जाने के पश्चात् करुणा, दया, स्नेह, सेवा या क्षमा आदि का कोई भी श्रेष्ठ रंग नहीं चढ़ा करता।

तभी संसार के दार्शनिकों और चिन्तकों से जब किसी ने प्रश्न किया—"विसं कि ?" तो उन्होंने उत्तर दिया—"कोहो।" अर्थात् क्रोध।

वास्तव में ही क्रोध एक ऐसा भयानक विष है जो मनुष्य को मदिरापान किये हुए व्यक्ति की अपेक्षा भी अधिक खतरनाक बना देता है। यह एक-एक दो-दो पीढ़ियों तक के स्नेह सम्बन्ध को तोड़ देता है। तथा जन्म-जन्मान्तर तक वैर-भाव जीवों में चलता रहता है।

इसी प्रकार मान का भी हाल है। गाथा में दिया गया है—'माणो विणय नासणो।' यानी मान विनय को नष्ट करने वाला है। यथार्थ भी है कि जहाँ मान अथवा अहंकार होगा, वहाँ विनय कैसे रह सकेगा। मान का स्थान गर्दन में होता है। जहाँ मान रहेगा गर्दन अकड़ी रहेगी। जब गर्दन झुकेगी ही नहीं तो मस्तक नवेगा कैसे ? और मस्तक नहीं झुकेगा तब विनय किसी का किस प्रकार किया जा सकेगा। माता-पिता, गुरु आदि बड़ों को मस्तक झुकाकर ही विनय प्रदर्शित किया जाता है। पर जब मस्तक झुके ही नहीं तो विनय का चिह्न कहाँ रहेगा ?

तारीफ़ की बात तो यह है कि अभिमानी व्यक्ति अगर कुछ समझदार है तो वह बड़ों का अनादर अथवा अवहेलना करने पर उसका प्रायश्चित जरूर कर लेता है, किन्तु मान का त्याग नहीं करता। वह कहता भी है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"प्रायश्चितम् चरिष्यामि, पूज्यानाम् को व्यतिक्रमः ।"

अगर मेरे द्वारा पूज्य व्यक्तियों की अवहेलना हुई है तो मैं उसका प्रायश्चित कर लूंगा। वह व्यक्ति यह अवश्य कह देता है किन्तु यह नहीं कहता कि अब मैं मान रखूंगा ही नहीं और कभी भी बड़ों की अवहेलना अथवा छोटों का तिरस्कार नहीं करूंगा। इस पर एक छोटा-सा उदाहरण है।

मिच्छामि दुक्कड़म्—

एक गुरु और शिष्य विचरण करते हुए किसी छोटे से गांव में पहुंचे। वहाँ पर स्थानक आदि न होने के कारण वे एक कुम्हार के घर पर ठहर गये।

शिष्य आयु में कम और कुछ चंचल स्वभाव का था दूसरे शब्दों में बचपन उसका अभी गया नहीं था।

उसने देखा कि घर का मालिक कुम्हार मिट्टी के घड़े चाक पर से उतार-उतार कर जमीन पर रखता जा रहा है। शिष्य ने गीले घड़ों को देखा तो उसके हृदय में खेल करने की भावना जागृत हुई और वह एक-एक कंकड़ उठाकर क्रमशः गीले मटकों में मार-मार कर उनमें छेद करने लगा।

किन्तु साधु होने के नाते उसके मन में यह विचार जरूर आया कि मैं यह ग़लती कर रहा हूँ और किसी गलती के होने पर साधु को "मिच्छामि दुक्कड़म्।" कह कर प्रायश्चित कर लेना चाहिए। अतः वह प्रत्येक मटके में छेद करने के बाद "**मिच्छामि दुक्कड़म्**" अवश्य कहता गया।

शिष्य के यह कार्य प्रारम्भ करने के कुछ ही समय बाद कुम्हार की दृष्टि मटकों की ओर गई। विस्मय के साथ उसने देखा कि हर मटके में छेद हो रहा है। गीले होने के कारण कोई आवाज तो उसे आई नहीं थी। पर अब जब उसने मटकों की यह दशा देखी तो उनकी दुर्गति का कारण जानने के लिये आस-पास निगाह दौड़ाई और देखा कि उसके घर में ठहरे हुए मुनि का शिष्य दूर बैठा हुआ मटकों पर कंकर फेंक-फेंक कर उनमें छेद किये जा रहा है, तथा "मिच्छामि दुक्कड़म्।" ये शब्द भी जबान से बोलता चला जा रहा है।

कुम्हार बेचारा शिष्य के कार्य और कार्य करते हुए बोलने वाले शब्दों के रहस्य को समझा नहीं, अतः दौड़ा-दौड़ा गुरु जी के पास आया और उनसे सारी घटना कह सुनाई। वह शिष्य के कार्य पर चकित हो रहा था।

गुरु जी ने शिष्य को बुलवाया और उससे सारी बात पूछी। शिष्य ने सहजभाव से कहा—"भगवन्! आपने ही तो फ़रमाया था कि कोई गलती हो जाय तो "मिच्छामि दुक्कड़" कहकर उसके लिये प्रायश्चित कर लेना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। मेरे मन में मटकों में छेद कर-करके खेल करने की इच्छा हुई अतः मैं उनमें कंकर मारने लगा। पर यह कोई अच्छी बात तो थी नहीं मेरी गलती तो थी ही अतः मैं मिच्छामि दुक्कड़ं कहकर उसके लिये प्रायश्चित भी लेता गया।

गुरु जी शिष्य की बात सुनकर मुस्कुराए पर फिर उसे समझाया—"वत्स ! अनजान में गलती हो जाय उसके लिये प्रायश्चित करने पर वह फल देता है। किन्तु जान-बूझकर गलतियाँ करते हुए प्रायश्चित करने का कोई मूल्य नहीं होता।"

गुरु जी की बात शिष्य की समझ में आगई और उसी दिन से उसने निरर्थक कार्य करना अथवा जानबूझ कर गलतियाँ करना छोड़ दिया।

तो बंधुओ वह शिष्य अभिमानी नहीं था अतः उसमें विनय जागरूक था और इसीलिए उसने अविलम्ब अपनी भूल को स्वीकार कर लिया किन्तु जो व्यक्ति अभिमानी होते हैं वे अपनी हानि होने पर भी बात को नहीं छोड़ते। हम प्रायः देखते हैं कि अनेक बार भाई-भाई में या परिचितों में भी किसी चीज या बात पर खटक हो जाती है तो महीनों वे अदालतों के चक्कर काट लेते हैं, जितने का नुकसान हुआ होता है या एक दूसरे का छीना हुआ होता है उससे अनेक गुना अधिक पैसा वे वकीलों और कोर्टों में बिगाड़ देते हैं, किन्तु अपने मान को त्यागकर सुलह नहीं करते। हानि होने की अपेक्षा उन्हें मान भंग होना अधिक बुरा लगता है।

रावण ने सीता का हरण किया था। पर उसके यह नियम थे कि मैं किसी भी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं अपनाऊँगा। सीता को अपने अनुकूल बनाने के लिये भी उसने अनेक प्रयत्न किये किन्तु सफल नहीं हुआ और भविष्य में सफलता प्राप्त होने की आशा भी नहीं थी।

ऐसी स्थिति में उसकी सती-साध्वी पत्नी मंदोदरी और अनुज विभीषण ने बहुत समझाया कि—'अब सीता आपके अनुकूल होगी ऐसी आशा नहीं है तो व्यर्थ ही झगड़ा बढ़ाने से क्या लाभ है ? सीता को पुनः राम के पास पहुँचा दीजिये।'

किन्तु केवल अभिमान के कारण रावण ने ऐसा नहीं किया तथा कड़क कर उत्तर दिया—"ऐसा कैसे हो सकता है ? क्या मैं अपने हाथों ही अपनी नाक कटवाऊँगा।"

और अन्त में क्या हुआ ? यह आप सब जानते ही हैं कि रावण की गलती का प्रायश्चित केवल रावण को ही नहीं उसके पूरे परिवार, प्रजा एवं सम्पूर्ण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लंका को भोगना पड़ा। भोगना पड़ेगा, यह रावण भी जान गया था किन्तु मारे अहंकार के अन्त तक भी उसने सीता को लौटाया नहीं।

यह है मान अथवा अहंकार का नमूना जो बताता है कि सर्वस्व नष्ट हो जाने पर भी मानी कभी झुकता नहीं, क्योंकि मान के आते ही विनय गुण का तो लोप हो ही जाता है।

मान के पश्चात् तीसरा कषाय है कपट अथवा माया। श्लोक में कहा गया है—"माया मित्ताणि नासेइ" यानी माया मित्रता का नाश करती है। इसके विषय में सर्वप्रथम यह जानने की आवश्यकता है कि माया अपना कार्य बड़ी सूक्ष्मता से और छिपे तौर पर करती है। क्रोध तो कहा जाता है कि मनुष्य के कपाल में निवास करता है और उसका आक्रमण होते ही वह आँखों में झलकने लगता है। तत्पश्चात् जबान पर आकर अपना रूप प्रकट कर देता है। इसी प्रकार अहंकार भी पहले तो गर्दन को अकड़ा देता है और फिर वाणी में उतर आता है।

किन्तु माया अथवा कपट का कोई चिह्न बाहर दिखाई नहीं देता। वह व्यक्ति के पेट में घुसा रहकर ही अपना काम करता रहता है।

एक संस्कृत के कवि ने कपटी अथवा धूर्त पुरुष के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

"मुखं पद्मदलाकारं, वाचा चन्दनशीतला।
हृदयं कर्तरीतुल्यं, धूर्तस्य त्रय लक्षणम्॥"

मुँह कमल के समान खिला हुआ, वचन में चन्दन के समान शीतलता पर हृदय कैंची की तरह कुटिल, ये तीन लक्षण धूर्त व्यक्तियों के होते हैं।

वस्तुतः क्रोध और मान तो बाह्य व्यवहार के द्वारा पहचान लिये जाते हैं, किन्तु माया छिपी रहती है अतः उसका वार अचानक और अधिक घातक होता है।

कपटी मित्र का कुचक्र

एक सेठ के दो पुत्र थे। वह मरने लगा तो उसने अपने दोनों पुत्रों को बुलाकर अन्तिम आदेश दिया—"पुत्रो! मेरी यह अन्तिम इच्छा है कि तुम दोनों मेरे मरने के बाद सम्पूर्ण जायदाद का बटवारा प्रेम से कर लेना। झगड़ा मत करना।

पुत्रों ने पिता की बात मान ली और उनके देहान्त के कुछ दिन बाद वे दोनों अलग-अलग हो गए। बँटवारा करते समय सारी सम्पत्ति तो ठीक से बँट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गई पर एक कटोरी बची रह गई। बड़े भाई ने वह कटोरी छोटे भाई को दे दी।

अब दोनों अपना-अपना कारोबार देखने लगे। सौभाग्यवश छोटे भाई का कारोबार बहुत अच्छा चल निकला और उसके पास बड़े भाई की अपेक्षा अधिक धन हो गया।

उसी गाँव में सेठ जी का एक कपटी मित्र रहता था, जो सदा सेठ की सम्पत्ति देखकर जला करता था और किसी न किसी उपाय से उनके धन का विनाश करने की इच्छा रखता था। सेठ जी के जीवित रहते तो उसकी दाल गली नहीं किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् उसने अपनी योजना पूरी करने की स्कीम बनाई।

वह कपटी मित्र सेठ जी से बड़ा स्नेह-पूर्ण सम्बन्ध रखता था, यह उनके दोनों पुत्रों को मालूम था अतः पिता के मरने के पश्चात् भी वे उसका आदर और सम्मान करते रहे तथा समय-समय पर अपने पिता के मित्र को बुजुर्ग मानकर उनसे सलाह-मशविरा लेते रहे।

सेठ जी के मित्र को बँटवारे में बची हुई कटोरी का पता था और यह भी पता था कि वह कटोरी छोटे को दी गई है। इधर छोटे भाई का काम-काज भी बहुत अच्छा चल रहा था। ठीक इसी सयय सेठ के उस मित्र के हृदय में कपट ने काम करना प्रारम्भ कर दिया और उसके परिणामस्वरूप उसने बड़े भाई से जाकर कहा—"बेटा ! मुझे कहना तो नहीं चाहिए किन्तु तुम्हारे हित के लिए कहता हूँ कि तुमने जो कटोरी अपने छोटे भाई को बँटवारे के समय दी थी वह 'देवनामी' कटोरी थी और जिसके पास वह रहेगी, उसकी ऋद्धि सदा दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ेगी। अतः अपना भला चाहो तो कटोरी तुम वापिस ले लो।

इसी प्रकार वह छोटे भाई के पास गया और उससे बोला—"तुम्हारा बड़ा भाई तुम्हारे बढ़ते हुए धन को देखकर जलने लग गया है और कटोरी के बहाने तुमसे झगड़ा करना चाहता है।"

इस प्रकार उस मायावी मित्र ने दोनों में झगड़ा करवा दिया और एक कटोरी को लेकर दोनों भाइयों ने सम्पत्ति के लिए कचहरी-कोर्ट तक पहुँच कर अपना सब धन बरबाद कर दिया।

यह दुखद परिणाम केवल एक कपटी के कपट के कारण निकला था। मायावी आत्माएँ इसी प्रकार छिपे-छिपे लोगों का अनिष्ट करने की ताक में रहती हैं। पर वे भूल जाती हैं कि वर्तमान में तो छिपे तौर पर हम औरों का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बुरा कर लेंगे किन्तु भविष्य में जब कर्म-फल भोगने का समय आएगा तब यह चातुरी नहीं चल सकेगी। कहा भी है—

"भुवनं वञ्चयमाना, वंचयन्ति स्वमेवहि।"

—उपदेशप्रासाद

जगत को ठगते हुए कपटी पुरुष वास्तव में अपने आपको ही ठगते हैं।

ऐसा क्यों कहा गया है ? इसलिए कि—

"माया तैर्यग्योनस्य" माया करने से तिर्यंच योनि प्राप्त होती है। जिस प्रकार माया टेढ़ेपन से अपना कार्य करती है उसी प्रकार माया के कारण प्राप्त तिर्यंच प्राणी टेढ़े-तिरछे चलते हैं। इस प्रकार माया आत्मा को पतित बनाकर दुर्गति में डाल देती है।

माया के पश्चात् चौथा कषाय लोभ आता है। इसके लिए भी बताई हुई गाथा में कहा गया है—'लोहो सव्व विणासणो।' अर्थात् लोभ तो मनुष्य के सर्वस्व का विनाश कर देता है। लोभ कषाय का वर्णन करते हुए शास्त्र कहते हैं कि संसारी प्राणी इतने असन्तोष शील हैं कि किसी भी अवस्था में उनकी इच्छाएँ, तृष्णाएँ और कामनाएँ पूरी नहीं हो सकतीं।

वस्तुतः जब तक लोभ विद्यमान रहता है, तब तक इच्छाओं का अन्त नहीं आता और जब उनका अन्त नहीं आता तब तक उनकी तृप्ति सम्भव भी कैसे हो सकती है ?

भर्तृहरि ने अपने श्लोक में लोभी मनुष्य के मन की दशा का वर्णन करते हुए कहा है—

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित्फलम्।
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमान उचितं सेवा कृता निष्फला॥
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशंकया काकवत्।
तृष्णे दुर्मति! पापकर्म निरते नाद्यापि संतुष्यति॥

तृष्णा के मारे हुए एक व्यक्ति का कथन है—मैं अनेक दुर्गम और कठिन स्थानों में घूमता फिरा, पर कुछ भी फल नहीं निकला। मैंने अपनी जाति और अपने कुल के अभिमान का त्याग कर पराई चाकरी भी की; पर उससे भी कुछ न मिला। शेष में मैं कौए की तरह उड़ता हुआ और अपमान सहता हुआ, पराये घरों के टुकड़े भी खाता फिरा। हे पाप-कर्म कराने वाली और कुमति दायिनी तृष्णे ! क्या तुझे इतने पर भी सन्तोष नहीं हुआ ?

कहने का अभिप्राय यही है कि तृष्णा वास्तव में एक अग्नि के समान है। अग्नि में ज्यों-ज्यों ईंधन डाला जाता है, त्यों-त्यों वह शांत होने के बजाय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ती चली जाती है। अतः हृदय में सतत जलनेवाली इस लोभ-रूपी अग्नि को धन-वैभव से शांत करने का प्रयत्न करना निरर्थक ही नहीं वरन विपरीत कार्य है।

इसीलिए विवेकी पुरुष ऐसे मूर्खतापूर्ण प्रयास नहीं करते अर्थात् वैरभाव को शांत करने के लिए धन का नहीं वरन् सन्तोषवृत्ति का प्रयोग करते हैं।

किसी कवि ने लोभी मनुष्य को समझाने की कोशिश करते हुए अपने एक पद्य में बड़ी सुन्दर शिक्षा दी है—

जो कुछ विधाता तेरे लिख्यो लिलाट पाट,
ताही पर अपनो आप अमल कर ले।
सोने को सुमेर भावे देख बार पार माँझ,
घटै बढ़ै नहीं यह निश्चय जिय भर ले॥
देवीदास कहे जोई होनहार सोई होइ है,
मन में विचार रैन दिन अनुसर ले।
बापी कूप सरिता भरे हैं सात सागर पैं,
तू तो तेरे बासन-समान पानी भर ले॥

देवीदास जी कहते हैं—अरे मानव। विधाता ने तेरे ललाट में जो कुछ लिखा है वही होने वाला है अतः तू जो प्रयास करता है, अरे उसका जो कुछ भी फल प्राप्त होता है, उतने में ही संतोष रख। भले ही किसी व्यक्ति के समक्ष सुमेरु पर्वत जितना बड़ा सोने का ढ़ेर क्यों न हो, उसे उतना ही प्राप्त हो सकेगा जितना उसकी तकदीर में होगा। उससे न कम होगा और न अधिक मिल सकेगा। इस बात को निश्चय समझना चाहिये।

कवि का कथन है—"अरे भाई ! जो होनहार है, वही होगा, इस बात को कभी मत भूल तथा इस बात के अनुसार रात-दिन सजग रहकर संतोष पूर्वक मिले हुए पर ही प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ कुछ आत्म-कल्याण के लिये प्रयत्न करता रह। इस संसार में ज्ञान का अगाध भंडार है। अनेक शास्त्र, धर्मग्रन्थ, गुरु, तथा महापुरुष अपने में विशाल ज्ञान लिये हुए हैं। अतः तुझसे जितना ज्ञान हासिल किया जा सके करले। जिस प्रकार कुए, बावड़ी, नदी, तालाब और समुद्रों में अथाह पानी होता है, किन्तु मनुष्य उसमें से उतना ही ले सकता है, जितना बड़ा उसके पास पात्र होता है।

तो अधिक की लालसा न रखकर व्यक्ति को अपने पास के बर्तन को भर कर संतुष्ट हो जाना चाहिये, उसी प्रकार जितनी अपनी बुद्धि और योग्यता हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उतना ज्ञान प्राप्त करके भी उसका समुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिये।

ध्यान में रखने की बात है कि मनुष्य बहुत अधिक पढ़ लिखकर भी अगर उसे जीवन में न उतारे तो अपने ज्ञान का किंचित् भी लाभ नहीं उठा सकता। और इसके विपरीत थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करके भी, या गुरु के दो शब्द सुनकर उन्हें दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर ले तो अपनी आत्मा का उत्थान कर सकता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि मुमुक्षु प्राणी को क्रोध, मान, माया, तथा लोभ, इन चारों कषायों का त्याग करके अपने चारित्र को निर्मल बनाना चाहिए। चारित्र को शुद्ध बनाने में संस्कारों का बड़ा भारी हाथ होता है, यह प्रारम्भ में मैंने आपको बताया ही है। इसलिये उसे सदा सन्त-पुरुषों का समागम करके उत्तम संस्कार अपनाने चाहिए और उत्तम गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

जीवन को श्रेष्ठ बनाने में संस्कार सबसे मुख्य वस्तु होती है। संस्कारों की उत्कृष्टता एक दिन जीव को अरिहंत बना सकती है। मारवाड़ी भाषा में एक बड़ा सुन्दर दोहा कहा गया है—

सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म-मैल को आन्तरो, बूझे बिरला कोय।

अर्थात्—प्रत्येक जीव सिद्ध के जैसा ही है क्योंकि जीव ही सिद्धत्व को प्राप्त करता है। जीव और सिद्ध में अन्तर केवल कर्मों का है। जब तक आत्मा पर पाप कर्मों की मलीनता बनी रहती है वह परमात्मापद की प्राप्ति नहीं कर पाती और जिस दिन वह मलिनता हट जाती है आत्मा सिद्ध, बुद्ध, अरिहंत कहलाने लगती है।

आज का युग भौतिकता का युग है। भौतिक जीवन की चमक-दमक और प्रलोभन के कारण मनुष्य अपनी आत्मा के महत्त्व को भूलता जा रहा है। वह अपने बाह्य जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। अपने शरीर को स्वस्थ और सबल बनाने की कोशिश करता है, अपनी ख्याति और सम्मान बढ़ाने के लिए अपने ज्ञान का और तर्कों का अंधाधुंध प्रयोग करके लोगों पर अपना सिक्का जमाने के प्रयास में रहता है।

पर यह सब क्या साबित करता है ? यही कि जैसे एक मन्दिर को सजाया जाय, उसकी दीवारों पर अद्वितीय कारीगरी और नक्काशी की जाय, उस पर सोने का कलश चढ़ाया जाय और झंडियों तथा पताकाओं को लहराकर उसके प्रभाव को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय, किन्तु उस मन्दिर के अन्दर भगवान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की प्रतिमा की स्थापना हो ही नहीं और अगर प्रतिमा हो तो उसकी कोई परवाह या चिन्ता की ही न जाय। चाहे प्रतिमा पर धूल की पर्त जमी हो, वह खंडित हो गई हो, या सर्वथा उपेक्षित अवस्था में पड़ी हो। ऐसा होने पर उस मन्दिर की समस्त बाहरी शोभा या सजावट किस काम की ? किसी काम की नहीं।

इसीप्रकार केवल बाह्य जीवन को समृद्ध और भौतिक सुख से परिपूर्ण बनाने का प्रयास करना आत्मा-रूपी भगवान की प्रतिमा की उपेक्षा करना है। जो व्यक्ति आत्मा के यथार्थ रूप का ज्ञान नहीं करता, उसके शुद्ध और सहज स्वरूप की पहचान नहीं करता तो उसकी समस्त बाह्य क्रियाएँ और पुरुषार्थ व्यर्थ है।

इसलिए यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि हमारी आत्मा में अनन्तशक्ति है ! केवल सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति और मोह की सुदृढ़ चादर से वह ढक गई है। इसी के परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने मन और इन्द्रियों के वश में हो जाता है। वासना, कामना, और विषयासक्ति के फेर में पड़कर आत्मा के सम्यक्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को भी उपेक्षा कर जाता है तथा इसके फलस्वरूप त्रिविध तापों से पीड़ित बना रहता है। अगर मानव मोहासक्ति की उस चादर को अपनी आत्मा पर से हटा सके तो फिर आत्मा की अनन्तशक्ति के समक्ष संसार का कोई भी प्रलोभन नहीं टिक सकता।

ध्यान में रखने की बात है कि आत्मा की शक्ति काम तो करती ही है, किन्तु उसके मोहावृत्त होने के कारण उसके कार्य मोह बढ़ाने वाले होते हैं और मोह अगर नष्ट हो जाय तो उसके कार्य आत्म-साधना में सहायक बन जाते हैं। इसलिए मनुष्य को विस्मृति से जागकर अपनी आत्मा की तथा उसकी अनन्त शक्ति की पहचान करना चाहिए और जीवन को उत्तम संस्कारों से विभूषित करके आत्मा-रूपी पावन प्रतिमा को कर्ममल रहित बनाने के प्रयत्न में जुड़ जाना चाहिए।

ऐसा करने पर ही आत्मा की अलौकिक ज्योति अपने शुद्ध रूप में प्रगट होगी और वह जन्म-मरण के दुखदायी चक्र से अपने आपको सदा सर्वदा के लिये मुक्त करके परमात्म-पद की प्राप्ति कर सकेगी।

●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२८ कषायों को जीतो !

धर्मप्रेमी बंधुओ माताओ एवं बहनो !

आज मुझे एक भजन की दो लाइनें याद आ रही हैं—

जिया मतकर बहुत पसारा,
तू चलता है बनजारा।

ये लाइनें बहुत सरल और स्पष्ट लिखी गई हैं। न इनमें शब्दों का आडम्बर है और न भाषा की जटिलता। किन्तु इनका भाव अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। कवि ने आत्मा को बनजारे की उपमा देकर प्रतिबोध दिया है—"अरे चेतन ! तू चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए नाना प्रकार के असह्य दुख सहता हुआ इस मनुष्ययोनि में आ पाया है। अतः अब अधिक 'पसारा' मत कर।'

अधिक पसारे से तात्पर्य है अपने मन को सांसारिक पदार्थों में अधिक से अधिक आसक्त रखना तथा मोह जाल को बढ़ाना। साधारण शब्दों में हम पसारे से अपने सामने रही हुई वस्तुओं की अधिकता से तात्पर्य लेते हैं। अर्थात् किसी भी काम को करते समय बिना जरूरत की बिखरी हुई अगर अधिक संख्या में जो चीज पड़ी रहती हैं, उनके लिए कहते हैं—"पसारा समेटो !"

यहाँ भी पसारा शब्द का यही अभिप्राय है। जीवन में जितना भौतिक पदार्थों का संग्रह करेंगे वह बाह्य पसारे की गिनती में आएगा और उनके प्रति जो आसक्ति और ममत्व होगा वह आंतरिक पसारे में गिना जाएगा। बाह्य पसारा ही आंतरिक पसारे को जन्म देता है।

तो कवि ने प्राणी से यही कहा कि—'भोले जीव' बाहर का परिग्रह अधिक मत बढ़ा क्योंकि यह जितना बढ़ता जाएगा, तेरी आत्मा इसमें उतनी ही लिप्त होती जाएगी और उसके भोग तथा सुरक्षा में तेरा जीवन समाप्त हो जाएगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और अन्त में अपनी आत्मा के कल्याण के लिए कुछ भी बिना किये तू एक दिन बनजारे के समान ही यहाँ से चल देगा ।

कवि का कथन—'तू चलता है बनजारा' यह आत्मा के लिए सर्वथा उपयुक्त है । आत्मा अनंतकाल से भिन्न-भिन्न योनियों में भटक रही है । एक योनि प्राप्त की और अल्प समय के पश्चात् ही उसे छोड़कर यानी पूर्व शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करने चल देती है । जिस प्रकार बनजारे एक स्थान पर पहुंचते हैं और कुछ समय पश्चात् ही अपना डेरा उठाकर अन्य स्थान के लिए प्रयाण कर देते हैं । इसी दृष्टि से आत्मा को बनजारा कहा गया है ।

बंधुओ, अब हमें यह देखना है कि संसार का पसारा क्यों बढ़ता है ? इसका अन्दाज लगाना कठिन नहीं है कि लोभ, मोह आसक्ति एवं भोगोपभोगों की इच्छाएँ हमारे परिग्रह को बढ़ाती हैं और मन को ललचाकर उनके जाल में मकड़ी के समान फँसा देती हैं ।

कल मैंने आपको बताया था कि क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय आत्मा के लिये नरकगति का उपार्जन करते हैं तथा इसलोक और परलोक दोनों के लिए उद्वेगकर बनते हुए सच्चे सुख से दूर ले जाते हैं । एक गाथा के द्वारा कल यह भी बताया था कि क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मित्रता को मिटानेवाली है और लोभ तो सभी कुछ नष्ट कर देता है । अतः आज शास्त्र की एक दूसरी गाथा के द्वारा यह बताता हूं कि क्रोध, मान, माया एवं लोभ को किस प्रकार जीता जा सकता है । गाथा दशवैकालिक सूत्र की है और इसमें भगवान ने कहा है—

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोषओ जिणे ॥

क्रोध को शांति से, मान को कोमलता से, माया को सरलता से और लोभ को संतोषवृत्ति से जीता जा सकता है ।

वस्तुतः चारों कषाय आत्मा के लिए हानिकारक है । पर इन चारों में क्रोध का स्थान प्रमुख है । यह वह भयंकर अग्नि है जो कि आत्मा में प्रज्वलित होने पर उसे कहीं का नहीं रखती । कहा भी है—

उत्पद्यमानः प्रथमं, दहत्येव स्वमाश्रयम् ।
क्रोधः कृशानुवत्पश्चादन्यं दहति वा न वा ॥

अर्थात् क्रोध रूपी आग सर्वप्रथम अपने आश्रयस्थान स्वयं को ही जलाती है । तत्पश्चात् दूसरे को तो जलावे या नहीं भी जलावे ।

इसलिए आत्मार्थी साधक को सर्वप्रथम क्रोध को जीतने का प्रयत्न करना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए और उसे केवल शांति, समभाव या क्षमा से ही जीता जा सकता है। जिस प्रकार रक्त रंजित वस्त्र रक्त से नहीं धुल सकता इसीप्रकार क्रोध को प्रतिकारक क्रोध, उत्तेजना, आवेश अथवा वैर से नहीं हो सकता। क्रोध के शमन का सर्वोत्तम उपाय समभाव है।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि एक तरफ तो व्यक्ति करोड़ पूर्व तक नाना प्रकार की तपस्या करता है तथा दूसरी ओर एक व्यक्ति पूर्ण समभाव द्वारा किसी व्यक्ति की कड़वी बात को सहन करता है। पर अगर दोनों की तुलना की जाय तो करोड़ पूर्व तक तपश्चर्या करनेवाले की अपेक्षा समभावपूर्वक किसी का एक दुर्वचन सहन करने वाला अपने कर्मों की अधिक निर्जरा कर लेता है। अतः प्रत्येक साधक को अपने क्रोध की मात्रा का अधिक से अधिक परित्याग करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि क्रोध भी चार प्रकार का होता है और जो सबसे निकृष्ट होता है वह जन्म-जन्मातर तक भी वैर का बंधन किये रहता है।

संस्कृत के एक श्लोक में बताया गया है --

उत्तमस्य क्षणं कोपः मध्यमस्य घटीद्वयम्।
अधमस्य त्वहोरात्रि, पापानां मरणान्तकः॥

अर्थात्---उत्तम पुरुषों का क्रोध अत्यल्पकाल तक रहता है, मध्यम व्यक्तियों का दो घड़ी तक, नीच व्यक्तियों का दिन-रात तक, किन्तु जो पापात्मा हैं उनका क्रोध तो जन्मपर्यंत बना रहता है।

तो बंधुओ, हमें प्रयत्न तो क्रोध कषाय के सर्वथा नाश करने का ही करना चाहिए, फिर भी अगर ऐसा न हो पाए तो उत्तम पुरुषों के समान उसे आते ही शीघ्रातिशीघ्र विदा करने की इच्छा तो रखनी ही चाहिए। जो व्यक्ति विवेकवान और चतुर होते हैं वे अपने प्रयत्न में अवश्य सफल होते हैं तथा जहाँ वे अपने क्रोध को जीतते हैं, वहाँ सामने वाले क्रोधी व्यक्ति के क्रोध को भी शांत करने की शक्ति अपने आप में जागृत कर लेते हैं। प्रसंग वश ऐसा ही एक उदाहरण सामने रखता हूँ जिसमें चतुर बहू ने अपनी क्रोधी स्वभाव की सासु के क्रोध को भी अपनी बुद्धि से शांत बना लिया।

क्रोध का उपचार—

एक सेठ थे। बड़े ऐश्वर्यशाली एवं समाज में भी प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति थे। किन्तु दुर्भाग्य से उनकी पत्नी यानी सेठानी अत्यन्त क्रोधी स्वभाव की थी। अतः सभी तरह से सुखी होने पर भी सेठ जी अपनी पत्नी की ओर से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुःखी रहते थे। उसे शांत करने के लिए उन्होंने बहुत प्रयत्न भी किये किन्तु सफल नहीं हो सके।

सेठ जी के चार पुत्र थे। चारों ही सुशील और योग्य थे। उनमें से तीन का विवाह हो गया था, चौथे का करना था। सेठजी ने विचार किया कि अगर मेरे घर में चौथी पुत्र-वधू ऐसी आ आय, जो कि अपनी सास के स्वभाव को शांत बना सके तो बड़ा अच्छा रहे। उन्होंने इसी दृष्टि से किसी सुलक्षणा, चतुर एवं शांतस्वभाव की कन्या खोजनी प्रारम्भ की। अंत में अपनी खोज के अनुसार उन्होंने कन्या ढूँढ़ी और चौथे पुत्र का विवाह कर दिया। विवाह के पश्चात् सेठजी ने छोटी पुत्र-वधू से अपने मन की बात जाहिर की तथा उससे कहा—"किसी भी प्रकार से तुम्हें अपनी सास के स्वभाव को बदलना है।" बहू ने ससुर की आज्ञा को शिरोधार्य किया तथा उन्हें इस बात का विश्वास दिलाया।

अब चारों बहुओं ने विचार-विमर्ष किया तथा अपनी सास को समझाने की दृष्टि से वे उसके पास आईं। किन्तु सास के पास पहुँचने से पहले तीनों बड़ी बहुओं ने तय कर लिया था कि वे कुछ नहीं बोलेंगीं छोटी बहु चतुर है अतः वह बात करेगी।

तो जब वे लोग संगठित होकर सास के पास पहुंचीं तो प्रथम तो चारों को एक साथ देखकर ही—सेठानी भड़क उठी। बोली—'तुम चारों इकठ्ठी होकर आई हो ? क्या जरूरत पड़ गई ? झगड़ा करना है क्या ?

सास के स्वभाव से बहुएँ परिचित थीं और अतः शांत रहीं। केवल छोटी बहू विनय पूर्वक बोली—"माताजी ! हम झगड़ा करने नहीं आईं केवल आपसे एक प्रार्थना करने आईं हैं,"

"प्रार्थना ? कैसी प्रार्थना ?" सेठानी रोषपूर्वक बोली।

"यही कि अपना घर गांव में सबसे बड़ा हैं। हमारे पास धन, इज्जत परिवार सभी कुछ है। किसी चीज की कमी नहीं। किन्तु आप थोड़ा कटु बोल जाती हैं अतः लोगों से झगड़ा हो जाता है। इसी बजह से हमें भी दो शब्द सुनने पड़ते हैं।"

"तो मैं क्या करूँ ? मेरा स्वभाव ही जो है। तुम्हें इसकी पंचायत करने की क्या जरूरत पड़ गई ?"

सेठानी को आग-बबूला देखकर भी छोटी बहू नम्रतापूर्वक बोली—"हम यह चाहती है कि आपको जो कुछ भी और जितना भी कहना-सुनना हो वह हम चारों से ही कहा करें। हम बारी-बारी से आपके पास रोज रहेंगी। इससे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह होगा कि गांव में कोई आपकी निन्दा नहीं करेगा और सब आपके ही गुण-गान करेंगे।"

गाँव में निन्दा की बात सेठानी की समझ में कुछ आई और वह मुँह से कुछ नहीं बोली, केवल कुप्पे के समान मुँह फुलाए बैठी रही। छोटी बहू ने सास की चुप्पी को स्वीकृति समझ लिया और अपनी जिठानियों को इशारे से बुलाकर अन्दर चली गई।

उस दिन की बातचीत का परिणाम यह हुआ कि सेठानीजी ने बाहर के व्यक्तियों से लड़ना छोड़ दिया और चूँकि एक न एक बहू अपनी-अपनी बारी से उनके सामने रहती थी अतः उनसे ही झगड़ना और जली-कटी सुनाना चालू रखा। छोटी बहू ने भी अपनी जिठानियों से अत्यन्त प्रेम और नम्रतापूर्वक कह दिया—"मैं छोटी हूं और मुझे आप लोगों को शिक्षा देना शोभा नहीं देता पर हमारे घर में शांति स्थापित करने के लिये आपसे विनय है कि अपनी सासुजी कुछ भी कहें, एक भी बात का कड़वा उत्तर हमें नहीं देना है।"

सभी बहुएँ सुयोग्य थीं अतः उन्हें इस बात में क्या एतराज होता? उन्होंने भी निश्चय कर लिया कि कुछ भी क्यों न सुनना पड़े कुछ दिन हम सभी-कुछ सहन करेंगी। और इस निश्चय के साथ प्रतिदिन एक बहु सास के पास अधिक रहने लगी और उनकी कटु और कड़वी बातों को शांति से सहने लगी।

इस प्रकार दो महीने व्यतीत हो गए तथा सेठानीजी का बाहर के व्यक्तियों से झगड़ना तो बन्द हो गया पर घर में रोज किसी न किसी बहु की शामत आती और उसे कटूक्तियां सुननी पड़ती। अतः छोटी बहु ने विचार किया कि किसी प्रकार अब सासुजी का घर में झगड़ना भी मिटाना चाहिए।

इस विचार के साथ जब उसकी सास के समीप रहने की बारी आई तो उस दिन वह सुबह-सुबह ही दही और बासी रोटी खाने बैठ गई। यह देखते ही सेठानी अत्यन्त क्रोधित होकर बोली—"कैसे भूखे घराने की लड़की आई है। दिन निकला नहीं कि खाना शुरू कर दिया। क्या दिन में खाने को नहीं मिलता?"

छोटी बहु एक शब्द भी नहीं बोली। केवल सेठानी ही जो मन में आया कहती रही। पर आखिर अकेली वह कब तक बोलती? थक गई तो चुप हो गई।

वास्तव में ही सुनने वाला व्यक्ति अगर क्षमावान हो तो क्रोधी अकेला

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कब तक बोलेगा ? थक कर चुप होगा ही मराठी में सन्त तुकाराम जी भी कहते हैं :—

"क्षमा शस्त्र ज्या नरा चिया हाती,
दुष्ट तया प्रति काय करी ?
तृण नाही जेथे पड़िला दावाग्नि,
जाय तो विझूनी आपसया।"

ज्या च्या हातात क्षमा रूपी शस्त्र आहे त्याच्या पुढे दुष्ट मनुष्य सुद्धा काय करू शकेला ?

यानी, जिसके हाथ में क्षमा रूपी शस्त्र हो, उसके ऊपर दुष्ट स्वभाव वाला बरसकर भी क्या करेगा ? दृष्टांत बड़ा अच्छा तुकाराम जी ने दिया है कि जहाँ घास-फूस नहीं होगा, वहाँ आग गिरेगी भी तो किसको जलाएगी ?

तो मैं यह कह रहा था कि छोटी बहू जब नहीं बोली तो सेठानी कुछ शांत होने लगी किन्तु बहू को तो आज झगड़े की समाप्ति ही करनी थी अतः उसने मन में कुछ विचार किया और स्वयं रोटी का ग्रास खाकर रोटी का एक टुकड़ा सास को दिखाती हुई उसके सामने हिलाने लगी।

यह देखकर सास आपे में न रही और बुरी तरह से भड़ककर बोली— "बेशर्म, तू मुझे कुतिया समझती है क्या ?"

बहू फिर भी चुप रही, पर सेठानी तो जो मुँह में आया बकती-झकती रही, बहुत देर तक। आखिर जब बोलते-बोलते बुरी तरह थक गई और पसीना-पसीना हो गई तो चुप हुई। जब सास शांत हुई तब मौका देखकर बहू बोली—

"माता जी ! आप मेरी माके समान हैं, हमारी बुजुर्ग है, घर में सबसे बड़ी हैं। भला आप को मैं कुतिया समझ सकती हूं ?"

"मेरे सामने रोटी का टुकड़ा क्यों हिलाया था ?" सास ने अबकी बार बिना बके-झके पूछा। बहू ने उत्तर दिया —

"वह टुकड़ा मैंने आपके सामने नहीं हिलाया था। आपके हृदय में जो क्रोध-रूपी कुत्ता घुसा बैठा था, उसके सामने हिलाया था।"

सेठानी थक-थकाकर शांत बैठी थी, अतः उसने अब गहराई से विचार किया तो उसकी समझ में आया कि—"बहू का कहना वास्तव में सत्य है। मुझ में क्रोध-रूपी कुत्ता ही घुसा हुआ था जो मुझे इस प्रकार बुराई का घर बनाए हुए था। आखिर क्रोध करने से मुझे क्या लाभ होता है ? कुछ भी नहीं, उलटे घर में अशांति होती है और निन्दा का पात्र बनना पड़ता है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार के विचार आते ही सेठानी ने अपने क्रोध का परित्याग कर दिया और पूर्ण समभाव व शांति से जीवन व्यतीत करने लगी।

इस प्रकार सुशील और चतुर बहू ने शांति के द्वारा अपनी कर्कशा और अत्यन्त झगड़ालू सास को भी सुधार लिया और उसे सन्मार्ग पर ले आई।

उदाहरण देने का अभिप्राय यही है कि अगर मानव अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम क्रोध को जीतना चाहिये। क्रोध को जीते बिना वह साधना के महापथ पर एक कदम भी नहीं रख सकता।

कषाय-चतुष्क में अब दूसरा नंबर है मान का। अभिमान भी जीवन के लिए घोर अनिष्टकारी है। यह साधक के सम्पूर्ण जीवन की साधना संयम, तप एवं अन्य उत्तम गुणों को नष्ट कर देता हैं। बाहुबलि को केवल अभिमान के कारण ही केवलज्ञान की प्राप्ति होने से रुकी रही। जब तक उनके हृदय से मान नहीं गया केवलज्ञान उन पर मंडराता रहकर भी प्राप्त नहीं हुआ और जिस क्षण मान उनकी आत्मा से निकला, उसी क्षण वे उस दुर्लभ ज्ञान के धनी बन गये।

अभिमान भी आत्मिक गुणों का घोर शत्रु है और नाना बुराइयों को जन्म देने वाला है। रावण, कंस और दुर्योधन आदि को विनाश की ओर ले जाने वाला तथा कुल सहित नष्ट करने वाला अभिमान ही था। इसलिये साधक को साधना-पथ पर बढ़ने से पहले ही मान का नाश करके आत्मा में विनय की स्थापना करनी चाहिये। जब तक हृदय में अभिमान जागृत रहेगा, विनय गुण का आविर्भाव नहीं हो सकेगा और विनय के अभाव में ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं होगी। और जब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी, मनुष्य धर्म, अधर्म, के अंतर को भी जान नहीं सकेगा।

अभिमान हृदय में क्यों रहता है, इस विषय में संस्कृत के एक सुभाषित में शेष नाग और बिच्छू का उदाहरण देकर बताया गया हैं कि अपूर्णता हृदय में मल को जन्म देती है। श्लोक इस प्रकार है—

विषभार सहस्रेण वासुकि र्नैव गर्विता।
वृश्चिको स्तोकमात्रेण, सोऽर्वं वहति कंटकम्।

वैष्णव सम्प्रदाय में माना जाता है कि पृथ्वी का भार शेषनाग अपने विशाल फन पर उठाये हुए है। वासुकी यानी शेषनाग। तो शेषनाग, जिसके पास हजारों तोला जहर है और जिसने सम्पूर्ण पृथ्वी का भार अनन्तकाल से वहन कर रखा है उसके हृदय में अपनी शक्ति या महत्ता का तनिक भी अभि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान नहीं है। किन्तु वृश्चिक अर्थात् बिच्छू, जिसके पास केवल डंक में तनिक सा विष ही है, और जो कि एक चिमटे से पकड़ लिये जाने पर भी अपने आपको मुक्त नहीं कर सकता ऐसे शक्तिहीन प्राणी के अंदर भी इतना मान है कि वह सदा अपने डंक को उठाये हुए ही चलता है।

इसका कारण क्या है ? यही कि बिच्छू के पास विष और शक्ति दोनों ही थोड़ी मात्रा में है अर्थात् उसमें दोनों की अपूर्णता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति ज्ञान में अपूर्णता रखता है वह भी घमंड के मारे जमीन पर पाँव नहीं रखता। आप एक श्लोक प्रायः बोलते भी हैं

सम्पूर्ण कुम्भो न करोति शब्द—
मर्धो घटो घोषमुपैति नूनम्।

अर्थात्—जो घड़ा पूरा भरा हुआ होता है वह तनिक भी आवाज नहीं करता, किन्तु आधा भरा हुआ घड़ा तेज आवाज करता रहता है।

यही हाल निर्धन और धनी व्यक्ति का होता है। अगर निर्धन को थोड़ा सा भी धन प्राप्त हो जाय तो वह गर्व से गर्दन को अकड़ाए हुए ही चलता है किन्तु जो धनी होता है वह फलों के भार से झुके हुए वृक्ष के समान नम्र बन जाता है।

भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक में भी अपने ही अनुभव से लिखा है—

यदा किञ्चिज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित्किंचित् बुधजनसकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

कवि का कथन है—जब मैं बहुत थोड़ा सा जानता था, तब हाथी के समान मद से अंधा हो रहा था। मैं समझता था कि मैं सर्वज्ञ हूँ। किन्तु जब मुझे बुद्धिमानों की संगति से कुछ ज्ञान हुआ, तब मैंने समझा कि मैं तो कुछ भी नहीं जानता। उस समय मेरा झूठा मद ज्वर की तरह उतर गया।

वस्तुतः जो व्यक्ति थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे यह समझ बैठते हैं कि हम महाज्ञानी हैं और संसार की सारी बुद्धि हमारे ही मस्तिष्क में भरी हुई है। अपनी अल्पज्ञता के कारण वे गर्व से भर जाते हैं और अन्य किसी को कुछ नहीं समझते। किन्तु जब वे कभी अपने से अनेक गुने अधिक बुद्धिमान और ज्ञानवान पुरुषों की संगति में पहुँच जाते हैं तो उनकी आँखें खुलती हैं और उन्हें भान होता है कि उनके पास तो सिंधु में बिन्दु जितना भी ज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। उस समय उनका सम्पूर्ण मान और अभिमान कपूर के समान उड़ जाता है।

उर्दू भाषा के सुप्रसिद्ध शायर 'जौक' ने भी बड़े मनोरंजक शब्दों में कहा है—

हम जानते थे इल्म से कुछ जानेंगे।
जाना तो यह जाना कि हमने न जाना कुछ भी।

सारांश यही है कि ज्ञान होने पर ही व्यक्ति को महसूस होता है कि हम तो कुछ भी नहीं जानते।

कहने का अभिप्राय यही है कि अज्ञानी और अधूरा ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति गर्व से भरा हुआ रहता है। परिणाम यह होता है कि वह अपने सद्-गुणों का क्रमशः नाश करता चला जाता है और अपनी आत्मा को मलीन बनाता हुआ उसे पतन की ओर ले जाता है। अपने अभिमान के कारण वह अन्य व्यक्तियों के मन को दुखाता है तथा कर्मों का बंधन करता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अभिमान पर विजय प्राप्त करनी चाहिये।

दशवैकालिक सूत्र की गाथा में बताया है कि मान को मार्दव अर्थात् कोमलता से जीतना चाहिये। अहंकार व्यक्ति को क्रूर बनाता है और कोमलता उसे शांत करती है।

राम जब वनवास में थे तो निषादों का राना गुह उनका बड़ा भक्त हो गया। गुह राम को अपना भगवान समझकर उनकी सेवा में लगा रहता था। किन्तु वह पढ़ा लिखा नहीं था और न ही उसे शिष्टाचार की बातों का ध्यान था अतः राम को वह सदा स्नेह के आधिक्य में 'तू' कहकर ही सम्बोधित करता था।

निषादराज का इस प्रकार बोलना लक्ष्मण को बुरा लगता था। उनमें क्रोध और बड़प्पन का गर्व था अतः गुह का 'तू' करके राम को बोलना उनसे सहन नहीं हुआ और वे गुह को एक दिन तो मारने के लिये तैयार हो गये।

पर राम ने लक्ष्मण को कोमलता से समझाते हुए कहा—"भाई! तुम गुह की भावनाओं पर ध्यान दो, उसके शब्दों पर नहीं। निषादराज की भक्ति और प्रेम का आदर करते हुए अपने अहं को भूल जाओ, उसे महत्व मत दो।"

भाई के शिक्षाप्रद और कोमल शब्द सुनकर लक्ष्मण अपने गर्व पर लज्जित हुए और उन्होंने क्षमा माँगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार कोमलता और नम्रता से अहंकार को जीता जा सकता है। अन्यथा अहंकारी व्यक्ति त्याग, तपस्या, दान एवं पूजा आदि की कोई भी क्रिया क्यों न करे वह कभी भी शुभ फल प्रदान नहीं कर सकती। गर्व की भावना से की हुई भक्ति और पूजा से कभी भगवान प्रसन्न नहीं होता एक छोटा सा उदाहरण है—

अहंकार से दूषित चढ़ावा

एक श्रीमंत व्यक्ति ने भगवान के मंदिर में एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ चढ़ाने का निश्चय किया। वह मुद्राओं की थैली लेकर मंदिर में गया और थैली को प्रतिमा के समक्ष जोर-जोर से बजाने लगा। मुद्राओं की ध्वनि से लोगों का ध्यान सेठजी की ओर चला गया। सेठ यही चाहते भी थे। जब उन्होंने देखा कि मंदिर में उपस्थित समस्त व्यक्ति उनकी ओर देख रहे हैं, तो उन्होंने थैली में से स्वर्ण मुद्राएँ निकालनी प्रारम्भ कीं और गिन-गिनकर उन्हें भगवान से सामने चढ़ाने लगे। मुद्राएं चढ़ाते समय सेठजी गर्व से फूले नहीं समा रहे थे और विजित दृष्टि से चारों ओर देखते जा रहे थे।

जब सेठजी का मुद्राएँ चढ़ाना समाप्त हो गया तो मंदिर का वृद्ध पुजारी जो कि अब तक एक ओर बैठा हुआ उनका कृत्य देख रहा था, उठकर गंभीरता पूर्वक बोला—'सेठजी ! अपनी स्वर्ण-मुद्राएँ वापिस ले जाइए ये भगवान को नहीं चढ़ सकतीं।"

पुजारी की बात सुनते ही सेठजी दुर्वासा ऋषि के समान क्रोध से भड़क कर बोले— 'क्यों नहीं चढ़ सकतीं ?"

'आपके अहंकार से ये मुद्राएँ दूषित हो गई हैं। दूषित वस्तु भगवान स्वीकार नहीं करते।" पुजारी ने उसी गंभीरता पूर्वक उत्तर दिया।

सेठजी के अहंकार को मानों करारी चोट लगी और उन्हें होश आ गया। उस दिन के पश्चात् उन्होंने कभी इस प्रकार का गर्वपूर्ण दिखावा नहीं किया।

कहने का अभिप्राय यही है कि गर्व से चढ़ाई हुई भेंट को भगवान भी स्वीकार नहीं करते और उससे जो शुभफल प्राप्त होना चाहिये वह कभी प्राप्त नहीं हो सकता। अतः गर्व से सदा बचना चाहिये और उसे अपनी नम्रता एवं विनय से जीतकर आत्मा को शुद्ध बनाना चाहिये।

अब कषायों में तीसरे स्थान पर माया आती है। माया यानी कपट। कपटी व्यक्ति भी साधना के पथ पर नहीं बढ़ सकता। क्योंकि उसके हृदय में सदा ईर्ष्या, द्वेष एवं कटुता बनी रहती है। हमारे शास्त्र माया को शल्य मानते हैं। जिस प्रकार पैर में कांटा चुभ जाने पर व्यक्ति मार्ग में आगे बढ़

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं सकता। उसी प्रकार माया-रूपी शल्य के विद्यमान होने पर भी वह साधना के मार्ग पर नहीं चल सकता।

माया जीवन को नष्ट करने वाली पिशाचिनी के समान है जो आत्मा की समस्त विशेषताओं को ग्रस लेती है और उसे पतन की ओर ले जाकर दुर्गति के अथाह खड्डे में गिराती है।

इसलिये मनुष्य को जितनी जल्दी संभव हो सके स्वयं को उसके चंगुल से छुड़ाकर आत्म-कल्याण के पथ पर बढ़ना चाहिये।

माया को मार्जव अर्थात् सरलता से जीता जा सकता है। जिस व्यक्ति का हृदय सरल और शुद्ध होता है वह कभी किसी का अनिष्ट नहीं चाहता और जब किसी के अनिष्ट की इच्छा हृदय में नहीं होती तो कपट करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। सारांश यह है कि मोक्षाभिलाषी व्यक्ति को अपने हृदय से कपट-भावना को निकाल देना चाहिये, तभी उसका भविष्य उज्वल बन सकता है। अन्यथा आत्मा को दुःख के महासागर में अनन्तकाल तक डूबना-उतराना पड़ेगा।

चौथा कषाय लोभ है। लोभ के विषय में आप सब भली-भांति मानते हैं कि यह कषाय सभी कषायों से निकृष्ट है। शास्त्र की गाथा में बताया भी गया है कि क्रोध स्नेह को, मान विनय को और माया मित्रता को नष्ट करती है। अर्थात् ये तीनों कषाय एक-एक गुण का नाश करते हैं। किन्तु लोभ तो सभी अच्छाइयों को नष्ट कर देता है।

लोभ के वश में पड़ा हुआ व्यक्ति शनैः-शनैः सभी दुर्गुणों को अपना लेता है तथा प्रत्येक कुकर्म करने पर उतारू हो जाता है। भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक में कहा है—

उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो,
निस्तीर्णः सरितांपतिः नृपतयो यत्नेन संतोषिताः।
मंत्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः,
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुंच माम्॥

कहते हैं—"धन प्राप्त कर लेने की आशा में मैंने पृथ्वी को तल तक खोद डाला किन्तु कुछ भी हाथ न लगा। रसायन सिद्ध करने तथा सुवर्ण एवं रजत का निर्माण करने के लिये मैंने अनेक प्रकार की धातुएँ फूँक दीं, समुद्र को रत्नों की खान समझकर उससे मोती निकालने के लिये मैं समुद्र की थाह ले आया, राजाओं की चाकरी से धन प्राप्त होता है यह विचारकर उन्हें भी संतुष्ट करने की पूरी कोशिशें कीं फिर भी धन नहीं मिल सका।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहाँ तक कहूँ ? इस धन की प्राप्ति के लिए मैंने मन्त्रों को सिद्ध करना चाहा और रात-रात भर श्मशान में मुर्दों के पास अकेला बैठा हुआ मंत्र जपता रहा। किन्तु मुझे सदा निराश होना पड़ा और एक फूटी कौड़ी भी कहीं से मेरे हाथ नहीं लगी। इसलिए अरी तृष्णा ! अब तू मेरा पीछा छोड़ दे।

सारांश यही है कि मनुष्य जब लोभ और तृष्णा के फेर में पड़ जाता है तो उसे धन मिले या न मिले उसकी लालसा कभी कम नहीं होती। निर्धन थोड़ा पाने के लिए लालायित रहता है और धनी पास में जितना होता है उससे भी अनेक गुना अधिक प्राप्त करने के लिए बावला रहता है। उसे इस बात का भान नहीं रहता कि धन-ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, यौवन, स्वामित्व सभी अनित्य हैं। ये सब आज हैं पर संभव है कल न रहें। आज इन सबका संयोग हुआ है पर कल वियोग भी हो सकता है। धन को कोई छीन सकता है, चुरा सकता है, व्यापारादि में घाटा आ जाने पर वह चला जा सकता है। इसी प्रकार सब नातेदार निर्धनावस्था के कारण मुँह मोड़ सकते हैं या मृत्यु को प्राप्त होकर भी हम से विलग हो सकते हैं।

अतः अज्ञानी व्यक्ति अगर इनमें मोह और आसक्ति रखता है तो उसका यह लोक तो बिगड़ता ही है परलोक भी अंधकारमय और दुःख पूर्ण हो जाता है। इसलिये प्रत्येक बुद्धिमान और विवेकी पुरुष को संसार की असारता को समझकर किसी भी अनित्य पदार्थ के संयोग होने पर अपनी आत्मा के कल्याण का भाव नहीं भुलाना चाहिये। इस देह-रूपी मंदिर में उसकी आत्मा ही शुद्ध, एवं शाश्वत आनन्द को प्रदान करने वाली है अतः उसे संसार के रागद्वेष, आसक्ति तथा मोहादि से मलिन करना अज्ञान है। और इस अज्ञान को दूर करने के लिये हमें अपनी इन्द्रियों पर प्रतिबंध लगाना चाहिये। मोह को विरक्ति से एवं लोभ को संतोष से जीतना चाहिये।

सूत्रकृतांग में कहा गया है—

"संतोसिणो नो पकरेंति पावं।"

अर्थात्— संतोषी साधक कभी कोई पाप नहीं करते।

जब हृदय में संतोष का आविर्भाव हो जाता है तो व्यक्ति चाहे निर्धन हो या धनी, वह प्रत्येक अवस्था में पूर्ण सुख का अनुभव करता है और वही साधु-पुरुष अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ बनता है।

संतोषी ही साधु कहला सकता है—

एक लघु कथा है कि, किसी राजा को उसके जन्म दिवस पर प्रजाजनों के द्वारा अनेक प्रकार की भेंट प्राप्त हुई। राजा बड़ा प्रजावत्सल और धर्मात्मा पुरुष था। उसने अपने मंत्री से कहा—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"मंत्रिवर ! मेरी प्रजा के द्वारा दिये गए इन उपहारों को तुम साधु-जनों में बांट दो।"

मंत्री राजा की आज्ञा स्वीकार करके नगर की ओर चल दिया। किन्तु जब वह शाम को घर लौटा तो सारे के सारे उपहार ज्यों के त्यों मजदूरों के द्वारा पुनः ले आए गए।

राजा ने यह देखा तो अत्यन्त चकित होकर पूछा—"मंत्री जी, यह क्या आपने एक भी वस्तु किसी साधु को प्रदान नहीं की ऐसा क्यों ?"

मंत्री ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"महाराज ! मैं क्या करता ? मैं दिन भर सारे नगर में घूमा। पर देखा कि जो सच्चे साधु हैं वे तो इतने संतोषी हैं कि इनमें से एक भी वस्तु लेना नहीं चाहते। कहते हैं—'हमें शरीर को चलाने के लिये दो कौर अन्न मिल जाता है, वही हमारे लिये काफी है। इन परिग्रह की चीजों को लेकर क्या करें ? और जो इन वस्तुओं को लेना चाहते हैं वे मुझे साधु नहीं जान पड़ते। इसीलिये आपकी आज्ञा का पालन मैं नहीं कर सका और इन समस्त चीजों को लौटा कर लाना पड़ा।"

बंधुओ, कहने का अभिप्राय यही है कि संतोषी व्यक्ति ही साधु कहला सकता है और ऐसा साधु ही साधना-पथ पर बढ़कर अपनी आत्मा को उसके शुद्ध स्वरूप में ला सकता है।

एक बात और यहाँ ध्यान में रखने की है कि त्यागी वही कहलाता है जो स्वेच्छा से प्राप्त परिग्रह को त्यागता है तथा स्वेच्छा से ही भोगोपभोगों से मुँह मोड़ लेता है। एक निर्धन व्यक्ति जिसके पास रखी कोड़ी भी नहीं है पर धन प्राप्त करने की लालसा रखता है वह कुछ भी परिग्रह न होने पर भी साधु नहीं कहला सकता, और एक रोगी व्यक्ति जो न भोजन को पचा सकता है और न भोगों को भोग सकता है पर उन्हें भोगने की इच्छा रखता है वह भोगों को भोग न सकने के कारण उनका त्यागी नहीं कहलाता है।

श्री भर्तृहरि ने एक श्लोक में कहा है—

क्षातं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः,
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शंभोः पदं,
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम्॥

कितनी यथार्थ और शिक्षाप्रद चेतावनी है कि—क्षमा तो हमने किसी को किया किन्तु धर्म के खयाल से नहीं किया। घर के सुखों का त्याग किया पर संतोष से उन्हें नहीं त्यागा। हमने शीत, ग्रीष्म आदि प्राकृतिक परिषहों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को सहा किन्तु तप के निमित्त से नहीं वरन् निर्धनता के कारण सहा। हमने ध्यान भी किया किन्तु परमात्मा का नहीं वरन् धन-वैभव, स्त्री-पुत्र एवं विषय-सुख के ध्यान में ही अहर्निशि निमग्न रहे। इस प्रकार हमने कार्य तो सब मुनियों के समान किये, किन्तु उनके द्वारा मुनियों को जैसे फल प्राप्त होते हैं, वे फल हमें नहीं मिले हम सदा उनसे वंचित ही रहे।

आप समझ गए होंगे बंधुओ कि मुनियों या त्यागियों के समान त्याग होने पर भी उनका शुभ फल क्यों नहीं मिलता ?

इसीलिये कि, त्यागी वे कहलाते हैं जो शक्ति और सामर्थ्य होते हुए भी विषयों का त्याग करते हैं। वे त्यागी नहीं कहलाते हैं जो शक्ति-हीनता के कारण उन्हें छोड़ते हैं क्योंकि वे मन से नहीं अपितु लाचारी के कारण उन्हें छोड़ते हैं। इसी प्रकार निर्धनता के कारण हजारों कष्ट उठाने पर भी उनका कष्ट सहना तप नहीं कहलाता और न ही वह कर्मों की निर्जरा का कारण बन सकता है। कर्मों की निर्जरा तभी होती है जबकि इन समस्त सांसारिक सुखों और भोग विलासों को सामर्थ्य होने पर भी अनिष्टकारी समझकर स्वेच्छा से त्यागा जाय, धन के होने पर भी उसे पाप का मूल मानकर उसके प्रति रही हुई तृष्णा को नष्ट कर दिया, संयोग होने पर भी सर्दी, गर्मी, भूख एवं प्यास आदि के परिषहों को तप की दृष्टि से सहन किया जाय।

जो साधक ऐसा करता है वह अपने इस अमूल्य जीवन को सार्थक बना सकता है। शुभ विचारों का जीवन में बड़ा प्रभाव पड़ता है और विचार शुभ तभी होते हैं जब मनुष्य कषायों को जीत लेता है। कषायों को जीत लेने वाला साधु-पुरुष समग्र विश्व को आनन्दमय मानता है और इसके विपरीत-कषायों के कारण दूषित विचार वाला व्यक्ति जगत को दुःखमय समझता है।

फारसी के एक विचारक का कथन है—जिसका भाव है कि—

जिस मनुष्य के दिल के भाव बुरे हैं उसे समस्त जगत दुखमय प्रतीत होता है, किन्तु यदि उसके भावों में पवित्रता है तो उसे सारा जगत प्रसन्नता से परिपूर्ण दिखाई देता है।

तो बंधुओ, हमें सदा कषायों से रहित पवित्रभावों का ही आश्रय लेना चाहिए तथा दुख को हृदय के समीप भी नहीं फटकने देना चाहिये। ऐसा करने पर ही हमारा भविष्य उज्ज्वल और आनन्दमय बन सकेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

१	आनन्द-प्रवचन भाग १	मूल्य ६)
२	आनन्द-प्रवचन भाग २	६)
३	आनन्द-प्रवचन भाग ३	६)
४	आनन्द-प्रवचन भाग ४	६)
५	जैन जगत के ज्योतिर्धर : आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि	)७५
६	चित्रालंकार काव्य : एक विवेचन	१,
७	ज्ञानकुंजर दीपिका	
८	तिलोक काव्य संग्रह	
९	अमृतकाव्य संग्रह	
१०	अध्यात्म दशहरा	
११	समाज स्थिति दिग्दर्शन	
१२	चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न	
१३	श्रमण संस्कृति के प्रतीक	
१४	ऋषि संप्रदाय का इतिहास	
१५	त्रिलोक शताब्दि अभिनन्दन ग्रंथ	
१६	आनन्द वचनामृत	
१७	संस्कार (उपन्यास)	

संपर्क करें—श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाडर्थी, (अहमद नगर, महाराष्ट्र)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

- अध्यात्म दशहरा
- समाज स्थिति-दिग्दर्शन
- ज्ञान कुंजर-दीपिका
- अमृत काव्य-संग्रह
- त्रिलोक काव्य-संग्रह
- चन्द्रगुप्त के सोलहस्वप्न
- श्रमणसंस्कृति के प्रतीक
- संस्कार (उपन्यास)
- ऋषिसम्प्रदाय का इतिहास
- त्रिलोक शताब्दि अभिनन्दन ग्रन्थ
- आनन्द प्रवचन, भाग १
- आनन्द प्रवचन, भाग २
- आनन्द प्रवचन, भाग ३
- आनन्द प्रवचन, भाग ४
- जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य प्रवर श्री आनंद ऋषि
- चित्रालंकार काव्य : एक विवेचन
- भावना योग : एक अनुशीलन
- तीर्थंकर महावीर
- आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ

प्राप्तिकेन्द्र

श्री [illegible]कालय

[illegible]महाराष्ट्र)

Serving JinShasan
020147
gyanmandir@kobatirth.org